

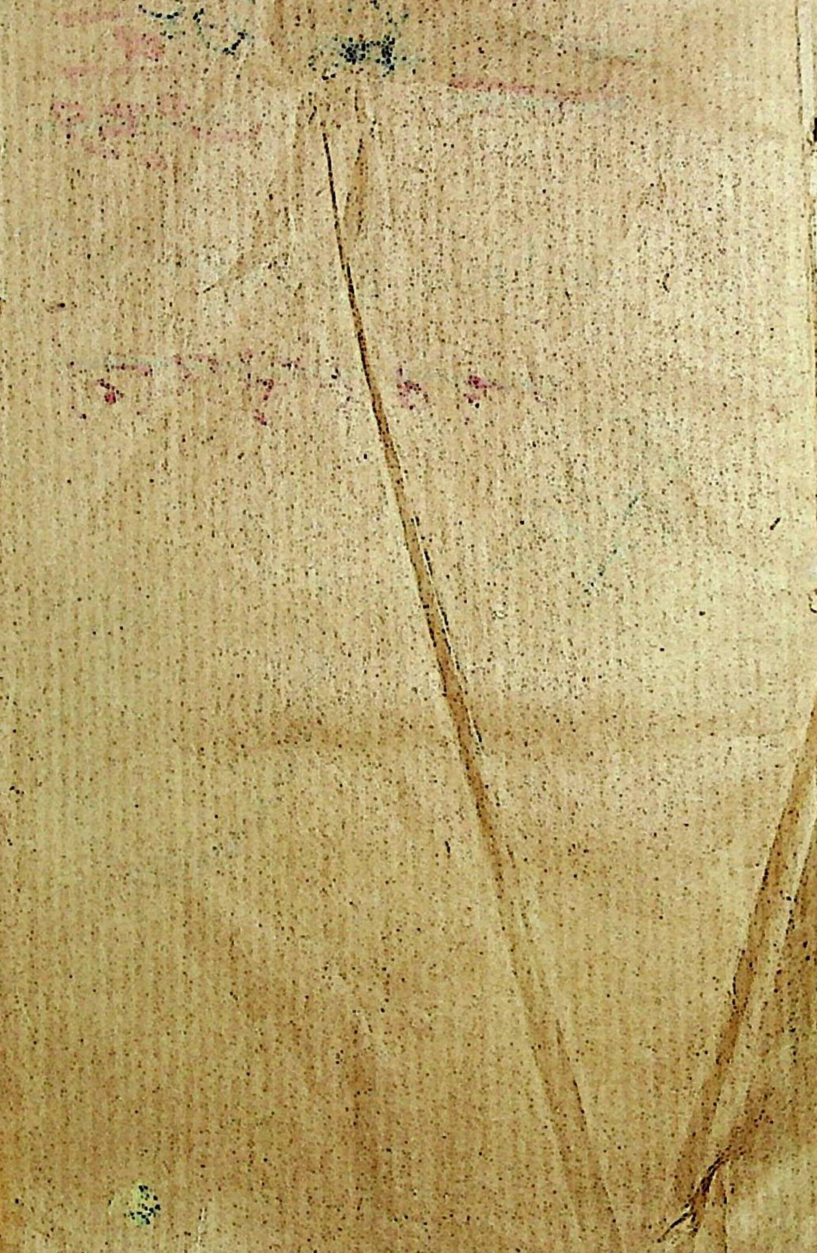
पा
१९८८

व
२७४

श्री १०८ ईश्वरभट्ट-पुस्तकालय

चित्त संबोधन





फ्र
2456

ॐ तत्सत् श्रीहरिर्जयति

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

भगवत्प्रसाद

अर्थात्

उपदेशामृत, भागवतसारस्तव, भागवतसदुक्तियाँ प्रातः-स्मरणस्तोत्र, चतुश्लोकी, षट्पदी, दशमानव-धर्म, कीर्तन, भजन, शान्ति-पाठ, आदि का अमूल्य संग्रह



प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । (गीता)

संग्रहकर्ता—स्वामी कैवल्यानन्द सरस्वती
संशोधक—स्वामी मंगलचैतन्यगिरि

प्रकाशक—श्रीमान् सेठ ठा० मथुरादास पुरुषोत्तम कंचराणी, कच्छ माण्डवी
मूल्य—सदुपयोग, श्रद्धा प्रेम से पाठ करना

सद्गुरु की महिमा

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

गुरु बिनु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होय बिराग बिनु ।
गावहिं वेद पुरान सुख कि लहहिं हरिभक्ति बिनु ॥

श्रीकृष्ण-महिमा

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
वृन्दारकाधिपतिमुज्ज्वलकान्तिकान्तं,
शान्तं प्रशान्तजनसेव्यमशेषनाथम् ।
सौन्दर्यसौष्ठवसुमार्दवसारसिन्धुं,
कृष्णं स्मरामि सततं करुणार्द्रमूर्तिम् ॥

श्रीराम-प्रार्थना

नान्यस्पृहा रघुपते ! हृदयेऽस्मदीये,
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव ! निर्भरां मे,
कामादिदोषरहितं कुरु मानसञ्च ॥

वार वार वर मांगहूँ हर्षी देहु श्रीरंग ।
पदसरोज अनपायिनी भक्ति सदासत्संग ॥

॥ श्री विश्वनाथो विजयतेतराम् ॥

"अद्वैते प्रथितं समीक्ष्य रुचिरे वैज्ञानिकैरर्चितम्,
शिष्यैः साधुभिराश्रितं नमसितं सुज्ञैर्मुनीन्द्रैरपि ।
स्रग्भस्मादि विभूषितं गुणनिधिं संख्यावतां सद्गुरुं,
तं वंदे सततं महेश्वरयतिं सच्चित्सुखं देशिकम् ॥"



हरिद्वार वास्तव्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य दार्शनिक
सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड-वेदान्तवागीश
श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर

ठि०—स्वा० सुरतगिरिजी का बंगला गिरीशानन्दाश्रम
कनखल, जि०—सहारनपुर (यू० पी०)

त्वमर्कस्त्वमग्निस्त्वमिन्दुस्त्वमापः,
त्वमाकाशभूवायवस्त्वं चिदात्मा।
त्वदन्यो न कश्चित्प्रकाशोऽस्ति सर्वं,
सदानन्दसंवित्स्वरूपं तवेदम्॥

हरिरेव गुरुर्गुरुरेव हरिः,
हरिरेव जगज्जगदेव हरिः।
हरिरेव वयं वयमेव हरिः,
न भिदास्ति मनाक् न भिदास्ति मनाक्॥

ॐ श्रीहरिः

भगवत्प्रसादः

यज्जिज्ञासा यज्ञदानादिभिः स्यात्,
श्रुत्या मत्या चिन्तया यत्प्रबोधः।
यस्मिन् बुद्धे बाध्यतेऽनर्थमूलं,
तं भूमानं भावये स्वस्वरूपम्॥

नान्यो देवः स्वप्रकाशात्प्रतीचो,
नान्यो मन्त्रो वेदसारैकवर्णात्।
नान्यः पन्था मुक्तये तत्त्वबोधात्,
नान्यत् कार्यं सर्वसङ्कल्पहानात्॥

भज भज शङ्करदेवं, त्यज त्यज तृष्णां दुरत्ययां विषये।
इच्छसि भवमुक्तिं चेत्स्वान्तं शम्भौ सदाऽऽधत्स्व॥

ये धर्महीना न नराः खरास्ते,
ये धर्मशीला न नराः सुरास्ते।
ये ज्ञानहीना हि नपुंसकास्ते,
ये ज्ञानभाजो न नरा हरास्ते॥

इस "भगवत्प्रसाद" के सन्त-महात्मा एवं धर्म-प्रेमी भक्तों में विना मूल्य वितरण करने के लिए छपाने का खर्च धर्मपरायण प्रभुप्रेमी कच्छ-मांडवी-के ठा० श्रीमान् मथुरादास पुरुषोत्तम कचराणी मोम्बासा वालों ने दिया है। भगवान् श्रीविश्वनाथ उनका सभी प्रकार का अभ्युदय करें।

विनिवर्त्य रतिं विषये विषमां,
परिमुच्य शरीरनिबद्धमतिम्।
परमात्मपदे भव नित्यरतो,
जहि मोहमयं भ्रममात्मरतेः॥

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः।
गंगाऽप्याह कदाऽऽगत्य मामयं पावयिष्यति॥

मंगलाचरणम्

ॐ नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥ १ ॥

चराचरजगत के परम कारणरूप तुझ सद्रूप परमात्मा को नमस्कार है, समस्त चतुर्दश लोकों के आश्रयरूप तुझ चिद्रूप भगवान् को नमस्कार है, मोक्ष देनेवाले—अद्वैततत्त्वरूप तुझ पूर्ण पुरुषोत्तम को नमस्कार है, सदा शाश्वत—एकरस व्यापक शुद्धब्रह्म को नमस्कार है ।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं,
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृप्रहर्तृ,
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥ २ ॥

हे आनन्दनिधे ! विश्वात्मन् ! एकमात्र तू ही शरण्य है अर्थात् शरणग्रहण करने योग्य है, एक मात्र तू ही वरेण्य है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तू ही वरण करने योग्य है, हे प्रभो ! तू ही एक-मात्र जगत् का पालन करनेवाला स्वप्रकाश देवाधिदेव है, हे अन्त-र्यामिन् नारायण ! एकमात्र तू ही इस जगत् का सृष्टिकर्ता, रक्षाकर्ता एवं संहारकर्ता है, और एकमात्र तू ही सदा निश्चल—निर्विकल्प शान्त शुद्ध परब्रह्म है ।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां,
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।

महोच्चैःपदानां नियन्तृ त्वमेकं,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ ३॥

हे भगवन् ! तू समस्त भयों को भी भय देने वाला अर्थात् तू ही भक्तों के भयों का भगानेवाला है, और तू भयंकर—पदार्थों के मध्य में परम भयंकर हैं अर्थात् मृत्यु आ भयंकर पदार्थ भी तुझ परम भयंकर के भय से भीत हुए स तेरे वशवर्ती रहते हैं। हे नाथ ! तू ही सकल प्राणियों परमगति है, पवित्र पदार्थों के मध्य में एकमात्र तू ही परम पवि है अर्थात् समस्त पदार्थों को पवित्र बनाने वाला पवित्रों का पवित्र एकमात्र तू ही है, और श्रेष्ठ—महान् ब्रह्मलोकादिस्था का भी एकमात्र तू ही नियामक है, और तू ही परात्पर, रक्ष का भी रक्षक है।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं,
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥ ४॥

इसलिए हे भगवन् ! हम सदा एकमात्र आपका ही स्मर करते हैं, एकमात्र आपका ही हम भजन करते हैं और जगत साक्षीरूप आपको ही हम नमस्कार करते हैं। सदा एकरू सर्व का आश्रयरूप, अन्य आलम्बन शून्य, संसार-सागर डूबते हुए को बचाने वाले नौकारूप, शरण्य आप ईश्वर के शरण में जाते हैं।



पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी जी श्री १०८ महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर के

उपदेशामृत

(१) 'सत्यं वद' सत्य बोलो, प्रिय बोलो, कम बोलो, वाणी ो वश में रक्खो, व्यर्थ का बकवाद एवं परनिन्दा मत करो, ंसी की हँसी एवं अन्य की चुगली भी नहीं करनी चाहिए, त्य के समान धर्म नहीं है, और असत्य के समान पाप नहीं , वाणी से भगवान् के पवित्र-नामों का उच्चारण एवं गीता- पनिषद्, भागवत आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहना ाहिए, नेत्रों से रामरूप से समस्त विश्व का अवलोकन करना ाहिए यही यथार्थ सत्य है।

(२) 'ब्रह्मचर्यं रक्ष' प्रत्येक स्त्री-पुरुषों को ब्रह्मचर्य की क्षा अवश्यमेव करनी चाहिए। पुष्ट वीर्य धारण कर संयमी ना ही ब्रह्मचर्य की रक्षा है, प्राचीन समय में भारत ब्रह्मचर्य- ाक्ति से ही महान् था, यशस्वी था, एवं सभी प्रकार से समुन्नत ा, ब्रह्मचर्य ही शरीर-शक्ति, वाक्-शक्ति, विचार-शक्ति, उत्साह- ाक्ति आदि शक्तियों का एवं भगवत्स्मरण ध्यानादि अलौकिक काशों का महान् केन्द्र है। इसलिए ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करने-

वाले एवं विषयलोलुपता बढ़ानेवाले गंदे उपन्यास, नाटक, आ
आदि मत पढ़ो, एवं सीनेमा आदि के गंदे दृश्य मत देखो
परस्त्री एवं परपुरुष का सर्व प्रकार से परित्याग कर ऋतुका
में ही संतानोत्पत्ति के लिए एकवार सहवास करने वाले गृह
स्त्री-पुरुष 'ब्रह्मचारी' माने जाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी गृहस्थ
संतान बलवान्, बुद्धिमान्, यशस्वी एवं तेजस्वी होते हैं
वीर्यवान् स्त्री पुरुष ही स्वस्थ नीरोग एवं प्रसन्न रह सकते हैं
पुष्ट वीर्य के कीटाणु रोगों के सभी कीटाणुओं को नष्ट कर डाल
हैं। वीर्य-भ्रष्ट दुराचारी मनुष्य के शरीर में रोगों के कीटाणु
जाने से वह रोगी हो जाता है, शरीर शुष्क दुर्बल एवं निस्
हो जाता है, बुद्धि धैर्य एवं सद्विचार नष्ट हो जाते हैं, इस
निश्चय करो कि विवाह मजा के लिए नहीं है किन्तु प्रजा
लिए है, मजा (गन्दा-विलास) में वड़ी भारी बरवादी हि
हुई है। अतएव कहा है—

विवाहो न विलासार्थः प्रजार्थ एव केवलः।
तेजोबुद्धिबलध्वंसो विलासात्प्रभवेत्खलु॥
अत एव परित्यज्य विलासं मोहकारणम्।
संनियम्येन्द्रियाण्याशु विचारेण सुखी भवेत्॥

(३) 'धर्म चर' वैदिक सत्यसनातन धर्म का पालन क
अपने धर्म में रहो, दूसरे के धर्म का अंगीकार मत करो, अ
धर्म के लिए मर जाना कल्याणकारी है, किन्तु अन्य धर्म ह

लिए महाभयकारी है। एकमात्र धर्म ही सच्चा सहायक है। धार्मिक मनुष्य ही संसार में यश कीर्ति प्राप्त कर भगवान् का कृपापात्र होता है।

(४) **'हरिं भज'** कल का भरोसा नहीं है, काल मस्तक पर खड़ा है, जो समय गया, वह पुनः वापिस नहीं मिल सकता, इस देवदुर्लभ मनुष्य-शरीर की सफलता हरिभजन से ही है, इसलिए अभी से ही हरिभजन में लग जाना चाहिए। **'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्'**।

(५) **'स्वात्मानं विचारय'** मैं पाँचभौतिक शरीर नहीं हूँ, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों शरीरों का द्रष्टा, निर्विकार, सद्रूप, चिद्रूप, एवं आनन्दरूप हूँ, देह-इन्द्रियादि से अहंभाव के एवं स्त्री-पुत्रादि से ममभाव के परित्याग से ही आत्मविचार सफल होता है। यह देह देवालय है, साक्षात् सदाशिव भगवान् ही इसमें आत्मारूप से विराजमान हैं, इसलिए आत्मज्ञान के प्रकाश से अज्ञानरूपी निर्माल्य का परित्याग कर 'सोऽहं ब्रह्म' भाव से इसकी पूजा करनी चाहिए।

(क) गई हुई क्षण भर की आयु कोटि-सुवर्ण मुद्राएँ देने पर भी कभी कहीं से नहीं मिल सकती है। ऐसी अमूल्य एवं दुर्लभ आयु मोक्षप्राप्ति—आत्मकल्याण में न लगाकर व्यर्थ ही बरबाद कर दी तो इससे बढ़कर हानि एवं मूर्खता और क्या हो सकती है। इसलिए—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयंकाय नौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥

तूने महापुण्यरूपी कीमत से यह शरीररूपी नौका खरीदी है, इसलिए जब तक यह नष्ट न हो, तब तक इससे दुःखरूप संसार समुद्र से पार होने के लिए तर।

(ख) वही जिह्वा जिह्वा है जो भगवान् के पवित्र नामों को सदा जपती है, सत्य हित प्रिय बोलती है, नहीं तो वह एक चाम का गंदा टुकड़ा है। वे ही नेत्र नेत्र हैं, जिन्हें भगवद्दर्शन की चाह है, नहीं तो मयूरपुच्छ के समान व्यर्थ हैं। वे ही हाथ हाथ हैं, जो भगवत्पूजा संत-सेवा परोपकार आदि सत्कार्य में लगे रहते हैं, नहीं तो वे मुरदे के समान तुच्छ हैं, वही धन्य है जो भगवान् सर्वात्मा का सदा अनन्यभाव से चिन्तन करता रहता है।

कहा है:—

सा रसना ते नयने तावेव करौ स एव कृतकृत्यः।
या ये यौ यो भर्गं वदतीक्षाते सदार्चतः स्मरति॥

(ग) सत्संग विना भगवान् की महिमा नहीं जानी जाती, महिमा जाने विना भगवच्छरणागतियोग प्राप्त नहीं हो सकता, भगवच्छरणागति विना भगवत्कृपा नहीं हो सकती एवं भगवत्कृपा विना संसार से उद्धार नहीं हो सकता, इसलिए सभी साधनों का मूल कारण सत्संग ही है।

बड़े भाग पाइय सत्संगा। बिनहि प्रयास होय भवभंगा।

(घ) तुम यहाँ रोते हुए आये हो, अब ऐसा पुण्यमय साधन सम्पादन करो कि—यहाँ से हँसते हुए चल बसो। जीना भी है एवं मरना भी है, शास्त्र—महात्माओं के उपदेश से हमें यही शिक्षा लेनी है कि—हम कैसे जीवें ? एवं कैसे मरें ?

(ङ) परस्त्री से, परद्रव्य से, ईर्ष्या-द्वेष से, गन्दी वासनाओं से, बड़ाई के अभिमान से, एवं दम्भ-पाखण्ड से जब तुम बच जाओगे, तभी ही तुम मोक्ष साधनों के अधिकारी हो सकते हो।

(च) संतोष, सत्संग, विचार एवं शम, ये चार मोक्ष के द्वारपाल हैं। (१) संतोष परमधन है, तृष्णा बड़ी दरिद्रता है। जिसे संतोष है, उसे सुख-आराम है। जिसे तृष्णा है, उसे दुःख-संकट है। यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट रहने से भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवत् इच्छा से जो कुछ हुआ है होता है और होगा, वह अच्छा ही हुआ है, होता है एवं होगा ऐसा निश्चय कर सदा आनन्द-प्रसन्न रहना चाहिए। (२) सत्संग बड़ा लाभ है, सत्संग से वैराग्यादि कल्याण-साधनों की प्राप्ति होती है, सत्संग जब अमृत के समान सुस्वादु लगेगा, तभी ही संसार से मोक्ष मिलने की आशा रख सकते हैं। (३) मैं कौन हूँ ? परमात्मा कौन है ? यह जगत् क्या है ? ऐसा श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के द्वारा विचार करना चाहिए। विचार

बिना किसी को भी शान्ति नहीं मिल सकती, दृढतम-परि
विचारों से ही मन के विकारों की निवृत्ति होती है। (४) श
यानी मन के संकल्पों का निरोध। अभ्यास एवं वैराग्य
संकल्पों का निरोध होता है, इसलिए मन्त्र-जप, ध्यान, आत्
विचार आदि का अभ्यास करना चाहिए और संसार के स्त्रीपु
धनादि सभी पदार्थों में दुःख वियोग आदि दोषों के अनुसंधा
से वैराग्य प्राप्त करना चाहिए।

(छ) **'सर्वमिदमहञ्च वासुदेवः'** मैं और यह सब कु
वासुदेव ही है। **'एको देवो नारायणो न द्वितीयोऽस्ति
कश्चित्'** सर्वत्र एक नारायण-देव ही विराजमान है, अन्य कु
भी नहीं है। मैं दृश्य शरीरादि नहीं हूँ, किन्तु सर्वका द्रष्
नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, परिपूर्ण अनन्त, सच्चित्
आनन्दनिधि परब्रह्म हूँ, मैं सुख दुःखादि समस्त द्वन्द्वों से अतीत
विशुद्ध, परमशान्त, एवं पूर्ण प्रसन्न हूँ, ऐसा दृढ श्रद्धा
वारंवार चिन्तन करना चाहिए यही ब्रह्माभ्यास है, इससे मन
तमाम रागद्वेषादि विकारों की निवृत्ति हो जाती है।

श्रीगोविन्दपदारविन्दम—करन्दास्वादशुद्धाशयाः,
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः।
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमम्,
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चानन्दताम्॥

प्रातःस्मरणस्तोत्रम्

(आचार्यश्रीशङ्करभगवत्पादप्रणीतम्)

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्,
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिमवैति नित्यम्,
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसङ्घः ॥ १ ॥

समस्त चराचर भूत-प्राणियों के हृदय में स्वयं प्रकाश रूप से भासमान, सत् चित् और आनन्दरूप, ब्रह्मनिष्ठ-विरक्त-परमहंस संन्यासियों की परमगतिरूप, जो तुरीय साक्षी चेतन आत्मतत्त्व है, उसका मैं निरन्तर एकाग्रता से एवं परम श्रद्धाभक्ति से प्रातःकालमें स्मरण करता हूँ। जो स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति रूपी तीन अवस्थाओं का जाननेवाला निर्विकार द्रष्टा है, नित्य है, निष्कल, निरवयव ब्रह्म है, वही मैं हूँ। आकाशादि पाँच भूतों का अल्प समुदायरूप शरीर इन्द्रिय आदि मैं नहीं हूँ॥ १ ॥

प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यम्,
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचु-
स्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ २ ॥

जो तत्त्व मन और वाणी से जाना नहीं जाता है, किन्तु जो मन-वाणी का प्रकाशक है, उस स्वयंज्योति सर्वात्मा भगवान् को मैं प्रातःकाल में भजता हूँ। जिसके सत्तास्फूर्तिरूपी अनुग्रह

से, तमाम वाणियां प्रतीत होती हैं, यानी तमाम वाणी से उपलक्षित यावत् संसार जिसकी सत्ता से भासता है, ऋग्, यजु आदि वेदों ने जिस सर्वाधिष्ठान तत्त्व को, 'नेति नेति' वचनों से कहा है, यानी तमाम प्रपञ्च का निषेध करके परिशेषरूप से बतलाया है, उस तत्त्व को ही विरक्त विद्वान् लोग अजन्मा, अविनाशी सबसे श्रेष्ठ एवं देवों के देव महादेवरूप से प्रतिपादन करते हैं ॥ ३ ॥

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं,
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ,
रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ३ ॥

मायारूपी अन्धकार से पर, सूर्य के समान ज्योतिःस्वरूप यानी सर्व प्रकाशक, पुरुषोत्तम नाम वाले पूर्ण सनातन पद को मैं प्रातःकाल में नमस्कार करता हूँ । जिस सर्वाभिन्न सर्वाधिष्ठान तत्त्व में विद्वानों को यह चराचर जगत् रस्सी में सर्प के समान मिथ्या कल्पित मालूम हो रहा है ॥ ३ ॥

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु स गच्छेत्परमं पदम् ॥ ४ ॥

तीनों लोकों के भूषणरूप, इन पवित्र तीन श्लोकों को जो प्रातःकाल में पढ़ता है, वह ब्रह्मनिर्वाणरूपी परम पद को प्राप्त होता है ।

❀ इति प्रातःस्मरण स्तोत्रम् समाप्तम् ❀

षट्पदीस्तोत्रम्

(आचार्यश्रीशङ्करभगवत्पादप्रणीतम्)

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥ १ ॥

हे विष्णो ! व्यापकस्वरूप-परमात्मन् ! मेरा अविनय (क्षुद्र-अभिमानरूपी उद्दण्डता) दूर कीजिए, मेरे उच्छृङ्खल-मन का दमन कीजिए, और विषयों की मृगतृष्णा को शान्तकर दीजिए, प्राणियों के प्रति मेरा दयाभाव बढ़ाइए, और इस संसार-सागर से मुझे पार लगाइए ॥ १ ॥

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥

जो चरणकमल, संसार के जन्ममरणरूपी भय, एवं आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप के छेदन करनेवाले हैं, जिन चरण-कमल से श्रीभागीरथी गंगारूपी मकरन्द (कमल पुष्परस) सतत प्रवाहित होता रहता है, जिन चरणकमलों का सत्‌चित् एवं आनन्दरूपी परिमल (पुष्पों की श्रेष्ठ सुगन्ध) तमाम चतुर्दश भुवन में विस्तृत हो रही है, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति विष्णु भगवान् के चरणकमलों में मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥

यद्यपि सच्चिदानन्द दृष्टि से आप में एवं मुझ में कुछ भी भेद नहीं है, जो आप हैं सो मैं हूँ, तथापि हे नाथ ! मैं ही

आपका हूँ, आप मेरे नहीं, जैसे जलरूप से समुद्र और तरङ्ग एक ही हैं, जलदृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं माना जाता, परन्तु समुद्र और तरङ्ग दृष्टि से दोनों का कल्पित भेद भी है। जैसे समुद्र के तरङ्ग कहे जाते हैं, तरङ्गों का समुद्र नहीं कहा जाता। समुद्र के अधीन तरङ्ग होते हैं, तरङ्गों के अधीन समुद्र नहीं होता। समुद्र के गुण, कर्म, शक्ति, अनन्त हैं, तरङ्ग के गुणादिक अनन्त नहीं हैं, तद्वत् आपका ही मैं कहा जाता हूँ, आप मेरे नहीं कहे जाते। आपके अधीन मैं हूँ, आप मेरे अधीन नहीं। समष्टि एवं व्यष्टिरूपी उपाधि से आपसे मेरा कल्पित भेद है, उपाधि को छोड़ देने पर कुछ भी भेद नहीं रह जाता। समष्टि उपाधि होने से आपके गुण, कर्म, शक्ति, ज्ञान ऐश्वर्य अनन्त हैं। मुझ व्यष्टि उपाधि वाले का गुणादि अनन्त नहीं है। इसलिए मैं ही आपका हूँ ॥ ३ ॥

उद्धृतनग ! नगभिदनुज ! दनुजकुलामित्र! मित्रशशिदृष्टे ।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥

हे उद्धृतनग यानी गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले ! हे इन्द्र के छोटे भाई वामन भगवान् ! हे असुरों के कुल के शत्रु ! हे सूर्य एवं चन्द्ररूपी नेत्रवाले ! आपके यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर क्या शोक मोहमय संसार का तिरस्कार नहीं हो सकता ? अर्थात् अवश्य ही हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४ ॥

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर ! प्रतिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥

हे परमेश्वर ! आप मत्स्य, वराह आदि अनेक अवतारों को धारण कर सदा इस धराधाम की रक्षा करते आये हैं। हे भगवन् ! मैं इस असारसंसार के त्रिविध तापों से भयभीत हुआ हूँ, इसलिए आपके द्वारा इस भय से मैं अवश्य ही रक्षा करने योग्य हूँ ॥ ५ ॥

दामोदर ! गुणमन्दिर ! सुन्दरवदनारविन्द ! गोविन्द !
भवजलधिमथनमन्दर ! परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥

हे दामोदर ! कल्याण गुणों के निधान ! हे सुन्दर-मनोहर मुखकमलवाले ! हे गोविन्द ! हे संसाररूपी समुद्र के मथन करने में मन्दराचल के समान ! मेरे जन्म-मरण रूप महान् संसारभय को आप कृपया दूर कीजिए ॥ ६ ॥

नारायण ! करुणामय ! शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

हे करुणानिधान ! हे नारायण ! आपके चरणों की मैं शरण होता हूँ और यह षट्पदी (छः पदों की स्तुतिरूपिणी भ्रमरी) स्तोत्र, मेरे मुखकमल में सदा निवास करे ॥ ७ ॥

❀ इति षट्पदी स्तोत्रं समाप्तम् ❀

श्रीमद्भागवतस्तवसारामृतम्

ॐजन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वरा
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १
(भा० १-१-१)

जो परमात्मा समस्त कार्यकारणात्मक जगत् में अन्वय ए व्यतिरेक दृष्टि से व्यापक हैं अर्थात् जिसकी सत्ता से सम्पूर्ण वस्तुएँ सत्तावाली होकर प्रतीत होती हैं, यह अन्व दृष्टि है, और जिसकी सत्ता के विना किसी भी पदार्थ की स सिद्ध ही नहीं हो सकती है, यह व्यतिरेक दृष्टि है। इसलि इस नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति, रक्षा, एवं संहारादि उ भगवान् से ही होते हैं, जो सर्वज्ञ तथा स्वयंप्रकाश है। औ जिस वेद के विषय में बड़े बड़े विद्वान् भी सिद्धान्त के निर्णया विवाद करते रहते हैं, उस वेद को जिसने संकल्पमात्र से ब्रह्मा के हृदय में प्रकट कर दिया। और जैसे तेज (काँच आदि) को जल, जल को स्थल एवं मरुस्थल की मि को जल समझने की मिथ्याभ्रान्ति होती है, वैसे ही जिस शु परमात्मस्वरूप में यह त्रिगुणमयी सृष्टि असत् होने पर भी स सी प्रतीत होती है, जिसके स्वयंज्योति ज्ञान के प्रभाव से छलकपट वाली माया और तत्कार्य द्वैत प्रपञ्च का सर्वथा बाध हो जाता है उस परम पारमार्थिक सत्य-ब्रह्म का हम ध्यान करते हैं।

श्रीकृष्ण ! कृष्णसख ! वृष्ण्यृषभावनिध्रुग् ,
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य !
गोविन्द ! गोद्विजसुरार्तिहरावतार !
योगेश्वराखिलगुरो ! भगवन्नमस्ते ॥२॥

हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुन के सखा ! हे वृष्णि श्रेष्ठ ! हे पृथिवी के भार रूप राजवंशों को दग्ध करने के लिए अग्निरूप ! हे अक्षयवीर्य ! हे गोविन्द ! हे गोब्राह्मण और देवताओं का दुःख दूर करने के लिए अवतार लेने वाले योगेश्वर ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार है।

मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तः-
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो,
मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥
तमिममहमजं शरीरभाजां,
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं,
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥
(१।९।४१-४२)

शरशय्या पर लेटे हुए अन्त समय में भीष्म पितामह कहते हैं—अहो ! मैं कैसा भाग्यवान् हूँ कि—जिनकी राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मुनिगण और महीपालों से सुशोभित सभाभवन में अग्रपूजा हुई थी, वे ही उन सबके दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण

मेरे नेत्रों के सामने खड़े हैं। जिस प्रकार एक ही सूर्य भिन्न दृष्टियों में अलग-अलग प्रतीत होता है, उसी प्रकार जो ही अजन्मा भगवान् अपने ही रचे हुए अनेक प्राणियों के ह्र में अनेक-से प्रतीत होते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण को मैं भ्रम से रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ।

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन!
त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं,
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥
(१।११।७)

हे विश्व का पालन करने वाले! आप हमारा कल्याण कीजिये। हमारे माता, पिता, सुहृद्, स्वामी, सद्गुरु और इष्टदेव एकमात्र आप ही हैं, आपके अनुयायी शरणागत होने के कारण हम कृतार्थ हो गये हैं।

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व,
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत,
नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः॥
(२।१।३९)

जिस प्रकार स्वप्न पुरुष स्वप्न में अपने-आपको ही विभिन्न पदार्थों के रूप में देखता है, इसलिए स्वप्न के सभी पदार्थ एक ही पुरुष रूप हैं, उसी प्रकार समस्त बुद्धि वृत्तियों के द्वा

नुभव होने वाले सम्पूर्ण पदार्थ भगवद्रूप ही हैं। अतः एक-त्र उन सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान् का ही भजन करना हिए, किसी अन्य पदार्थ में आसक्त न होना चाहिए, क्योंकि वान् के सिवा अन्यत्र आसक्ति करने से आत्मा का अधःपतन ता है।

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे,
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना—
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥

जो भगवान् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और लय रूप, लीला लिए सत्त्व, रज और तमरूप तीन शक्तियों का आश्रय कर ा, विष्णु और महेश ये तीन रूप धारण करते हैं, तथा जो स्त प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से विराजमान उन महामहिम अलक्ष्यगति परम पुरुष को नमस्कार है।

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसंभवायाखिलसत्त्वमूर्तये।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे,
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥
(२।४।१३)

जो भगवान् सत्पुरुषों के पापदुःखमय संसार के छेदन करने ले हैं, और असत्पुरुषों के अभ्युदय को रोकने वाले हैं, तथा परमहंस-आश्रम में स्थित महापुरुषों को उनका ध्येय ब्रह्मज्ञान

देते हैं, उन निखिल सत्त्वमूर्ति भगवान् को बारंबार नमस्का

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां,
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा,
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥
(२।५।१४)

जो भक्तजनों की रक्षा करने वाले हैं, और कुमार्गि दृष्टिपथ से दूर हैं, जिनके समान अथवा जिनसे अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है, तथा जो उस ऐश्वर्य से अपने धाम में रमण करते हैं, उन श्रीहरि को बारंबार नमस्कार है

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं,
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं,
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(२।५।१५)

जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और तत्काल मनुष्यों के पापों को नष्ट कर देता है, उन पुण्य भगवान् को बारंबार नमस्कार है।

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां,
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥
(२।५।२०)

जो लक्ष्मी के पति, यज्ञों के पति, प्रजाओं के पति, सबकी द्धियों के पति (साक्षी) समस्त लोकों के पति, पृथ्वी के पति, था अन्धक और वृष्णिवंशी यादवों के पति एवं गति हैं, वे त्पुरुषों के पति भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्-
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥
(४।९।६)

जो सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीहरि मेरे अन्तःकरण में आत्मरूप से वेश कर अपने स्वयं प्रकाश तेज से मेरी सोयी हुई वाणी को जीव (सचेतन) करते हैं, तथा कर, चरण, कर्ण और त्वचा प्रादि अन्य इन्द्रियों को भी चैतन्य प्रदान करते हैं, उन आप भगवान् पुरुषोत्तम को प्रणाम है।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या,
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वाऽनुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु,
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥
(४।९।७)

हे भगवन्! आप एक ही अपनी अनन्त गुणमयी माया शक्ति से इस महदादि सम्पूर्ण जगत् को रचकर इन्द्रियादि असत् गुणों में जीवरूप से अनुप्रविष्ट हो इस प्रकार अनेकवत्

भासते हैं, जैसे नाना प्रकार के काष्ठ में अनुप्रविष्ट हुआ अपनी उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से भासता है।

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा,
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या,
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥
(४।९।१

हे प्रभो! आप देहेन्द्रियादि-अनात्मपदार्थों से पृथक् पुरुषोत्तम हैं, और आप नित्यमुक्त, नित्यशुद्ध, चेतन, आ निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्यसम्पन्न, तीनों लोकों के स्व और अपनी दृष्टि से बुद्धि की अवस्थाओं को अखण्ड रू देखने वाले हैं, संसार की स्थिति के लिए ही आप यज्ञ श्रीविष्णु भगवान् के रूप से स्थित हैं।

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥
(४।२१।३

भगवान् के चरणमूल का आश्रय लेने वाला पुरुष सम् मनोमल (रागद्वेषादि) से मुक्त होकर और असंगता के से विशेष आत्म-बल प्राप्त कर फिर इस दुःखमय जन्ममरण संसारचक्र में नहीं पड़ता।

तत्त्वं नरेन्द्र ! जगतामथ तस्थुषां च,
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगावीः,
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥
यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति,
मायाविवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं,
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥
(४ । २२ । ३७-३८)

हे राजन् ! जो भगवान् स्वयंप्रकाश सर्वव्यापी एवं बुद्धि भी अन्तर्वर्ती हैं, देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकार से ावृत, स्थावर जंगम प्राणियों के हृदय में जीव के अन्तर्यामी ूप से प्रकाशित हो रहे हैं, उन्हें तुम 'वह मैं ही हूँ' ऐसा ेश्चय से जानो। जिस परमात्मा में यह कार्य कारण रूप म्पूर्ण प्रपञ्च जो कि विवेक होने पर नहीं रहता, माला में सर्प ुद्धि के समान मिथ्या ही भासता है, उस नित्यमुक्त, अत्यन्त ुद्ध, ज्ञानस्वरूप, और स्वभाव से ही कर्म-मल-रहित भगवान् ी मैं शरण हूँ, ऐसी भावना करो।

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया,
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु,
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥
(४ । ३० । २३)

हे भगवन्! आप अपने स्वरूप में स्थित होने के का[illegible] नित्य शुद्ध और शान्त हैं, किन्तु हमारे मनरूपी निमित्त [illegible] के होने से हमें यह सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च आप ही में वृथा ही [illegible] रहा है, वास्तव में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और लय के [illegible] आप माया के गुणों को स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और मह[illegible] रूप धारण करते हैं, ऐसे आपको हम नमस्कार करते हैं।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां,
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
(५।१८।[illegible]

हे नाथ! सम्पूर्ण चराचर-विश्व का कल्याण हो, दुष्ट [illegible] अपनी कुटिलता को छोड़कर शान्त हों, समस्त प्राणी [illegible] बुद्धि से परस्पर एक दूसरे का हितचिन्तन करें, हमारा [illegible] शुभमार्ग में प्रवृत्त हो, तथा हम सबकी बुद्धि निष्काम भाव [illegible] श्रीअधोक्षज भगवान् में लगी रहे।

तमेव देवं वयमात्मदैवतं,
परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं,
स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥
(६।४।२[illegible]

जो भगवान् सबके आत्मा और परमदेव हैं, प्रकृति [illegible]

पुरुषरूप से विश्व के कारण हैं, तथा विश्व से भिन्न होकर भी विश्वरूप हैं, उन शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम शरण हैं, वे महात्मा अवश्य अपने भक्त हम लोगों का कल्याण करेंगे।

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि,
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा,
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥
(१० । १४ । २३-२४)

हे प्रभो! आप चराचर विश्व के एकमात्र आत्मा, पुराणपुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाश, अनन्त, आदि पुरुष, नित्य, अक्षर, निरन्तर सुखस्वरूप, मल-विकारहीन, परिपूर्ण अद्वितीय, उपाधि से रहित और अमृतरूप हैं। उपर्युक्त महिमा से युक्त आप परमात्मा को जो लोग समस्त प्राणियों का आत्मा समझकर सूर्यरूप-ब्रह्मनिष्ठ गुरु से प्राप्त हुए ज्ञान नेत्रों द्वारा पूर्णानन्दात्मा रूप से देखते हैं, वे मानों इस असत्-संसार सागर को पार कर जाते हैं।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजितरुचिलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।

व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं,
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि।
(१२ । १२ । ६८

जिन्होंने चित्त के आत्मानन्द में डूब जाने से भेद-भाव
सर्वथा त्याग दिया था, तो भी भगवान् की ललाम लीला
से जिनकी आत्मानन्दजनित स्थिरता आकर्षित हो गयी, औ
लोगों पर अनुग्रह करके जिन्होंने अपने उपदेश द्वारा परमार्थ
प्रकाशक भागवत-पुराण का पसार किया, उन सर्वपापापहारी
व्यासनन्दन अवधूतशिरोमणि श्रीशुकदेव जी को मैं नमस्कार
करता हूँ।

श्रीमद्भागवत की सूक्तियाँ

अन्तःकरण-शुद्धि एवं शान्ति के साधन

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां,
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे,
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥
(१० । १० । ३८)

हे प्रभो! हमारी वाणी आपके गुणानुवाद में, कान कथा
श्रवण में, हाथ आपकी परिचर्या (सेवा) में, मन आपके चरण
कमलों के चिन्तन में, शिर आपके निवास स्थान सम्पूर्ण जगत

को प्रणाम करने में, और नेत्र आपके विग्रह रूप साधु-महात्माओं के दर्शन करने में लगे रहें, ऐसी आप कृपा करें।

देवी कुन्ती भगवान् से वरदान माँगती है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो !
भवतो दर्शनंयत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
(१ । ८ । २५)

हे जगद्गुरो ! हमारे ऊपर सर्वदा पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे कि हमें फिर संसार की प्राप्ति न कराने वाला आपका दुर्लभ—पवित्र दर्शन मिलता रहे। क्योंकि विपत्तिआने पर संसार से मन उपरत होता है, और आपके ही चिन्तन में दृढ़ता से लग जाता है, जिससे आपका संसार-दुःखविच्छेदक साक्षात्कार हो जाता है।

गोकर्ण अपने पिता को उपदेश देता है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं,
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं,
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्,
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा,
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥
(भा० माहात्म्य० ४ । ७९-८०)

पिताजी ! आप इस हड्डी, मांस और रुधिर के संघातरूप-गंदे शरीर में (मैंपनका) अभिमान छोड़ दीजिये और स्त्री-पुत्रादि में मेरापन का भाव त्याग दीजिये, इस जगत् को अहर्निश क्षण-भङ्गुर देखिये, और एकमात्र वैराग्य रूप रस के ही रसिक होकर सर्वदा भक्तिपरायण हो जाइये। और सदा भगवद्भजनरूप धर्म का ही आश्रय लीजिये, लौकिक धर्मों को छोड़ दीजिये, साधु-पुरुषों की सेवा कीजिये, भोगों की लालसा का त्याग कीजिये, तथा शीघ्र ही दूसरों के गुण दोषों का चिन्तन करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और कथा का रसपान कीजिये।

दत्तात्रेय अवधूत कहता है—

मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥
(११।९।११)

(मैंने बाण बनाने वाले से यह शिक्षा ली है कि—) वैराग्य और अभ्यास के द्वारा निरालस्य स्वभाव से आसन और श्वास को जीतकर अपने वश में किये हुए चित्त को एक ही लक्ष्य—परमात्मा में लगा दे।

सत्संग का महत्त्व

भगवान् उद्धवजी से कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(११। १२। १-२)

हे उद्धव ! सर्वसंग (आसक्ति) निवारक सत्संग के द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम, किसी साधन से नही होता।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥
(११। २६। ३२-३४)

इस भयङ्कर संसार-सागर में डूबने-उतराने (नीची-ऊँची योनियों में जन्म लेने) वाले पुरुषों के लिए ब्रह्मवेत्ता और शान्त-चित्त साधु जन ही परम अवलम्ब हैं, जैसे जल में डूबते हुओं के लिये नौका। आकाश में उदय हुआ सूर्य मनुष्य को केवल बाह्य नेत्र देता है, किन्तु सन्त जन उसे ज्ञान रूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं, अतः सन्तजन देवता और बन्धुरूप हैं, तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं।

अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः।
मनुष्यों को साधुसमागम ही परम लाभ है।

दुर्लभो मानुषो देहो, देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये, वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

जीव को प्रथम तो यह क्षणभंगुर मनुष्य शरीर ही मिलना दुर्लभ है, क्योंकि यही मोक्ष का द्वार है, और उसमें भी भगवद्भक्तों का दर्शन मिलना तो मैं और भी विशेष दुर्लभ समझता हूँ।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यात्,
न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥
(५।५।१८)

संसार के मृत्यु आदि कष्टों से जो छुड़ा नहीं सकता है, वह गुरु गुरु नहीं हो सकता है स्वजन स्वजन नहीं हो सकता, पिता, पिता नहीं हो सकता, माता माता नहीं हो सकती, देव देव नहीं हो सकता, पति पति नहीं हो सकता, अर्थात् मृत्यु आदि संकटों से छुड़ानेवाला ही गुरु, स्वजन, पिता, माता, देव, पति, आदि सब कुछ है।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥
(५।५।२)

महापुरुषों की सेवा को ही मुक्ति का द्वार कहा है, तथा स्त्री-संगियो का संग ही नरक का द्वार है, और महापुरुष वे ही हैं—जो समानचित्त, शान्तस्वभाव, क्रोधहीन सबके सुहृद् और सदाचार सम्पन्न हों।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(१ । १८ । १३)

भगवान् के प्रेमी भक्तों का एक क्षण भी सङ्ग करने से जो सुख मिलता है, उसके साथ हम स्वर्ग, और मोक्ष के सुख की भी तुलना नहीं कर सकते, फिर मर्त्यलोक के सुखों की बात ही क्या है ?

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥
(५ । १२ । १३)

महापुरुष सन्तों के समाज में पवित्र कीर्ति श्रीहरि के गुणों की विषयवार्ताओं को दूर करनेवाली चर्चा होती है, उसका नित्य प्रति सेवन करने से वह भगवत्कथा मोक्षाकांक्षी पुरुष की शुद्ध बुद्धि को भगवान् वासुदेव की ओर प्रवृत्त कर देती है ।

भगवत् शरणागति स्वरूप

अहं हरे ! तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते,
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥

वृत्रासुर भगवान् को प्रत्यक्ष देखकर भगवान् से प्रार्थना करने लगा—हे हरे ! जिन्हें आपके चरण कमलों का ही आश्रय है, मैं फिर भी आपके उन दासों का ही दास होऊँ । मेरा मन

आप प्राणनाथ के गुणों का ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आ
का गुणगान करे और शरीर आपही का कार्य करे।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मुझे आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्म
सार्वभौम, साम्राज्य, रसातल का आधिपत्य योगसिद्धि अथ
अपुनर्भव (मोक्ष) आदि किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं है।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष ! दिदृक्षते त्वाम्॥
(भा० ६। ११। २४-२५-२

हे कमल-नयन ! जिनके पङ्ख नहीं जमे हैं, वे पक्षियों
बच्चे जैसे माता की प्रतीक्षा करते हैं, भूख से पीड़ित बछड़े
माता का दूध पीने के लिए उत्सुक रहते हैं, तथा जैसे वि
व्यथित कामिनी अपने प्रवासी प्रियतम की राह देखती है, उ
प्रकार मेरा मन आपकी झाँकी करना चाहता है।

ममोत्तमश्लोक जनेषु सख्यं,
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।

त्वन्माययात्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ! भूयात्॥
(६।११।२७)

हे भगवन्! यदि प्रारब्ध वश मुझे संसार चक्र में भ्रमण करना पड़े तो सर्वदा पवित्र कीर्तिवाले आप परमेश्वर के भक्तों में ही मेरी प्रीति रहे, किन्तु आपकी विश्वमोहिनी माया से मोहित रहने के कारण पुत्र, कलत्र, और गृह आदि में आसक्त रहने वाले संसारी मनुष्यों में मेरा प्रेम न हो।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा,
बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै,
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(११।२।३६)

धर्म-निष्ठ मनुष्य को चाहिए कि—शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार से अथवा अनुगत स्वभाव से जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायण के ही लिए है—इस प्रकार समर्पण कर दे।

श्रीकृष्ण सुदामाजी से कहते हैं—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
(१०।८१।३)

भक्तगण मुझे प्रेम पूर्वक यदि थोड़ी-सी वस्तु भी देते हैं, तो

वही मेरी दृष्टि में बहुत है, किन्तु अभक्तों की बहुत सी ...री मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।

ब्रह्मात्मज्ञान का स्वरूप

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावै र्भगवानेक ईयते॥
(३।३२।...

कपिलदेव देवहूती-माता से कहते हैं—हे जननि! वह ... स्वरूप एक पदार्थ ही दृश्य आदि अनेक भावों से प्रकट हो... है। वही उपनिषदों में परब्रह्म, योग शास्त्र में परमात्मा-ई... सांख्यशास्त्र में पुरुष और भक्ति-शास्त्र में भगवान् ...ो जाता है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(१।२।...

तत्त्ववेत्ता लोग अद्वितीय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं, ... ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि नामों से कहा जाता है।...

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम्॥
(१।३।...

जिस आत्मा में अविद्या से आरोपित किये गये ये सत् (... प्रपञ्च) और असत् (अमूर्त प्रपञ्च) दोनों व्यक्ताव्यक्तरूप ...

रीय अवस्था में आत्मज्ञान के द्वारा बाधित हो जाते हैं, वही ह्म दर्शन है।

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
(५।१२।११)

जो विशुद्ध विज्ञान स्वरूप, अद्वितीय, भीतर बाहर के भेद रहित, व्यापक और प्रत्यगात्मरूप से अन्तर्निहित है, वही शान्त परमार्थ सत्य है, उसी का नाम 'भगवान्' है, और उसी को पण्डित जन 'वासुदेव' कहते हैं।

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥
(४।७।५३)

जिस प्रकार पुरुष अपने शिर और हाथ आदि अंगों में कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त सभी प्राणियों में एवं सभी देवताओं में अन्य-भेद बुद्धि नहीं करता, किन्तु ब्रह्मात्म बुद्धि करता है।

यथा ह्यवहितो वह्नि र्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥
(१।२।३२)

जिसप्रकार अपने आश्रयभूत लकड़ियों में रहने वाला

एक ही अग्नि उन (लकड़ियों) के भेद से अनेक रूप-सा
होता है, उसी प्रकार अनेक प्राणियों में व्याप्त हुए ए
विश्वात्मा भगवान् अविद्या से अनेक-से प्रतीत होते हैं।

एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम्॥

(११ । २ । ३

वे नवयोगीश्वर सत् (व्यक्त) और असत् (अव्यक्त
रूप सम्पूर्ण चराचर विश्व को अपने आत्मा से अभिन्न आ
द्रूप देखते हुए पृथिवी पर विचरते थे।

वैराग्य का स्वरूप

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥

(११ । १० ।

जिस प्रकार वधस्थान (फाँसी) पर ले जाते हुए
मनुष्य को मिष्टान्न और माला चन्दन आदि कोई भी भोग्य
सुखी-सन्तुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार जो अपने शरीर
मृत्यु के समीप समझकर भगवच्चिन्तन करता है, उसे कौ
सुख सामग्री अथवा काम्य वस्तु प्रसन्न कर सकती है।

प्रह्लाद अपने पिता से कहता है—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य ! देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।

हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥
(७।५।५)

हे दैत्य श्रेष्ठ ! अहंता-ममतारूप असदभिनिवेश से जिनकी बुद्धि सदा उद्विग्न रहती है, उन प्राणियों के लिए मैं यही अच्छा समझता हूँ कि—आत्म-पतन के हेतु जो स्त्री-पुत्र धनादि संयुक्त गृहरूप अन्ध कूप है, उन्हें त्याग कर वन में जाकर श्रीहरि का आश्रय ग्रहण कर उन्हीं का अनन्य-भाव से चिन्तन करे।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११।२।५३)

त्रिभुवन के राज्य-वैभव के लिए भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, भगवान् में ही मन लगाये रखने वाले देवता आदि भी जिन्हें खोजा करते हैं, उन भगवच्चरणारविन्दों की सेवा से, ध्यान से जो आधेक्षण-आधेपल के लिए भी विचलित नहीं होता वह भगवद्भक्तों में अग्रगण्य है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं,
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥
(११।२०।१७)

यह मनुष्य शरीर आद्य-अर्थात् समस्त अभ्युदय निःश्रे
रूप शुभ फलों की प्राप्ति का आदि कारण है। यह पुण्यशाि
के लिए सुलभ है, और पापियों के लिए अतिदुर्लभ है, सं
सागर से पार होने के लिए सुदृढ़ नौकारूप है, गुरु ही इ
कर्णधार हैं, तथा अनुकूल वायुरूप मेरे अनुग्रह द्वारा ही प्रे
होकर यह नौका पार-परमधाम तक पहुँचादेती है—ऐसे
शरीर को पाकर भी जो पुरुष संसार-समुद्र से पार नहीं हो
वह आत्मघाती ही है।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते, स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥
(११। १७। ५

यह पुत्र, स्त्री, और कुटुम्बादि का संयोग प्याऊ पर इ
हुए पथिकों के संयोग के समान आगमा पायी है, ये सब सम
अपने शरीर के साथ ही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्रा
समाप्ति तक ही रहता है।

नेह चात्यन्तसंवासः, कर्हिचित्केनचित्सह।
राजन् स्वेनापि देहेन, किमु जायात्मजादिभिः॥
(१० । ४९ । २०

अक्रूरजी धृतराष्ट्र से कहता है—हे राजन्! यहाँ कभी
कोई किसी के साथ बहुत दिन तक नहीं रह सकता, स
पुत्रादि की तो कौन कहे? अपने शरीर का संग भी सदा
रहता, इसलिए तुम इन क्षण भङ्गुर पदार्थों से स्नेह का त्याग करो

सच्चा कर्म एवं सच्ची विद्या क्या है ?

एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान्स्वाश्रयः परः ।
तमदृष्ट्वाऽभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥
(६ । ५ । १२)

जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं का साक्षी तुरीय आत्मा रूप, अपने ही आश्रय रहने वाला, तथा प्रकृति आदि से अतीत, एक ही ईश्वर है, उस नित्यमुक्त-पूर्ण परमात्मा का साक्षात्कार किये बिना पुरुष को अन्य असत् कर्मों से क्या लाभ है ?

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यथा ।
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ॥
(४ । २६ । ४६)

कर्म वही है, जिससे श्रीहरि को सन्तुष्ट किया जा सके, और विद्या भी वही है, जिससे चित्त भगवन्मय होकर भगवान् में स्थिर रहे । श्रीहरि सम्पूर्ण देह-धारियों के आत्मा, नियामक और स्वयं अभिन्न-निमित्त उपादान कारण हैं ।

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो,
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं,
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(७ । ६ । ११)

भगवान् आत्म-लाभ से ही सदा पूर्ण हैं—तृप्त हैं वे अज्ञ क्षुद्र-पुरुषों से पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं रखते, वे केवल करुणावश ही अपने भक्तों द्वारा की हुई पूजा, सेवा आदि को

स्वीकार कर लेते हैं, इससे उन उपासक-भक्तों का ही ला
जिस प्रकार अपने मुख की शोभा दर्पणादि में प्रतीत होने
प्रतिबिम्ब को भी सुशोभित करती है, उसी प्रकार भक्त भ
के प्रति जो जो मान प्रदर्शित करता है, वह भगवत्प्रतिबि
उस भक्त को ही प्राप्त होता है।

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥

(८ । ५ ।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने से उसके स्कन्ध
शाखा आदि का भी सिञ्चन हो जाता है, उसी प्रकार श्री
भगवान् की आराधना से सम्पूर्ण देवताओं की तथा
आत्मा की भी आराधना हो जाती है।

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥

(४ । ३१ ।

नारद जी कहते है—हे राजाओ ! इस लोक में जिनके
सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता है, मनुष्यों
वे ही जन्म, कर्म, आयु, मन और वचन सफल हैं।

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

(४ । ३१ । १

वे जनार्दन भगवान् सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने से,

कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहने से तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम हो जाने से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं।

भगवान् की दिव्यलीला

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण, साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥
(१०।१२।११)

जो भगवान् तत्त्वज्ञानी सत्पुरुषों के लिए ब्रह्मानन्दानुभव रूप हैं, दास्यभाव को प्राप्त भक्त जनों के लिए परदेवतारूप हैं, और मायामोहितपुरुषों के लिए मनुष्य बालक रूप हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्र के साथ वे बड़भागी गोपकुमार सुखपूर्वक क्रीड़ा करते थे।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः॥
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥
(१०।४३।१७)

बलरामजी के साथ रङ्गभूमि में पधारे हुए श्रीहरि, मल्लों को वज्र, मनुष्यों को नरश्रेष्ठ, स्त्रियों को साक्षात् कामदेव, गोपगण को स्वजन, दुष्टराजाओं को अपने शासक, पिता माता को बालक, कंस को मृत्यु, अज्ञानियों को विराट्, योगियों को परम तत्त्व, और वृष्णिवंशी यादवों को इष्टदेव के समान दिखलाई पड़े अर्थात् भिन्न-भिन्न अधिकारियों की दृष्टि से एक ही समय में श्रीकृष्ण क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर,

वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त, और प्रेम, इन ग्यारह र
में प्रकट हुए।

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो,
धृतात्मभि र्योगिभिरप्यगम्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयंस्थितः,
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥
(१०। १२। १२

अनेक जन्म तक कष्ट सहकर अपनी इन्द्रियों और मन
संयम करने वाले योगियों को भी जिनकी चरण धूलि का प्र
होना महादुर्लभ है, वे भगवान् श्रीकृष्ण जिनकी दृष्टि के सा
साक्षात् विद्यमान रहते थे, उन व्रजवासियों के भाग्य का व
किस प्रकार किया जाय ?

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य, उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
तदहं तेऽभिधास्यामि, महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे गतिः सती॥

(२। १। ६। १०

शुकदेव जी परीक्षित् से कहते हैं—हे राजर्षे ! निर्गुण-ब्रह्म
निष्ठावान् होकर भी मैंने जिस आख्यान को भगवान् पुण्य श्लो
की लीलाओं से आकर्षित होकर पढ़ा था, वही मैं तुम्हें सुना
हूँ, क्योंकि तुम महान् पुरुषार्थी हो, भगवान् की इन दि
लीलाओं में श्रद्धा करने वाले पुरुष की शीघ्र ही श्री मुकुन्द
चरण कमलों में अनन्य प्रेमवाली मति हो जाती है।

जीवन्मुक्त-ज्ञानी महापुरुष की दशा

जड़भरत रहूगण राजा से कहते हैं—

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च,
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो,
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥
(५। १०। १०)

स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, क्षुधा, तृषा, भय, कलह, च्छा, जरा (वृद्धपना) निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और ोक, ये सब धर्म देहाभिमान संयुक्त अज्ञानी में ही रहते हैं, ,झ शुद्ध-आत्मा में इनका लेश भी सम्बन्ध नहीं है।

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं,
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्,
स्वारम्भकं प्रति समीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः,
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥
(११। १३। ३६-३७)

मदिरा से उन्मत्त हुआ पुरुष जैसे अपने शरीर पर ओढ़े हुए वस्त्र के रहने या गिरने के विषय में कुछ भी नहीं जानता, वैसे ही सिद्ध-तत्त्वदर्शी महापुरुष का यह नाशवान् शरीर, दैव

(प्रारब्ध) वश बैठा हो या खड़ा हो, उसे कुछ पता नहीं है क्योंकि वह अपने वास्तविक विशुद्ध-पूर्ण स्वरूप का दृढ़ वि प्राप्त कर चुका है। जब तक देहारम्भक प्रारब्धकर्म शेष र है, तब तक यह दैवाधीन शरीर प्राणादि के सहित जीता र है, किन्तु समाधियोग में आरूढ़ हो कर परम तत्त्व का साक्षा कर लेने पर विज्ञ-पुरुष फिर स्वप्नवत् द्वैत प्रपञ्च सहित इस श का भी अनुसंधान नहीं रखता है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

(११। २८-२८)

जो ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो, अथवा किसी भी वस्तु अपेक्षा न करने वाला मेरा भक्त हो, वह आश्रमादि को उ लिङ्गों (चिन्हों) के सहित छोड़कर वेदशास्त्र के विधिनि रूप बन्धन से मुक्त होकर स्वच्छन्द-निर्भय विचरे।

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिः,
गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किन्नु दूषणं,
घनैरुपेतै र्विगतैः रवेः किम्॥

(११। २८। ३)

जिसको मेरे विशुद्ध असंग पूर्ण स्वरूप का भलीभाँति ज्ञ हो गया है, उसको गुणमयी इन्द्रियों के समाहित होने से ल क्या ? और विक्षिप्त होने से हानि क्या ? भला बादलों के आ जाने से सूर्य को क्या लाभ अथवा क्या हानि है ?

संसार का मिथ्यात्व

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥
(११ । २८ । ४)

इस मिथ्या द्वैत प्रपञ्च में शुभ अथवा अशुभ क्या है ? और कितना है ? जो कुछ वाणी से कहा जाता है अथवा मन से चिन्तन किया जाता है, वह सभी तो मिथ्या है ।

"देखिय सुनिय गुणिय मन माँही । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥"

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥
(११ । ८७ । ३७)

यह जगत् सृष्टि के पहले नहीं था, और न प्रलय के अनन्तर ही रहेगा, इसलिए यह सिद्ध होता है कि बीच में भी यह एकरस पूर्ण-अधिष्ठान-स्वरूप आप परमेश्वर में मिथ्या ही भासता है । इसीलिए इसका द्रव्यजाति (मृत्तिका लोहा आदि) और विकल्प (कार्य घट-कुण्डल आदि) की समानता से निरूपण किया जाता है । इस व्यर्थ मनोविलास जगत् को मूढ़ लोग ही सत्य मानते हैं ।

महापुरुष भगवान् की वन्दना एवं स्तुति

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं,
तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल ! भवाब्धिपोतं,
वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम्

हे शरणागतपालक ! हे महापुरुष ! हम आपके
कमलों की वन्दना करते हैं, जो सदा ध्यान करने योग्य, माद्
पराभव (मोह) को हरने वाले, वाञ्छित फल देने वाले,
स्वरूप, शिव और ब्रह्मादि से वन्दित, शरणदायक, सेवकों
दुःख दूर करने वाले एवं संसार समुद्र के लिए जहाज रूप हैं

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं,
धर्मिष्ठ ! आर्यवचसा यदगादरण्य
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावत्,
वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम्
(११ । ५ । ३३-

हे धर्मात्मन् ! हे महापुरुष ! पिता-दशरथ के वचनों
सुरगण वाञ्छित दुस्त्यज राज्य-वैभव को छोड़कर जो आप व
चले गये, तथा प्रिया-सीता जी के अभीष्ट-कपट मृग के पीछे दौ
उन आपके चरणकमलों की हम वन्दना करते हैं।

आत्मज्ञानी मुनि भगवान् की क्यों भक्ति करते हैं ?

आत्मारामाश्च मुनियो निर्ग्रन्थाअप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(१।७।१०)

सुतजी शौनक ऋषिसे बोले—जो आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिजन हैं, वे भी श्रीहरि सर्वात्मा में अभेदभावमयी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, क्योंकि श्रीहरि के आनन्दपूर्णत्वादि दिव्यगुण ही ऐसे आकर्षक हैं ।

भगवान् की विलक्षण कृपा

प्रह्लाद गुरु से कहता है—

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽह-मिति भेदगताऽसती ॥
(७।५।१२)

जब उन प्रभु का जीवों पर अनुग्रह होता है, तब उनकी मिथ्या पशुबुद्धि—'जिससे यह अन्य है, और मैं अन्य हूँ, ऐसा भेदभाव होता है—नष्ट हो जाती है ।

यस्याहमनुगृह्णामि, हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥
(१०।८८।८-९)

श्रीभगवान् ने कहा—जिस पर मैं कृपा करता हूँ,
सब मोहास्पद धन धीरे धीरे हर लेता हूँ। तब उसके
उसे निर्धन और दुःख पर दुःख उठाते देख छोड़ देते हैं।
जब बार-बार उद्योग करने पर भी वह धनसंग्रह
समर्थ नहीं होता तब धन-प्राप्ति की चेष्टा से विरक्त होकर
मेरे भक्तों से मेल करता है, उस समय मैं उस पर कृपा करता

> ब्रह्मन्! यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
> यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥
>
> (८ । २२ । २४

वामन भगवान् बोले—हे ब्रह्मन्! मैं जिसके ऊपर
करता हूँ उसका सारा धन हर लेता हूँ क्योंकि—धन
से उन्मत्त होकर पुरुष मुझ भगवान् का एवं उत्तम
भक्तों का भी तिरस्कार करने लग जाता है।

भगवान् की अनुपम-भक्तवत्सलता

> अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!
> साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तै र्भक्तजनप्रियः॥ ६३॥
> नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
> श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा॥ ६४
> ये दारागारपुत्राप्तान्, प्राणान्वित्तमिमं परम्।
> हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ ६५

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियःसत्पतिं यथा ॥ ६६ ॥
मत्सेवया प्रतीतं च, सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम् ॥ ६७ ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ ६८ ॥
(९ । ४)

दुर्वासा के प्रति श्री भगवान् बोले—हे द्विज ! मैं अस्वतन्त्र के
ान भक्तों के अधीन हूँ। उन साधु भक्तों ने मेरे हृदय पर
धकार कर लिया है, और मैं भी उन भक्तजनों को सर्वदा प्रिय
हे ब्रह्मन् जिनका मैं ही एकमात्र परम आश्रय हूँ, उन अपने
ु स्वभाव भक्तों को छोड़कर तो मैं अपने आत्मा और अन-
धनी लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करता हूँ। जो अपने स्त्री,
, गृह, प्रियप्राण, धन और इहलोक तथा परलोक को
कर मेरी ही शरण में आगये हैं, उन भक्तजनों को मैं कैसे
सकता हूँ। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने साधु पति को
में कर लेती है। उसी प्रकार जिन्होंने अपने हृदय को
में ही लगा दिया है, वे समदर्शी साधु-पुरुष मुझे अपने
ीन कर लेते हैं। मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवा से ही आस-
-तृप्त होकर उस सेवा के प्रभाव से ही प्राप्त होने वाली
ोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि, और सायुज्य नाम की चार प्रकार की
यों की भी इच्छा नहीं करते, फिर काल क्रम से नष्ट हो

जाने वाले अन्य भोगों की तो बात ही क्या है ? अधिक क्या क
वे साधु पुरुष साक्षात् मेरे हृदय हैं, और मैं उन साधुओं
हृदय हूँ, क्योंकि वे मेरे सिवा और किसी वस्तु को प्रिय
समझते और मुझे उनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु तनिक
प्रिय नहीं है।

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया-
द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य।
(१०।४८।

हे प्रभो ! आप भक्तों के हितकारी, सत्यवक्ता, सुहृद्
कृतज्ञ हैं, भला कौन बुद्धिमान् पुरुष आपके सिवा किसी
शरण में जायगा ? आप अपना भजन करने वाले प्रियभ
समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं, यहाँ तक कि जिसका
ह्रास एवं वृद्धि नहीं होता ऐसे अपने स्वरूप पूर्णानन्द
आत्मा को भी आप दे डालते हैं।

सुखी-प्रसन्न कौन है ?

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
(१०।५२।

यदि इन्द्र-पदवी पाकर भी किसी को सन्तोष नहीं हुआ
वह सुख की खोज में निरन्तर एक लोक से दूसरे

कता रहता है वह शान्ति एवं प्रसन्नता पूर्वक एक स्थान पर
हीं रह सकता किन्तु सन्तोष होने पर तो जिसके पास कुछ भी
हीं है, वह भी सब प्रकार से संताप-रहित होकर शान्त-आनन्द
व से रहता है।

विप्रान्स्वलाभसंतुष्टान् साधून्भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसाऽसकृत्॥
(१०।५।३३)

जो आत्म-लाभ में सन्तुष्ट, साधु-स्वभाव, समस्त प्राणियों
परम सुहृद्, अहंकार-हीन, और शान्त प्रसन्न स्वभाव हैं, उन
ह्मनिष्ठ-ब्राह्मणों को सदा मैं शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः, सर्वाः सुखमया दिशः॥
(११।१४।१३)

जो अकिञ्चन-निस्पृह, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि, और मेरी
ाप्ति से ही सन्तुष्ट है, उसके लिए सब दिशाएँ सुखमयी ही हैं।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(११।१४।१६)

भगवान् कहते हैं—जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, और समदर्शी
नि है, उसके पीछे-पीछे तो मैं इस दृष्टि से कि—इसकी चरणरज
मैं पवित्र हो जाऊँगा—सदा फिरता रहता हूँ।

सुख कहाँ है?

न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

देवराज इन्द्र को भी कुछ सुख नहीं है, चक्रवर्ति-रा
भी सुख नहीं है, किन्तु वीतराग, एकान्तवासी मनन
तत्त्वनिष्ठ मुनि को ही एकमात्र सुख है।

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठा स्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप!॥
(८।१६।२

हे राजन्! त्रिलोकी में जितने भी प्रियतम स्त्र्यादि विषय
सब मिलकर भी अजितेन्द्रिय पुरुषों के मनोरथों को पूर्ण
कर सकते।

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः,
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥
(७।६।४

हे प्रभो! गृहस्थ के जो मैथुनादि सुख हैं, वे खुज
समान हैं, जिस प्रकार हाथों से खुजाने पर खुजली में
क्षणभर के लिए चैन पड़ने पर भी फिर अधिकाधिक ज्वलन
दुःख ही बढ़ता है, उसी प्रकार ये मैथुनादि भोग अत्यन्त तुच्छ
दुःखों के खजाने हैं, अनेकों संकट उठाने पर भी ये दी

से तृप्त नहीं होते, किन्तु धीर-विचारशील पुरुष खुजली के
ान इन कामादि के वेगों को सहन कर लेता है।

गोपियों का भगवद्विरह

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
(१०।३१।४३)

श्रीकृष्णचन्द्र में मन लगा रहने से उन्हीं की चेष्टाओं का
ुकरण करने से और उन्हीं के ध्यान में लीन हो जाने से
पियाँ उन्हीं का गुणगान करती रहीं उन्हें अपने घरों की याद
न आई।

दयित ! दृश्यतां दिक्षु तावकाः,
त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।

हम आपकी दासियाँ—जो एकमात्र आप ही के लिए जीवन
रण किये हुए हैं, आपको समस्त दिशाओं में ढूँढ़ रही हैं,
प हमें कृपया दर्शन दीजिए।

टति यद्भवानह्नि काननं, त्रुटियुगायते त्वामपश्यताम्।
(१०।३१।१५)

हे नाथ ! जब आप दिन के समय वन में विचरते हैं, तो
पको न देख सकने के कारण हमें एक-एक क्षण युग के समान
जाता है। अतः हे प्रभो ! विरह व्यथित हमें दर्शन दीजिये।

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् ! कृष्णदर्शनलालसाः॥
(१०।३२।१)

हे राजन् ! इस प्रकार भाँति-भाँति से गाती और [illegible] करती हुई गोपिकाएँ कृष्ण दर्शन की लालसा से फूट-फूट [illegible] रोने लगीं।

गुरुभक्ति

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥
(१० । ८० । ४[illegible]

सभी पदार्थ, शरीर एवं मन को भी विशुद्ध भाव से गु[illegible] सेवा में समर्पण कर देना यही सत् शिष्यों द्वारा करने योग्य [illegible] बड़ी गुरु निष्कृति (गुरु-ऋण से मुक्त होना) है।

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यक्तकर्णधरा जलधौ ॥
(१२ । ८७ । ३[illegible]

हे अजन्मा परमेश्वर ! जिन्होंने अपनी इन्द्रिय और प्र[illegible] को वश में कर लिया है, उन योगियों द्वारा भी जिसका द[illegible] नहीं किया जा सकता, ऐसे अति चञ्चल चित्तरूप घोड़े को अपने वश में करने का यत्न करते हैं, वे श्रीगुरुचरणों की श[illegible] त्याग कर अन्य उपायों में परिश्रम करने वाले मनुष्य वैसे [illegible] नाना प्रकार की विपत्तियों से घिर जाते हैं, जैसे बिना कर्ण[illegible] की नाव पर समुद्र में यात्रा करने वाले व्यापारी नाना प्रकार [illegible] कष्ट उठाते हैं।

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(५ । १२ । १२)

जडभरत जी कहते हैं—हे रहूगण राजन् ! तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ब्रह्मनिष्ठ-महापुरुषों की चरणरज को शिर पर धारण करने से ही होती है, उसके बिना तप, यज्ञ, अन्नादि के दान, गृहस्थोचित धर्मों के पालन, वेदाध्ययन, अथवा जल, अग्नि, या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । अर्थात् तत्त्वज्ञान तत्त्वदर्शी की कृपा से ही मिलता है ।

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं,
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं,
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥
(७ । ५ । ३२)

ये अज्ञलोग जब तक अपने-आपको निष्किञ्चन-ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषों की चरणरज से अभिषिक्त नहीं करते, तब तक इनकी बुद्धि भगवान् उरुक्रम के चरणों का स्पर्श नहीं कर सकती, जिससे कि संसाररूप अनर्थ का सर्वथा नाश हो जाता है ।

तत्त्वदर्शी भक्त किसी के गुण दोष नहीं देखते

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥
(११ । १९ । ४५)

गुण-दोष के लक्षणों का अधिक क्या वर्णन किया जाः इतने में ही समझ लो कि—गुणदोष का देखना ही दोष और इन दोनों का न देखना ही गुण है।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते, स्वार्थादसत्याभिनिवेशतः ॥
(११ । २८ । १२

जो कोई दूसरों के स्वभाव या कर्मों की स्तुति या निन करता है, वह असत्-द्वैत प्रपञ्च में अभिनिवेश—सत्यत्व बु हो जाने से शीघ्र ही परमार्थ-साधन से पतित हो जाता है।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥
(११ । २० । ३६)

मेरे अनन्य भक्त—जो बुद्धि से अतीत परम तत्त्व को प्राप्त हुए समदर्शी महात्मा हैं, उनको गुण-दोष दृष्टि से होने वाले राग-द्वेष विकार उत्पन्न नहीं होते।

शुकदेव का परीक्षित् के मोक्ष समय का उपदेश

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥ (४ । २५)
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेत्सम आत्मवत् ॥ (५ । २९)
नहि सत्यस्य नानात्वं, अविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥ (४ । ३०)

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥ (५।२)
घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः ॥ (५।५)
एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो !
बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ (५।६)
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥ (५।११)
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ (५।१२)

(द्वादशस्कंध)

हे राजन्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ द्धि की ही कही गई हैं। इसलिए अन्तरात्मा में जो नात्व—अनेकपना प्रतीत होता है, वह केवल मायामात्र ल्पित है। यह द्वैत-प्रपञ्चरूप विकार यद्यपि प्रतीत होता है, भी प्रत्यगात्मा से भिन्न अणुमात्र भी इसकी सत्ता का प्रति-दन नहीं किया जा सकता। यदि इसकी सत्ता मानी जाय तो ह चिद्रूप आत्मा की सत्ता से ही सत्य सिद्ध होगा। परमार्थ द्वैत-सत्य वस्तु में अनेकता नहीं है, यदि कोई अज्ञ-पुरुष उसकी नेकता मानता है, तो उसका मानना घटाकाश और महाकाश, आकशस्थित सूर्य और जल-प्रतिबिम्बित सूर्य में, अथवा आन्तरिक वायु और बाह्यवायु में नानात्व मानने के समान है। राजन्! तुम 'मैं मरूँगा' इस पशु बुद्धि को त्याग दो,

क्योंकि—देह के समान तुम पहिले नहीं थे, और अब उ
हुए हो ऐसी बात नहीं है, इसलिए तुम नाश को भी प्रा
होगे। जिस प्रकार घड़े के टूट जाने पर घटाकाश पहले
समान फिर महाकाशरूप होजाता है, उसी प्रकार देह के
होने पर जीव फिर ब्रह्मरूप होजाता है। अतः हे राजन्!
भगवान् वासुदेव का चिन्तन करते हुए द्रष्टा-दृश्य वि
अन्वय-व्यतिरेक के विचार से युक्त अपनी बुद्धि के द्वारा देह
उपाधि में स्थित अपने आत्मा का ही स्वयं चिन्तन करो।
मैं हूँ वही परमपद-रूप ब्रह्म है, और जो परमपद रूप ब्रह्म है, व
हूँ' इस प्रकार विचार करते हुए अपने आत्मा को निष्कल-परमा
में स्थित कर लेने पर तुम अपने पैरों में काटते हुए जिह्वा
ओठ चाटने वाले तक्षक को एवं अपने शरीर और स
विश्व को भी अपने आत्मा से पृथक् नहीं देखोगे।

ज्ञान को प्राप्त कर परीक्षित् निर्भय हो गया

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥
अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम्॥
(१२।६।५

परीक्षित् कहता है—भगवन्! आपने मुझे निश्चय
निर्भय स्थान दिखा दिया है, जिससे मैं ब्रह्म-निर्वाण में प्रविष्ट हो
हूँ, अतः अब मैं तक्षकादि मृत्युओं से तनिक भी भय नहीं मानता

आपने ज्ञान-विज्ञान में मेरी दृढ़निष्ठा कराकर मेरा अज्ञान दूर करके भगवान् का अति कल्याणमय स्वरूप दिखा दिया है।

य एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥
(१२।६।३३)

सूतपुराणी कहता है—जिन पुरुषों में देह- गेह-सम्बन्धिनी अहंता-ममतारूप दुर्जनता नहीं है, वे ही विष्णु भगवान् के इस परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

श्रीभगवान् बोले—हे प्रिय ! मैं तुम्हें विविध जन्म कर्मों की दिव्यता के प्रतिबोधक विज्ञान सहित अपने तत्त्व का परम गुह्य ज्ञान तथा रहस्य के सहित उसके भक्ति, योग आदि अङ्ग बतलाता हूँ, मेरे कहे हुए उस ज्ञान को तुम यथावत् ग्रहण करो।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

मैं जैसा अनादि-अनन्त-व्यापक-विभु हूँ, जैसी मेरी सत्ता, ज्योति, शुद्धता, पूर्णता आदि भाव हैं, और जैसे मेरे दिव्य, रूप, गुण एवं कर्म हैं, इन सब बातों का तत्त्वतः ज्ञान मेरी कृपा से तुम्हें प्राप्त हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

सृष्टि से पूर्व मैं ही था, उस समय विभिन्न रूप से सत् (स्थू असत् (सूक्ष्म) और इनका कारण प्रकृति कुछ भी नहीं था सृष्टि के अनन्तर मैं ही हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् भी मैं ही हूँ, इसका अन्त होने पर जो शेष बच रहता है वह भी मैं ही हूँ।

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां, यथाऽऽभासोयथा तमः ॥

जैसे दो चन्द्रमा आदि पदार्थ न होते हुए भी दृष्टि दोष दिखलाई देते हैं, तद्वत् यह नामरूपात्मक प्रपञ्च वस्तुतः न हो हुआ भी अविद्या से प्रतीत होता है, और अधिष्ठान तत्त्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर अज्ञान एवं तत्कार्य प्रपञ्च का बाध हो जाता है, पश्चात् आत्मा में उसकी प्रतीति नहीं होती जैसे नक्षत्र-मण्डल में रहता हुआ भी राहु दिखलाई नहीं देता तैसे सच्चिदानन्दरूप से आत्मा सर्वत्र सदा विद्यमान होता हुआ भी अज्ञानियों को दिखता नहीं है, इसे ही मेरी माया जानना चाहिए अर्थात् सद्वस्तु के अभान का एवं असद्वस्तु के भान का जो प्रयोजक है, वह अनिर्वचनीय माया है।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि, तथा तेषु न तेष्वहम् ॥

जिस प्रकार समस्त छोटे-बड़े भौतिक पदार्थों में महाभूत उनके कारण रूप से प्रविष्ट हुए भी वास्तव में अप्रविष्ट ही हैं,

उसी प्रकार मैं परमात्मा भी सम्पूर्ण प्राणियों में उनके आत्म-स्वरूप से स्थित हुआ भी वास्तव में उनसे अलग ही हूँ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा॥

अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतुओं से सिद्ध होता है कि— सर्वात्मा भगवान् ही सदा सर्वत्र अन्तर्बहि व्याप्त हैं, बस यही बात आत्मतत्त्व के जिज्ञासुओं को जानने योग्य है, जो भगवान् अस्ति, भाति, प्रिय रूप से समस्त विश्व में व्याप्त है, यह उसका अन्वय है, और जगत् को सम्पूर्णरीत्या पूर्ण कर और भी अति महत् शान्त शुद्ध स्वरूप में स्थित रहता है, यह उसका व्यतिरेक-विशेष अतिरेक है, अथवा व्यतिरेक अपवाद का भी नाम है, पूर्ण तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव होने पर जिस माया कल्पित मिथ्या संसार का परमात्मा में अपवाद—बाध होता है, यह भी व्यतिरेक है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

हे ब्रह्मा! तुम निश्चल-समाधि के द्वारा मेरा यह मत धारण करो, इससे तुम्हें कल्प-कल्पान्तरों में नाना प्रकार की सृष्टि रचते हुए भी कभी मोह न होगा।

इस प्रकार भगवान् ने कृपा कर ब्रह्मा को निमित्त बनाकर शोकमोहनिवारक इस तत्त्वज्ञान का उपदेश सभी जिज्ञासुओं के लिए दिया है। इस चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के नवमाध्याय में है।

दश मानवधर्म

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।
(मनुस्मृ

(१) धृति—अर्थात् धैर्य, संतोष, सहनशीलता एवं धार
धैर्य से ही सभी कार्य सफल होते हैं, धैर्य विना साधन-भजन
होता, धैर्य से ही मन को वश में कर सकते हैं।

(२) क्षमा—अपना-अपकार करने वाले से—बदला
की पूरी सामर्थ्य होने पर भी उसको सुधारने के लिए बद
लेकर सहन कर लेना, वह क्षमा कहलाती है। क्षमा
को शान्त करने के लिए पानी का काम करती है, इसलिए
एवं प्रतिहिंसा—बदला लेने की भावना का त्याग कर
धारण करनी चाहिए। वह क्षमा नहीं है—जो एक दुष्ट
दुर्बल को मार रहा है, या लूट रहा है, या किसी की बहिन
की इज्जत ले रहा है—उस समय हम कुछ न बोलें, कहें
हम क्षमा एवं अहिंसाव्रती हैं, यह डरपोकपना है। उस समय
अपनी पूरी शक्ति लगाकर उस दुष्ट का मुकाबला कर
दण्ड देकर दुर्बल की रक्षा करना क्षमा एवं अहिंसा है।
उस दुष्ट को दण्ड न दिया जाय तो वह वैसा ही दुष्ट
अनेकों को सतायेगा, अतः उसे दण्ड देकर उसकी दुष्टता
हटाना और उसको सुधारना, चीर फाड़ करने वाले डॉक्
समान उसका भला चाहना वह क्षमा का असली स्वरूप है।

(३) दम—मन का निग्रह, मन के विजय से ही मुक्ति मिलती । मन के अति कामादि गन्दे स्वभावों के त्याग से व्यवहार की सिद्धि होती है, चञ्चल-उद्विग्न मन वाला मनुष्य किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिए मन को वश में रक्खो, शुभ विवेक विचार के अनुसार चलो।

(४) अस्तेय—चोरी का त्याग। चालाकी, धूर्तता, पाखण्ड, विश्वासघात, कमती देना, अधिक लेना, अच्छा माल दिखाकर खराब माल देना इत्यादि भी चोरी है। ऐसी चोरियाँ दिन में बाजारों में हुआ करती हैं, जब तक इस प्रकार की चोरियों की आदतें छूट नहीं सकती, तब तक धर्म, भक्ति एवं ज्ञान से तुम हजारों कोश दूर हो, ऐसा समझना चाहिए, इसलिए धूर्तता का परित्याग कर किसी के हक्क का हरण मत करो।

(५) शौच—यानी पवित्रता, शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की है। एक बाहर की एवं दूसरी आन्तर की। जल-मृत्तिका से एवं मांस शराब आदि अभक्ष्य-तामस पदार्थों का त्याग कर सात्त्विक मिताहार से शरीर को शुद्ध एवं स्वस्थ रखना यह बाहर की शुद्धि है। और मैत्री, करुणा, मुदिता, एवं उपेक्षा की भावना से आन्तरिक शुद्धि प्राप्त होती हैं। धन विद्यादि से सम्पन्न-सुखी मनुष्यों से प्रेम करना मैत्री कहलाती है, इससे चित्त का ईर्ष्या मल दूर होता है। दुःखी प्राणियों के प्रति दया करना यह करुणा है, इससे हृदय की कठोरता दूर होती है। पुण्यशील-धार्मिक मनुष्यों को देखकर हर्षित होना मुदिता है इससे गुणों में

दोषारोपण नाम का असूया-मल निवृत्त हो जाता है। पा
के प्रति उदासीन रहना, उनके दोषों का चिन्तन एवं कथ
करना उपेक्षा है, इससे दोष दर्शन, निन्दा, क्रोध आदि मल
हो जाते हैं।

(६) इन्द्रियनिग्रह—चक्षुरादि इन्द्रियों को लोक
परलोक बिगाड़ने वाले निन्दित विषयों में न लगाकर विहित
विषयों में लगाना इन्द्रिय निग्रह है। इन्द्रियों का गुला
बनकर उनको अपने वश में रखनी चाहिए। संयमी सदा
जीवन ही सदा प्रसन्न एवं यशस्वी होता है।

(७) धी—यानी श्रेष्ठ सद्विचारवाली निर्मल-बुद्धि। सत्संग
सच्छास्त्रों का अनुशीलन, भगवद्भजन, आत्मविचार आदि सा
से श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त होती है। एकाग्रतायुक्त शुद्ध बुद्धि से
परमात्मा के दिव्य-प्रकाश एवं पूर्णानन्द का अनुभव होता है।

(८) विद्या—यानी ब्रह्मविद्या। जो सकल-अनेक पदा
में एक ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का तथा एक अद्वैतपू
ब्रह्मात्मा में अनेकात्मक द्वैत-प्रपञ्च के विलय का अनुभव करा
वाली है। इस दीन-हीन जीव को ब्रह्मविद्या सदा के लि
परमानन्दनिधि कैवल्य धाम में पहुँचा कर शिवस्वरूप बना दे
है, इसलिए इस ब्रह्मविद्या की हमें प्राप्ति करनी चाहिए।

(९) सत्य—'सत्यमे' परं ब्रह्म' एकमात्र परब्र
परमात्मा ही सत्य है, इससे अन्य यह नामरूपात्मक द्वैतप्रप
मायाकल्पित, मिथ्या, असार है, ऐसा दृढ निश्चय करना

रम सत्य है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्' ाणियों का हित करना, यथार्थ एवं प्रिय बोलना भी सत्य है।

(१०) अक्रोध—क्रोध का त्याग करो, क्रोध अनेक पापों ा मूल कारण है। क्रोध से पुण्य का नाश हो जाता है। जब सी कारण वशात् क्रोध का प्रादुर्भाव हो जाय तब चुप हो जाना ाहिए, अथवा भगवन्नाम का जप करना चाहिए।

इस प्रकार राजर्षि-मनु महाराज कथित इन धर्मों का पालन रना चाहिए। हरिः ॐ तत्सत्।

रामकृष्णशिववन्दनम्

भज गोपालं जय श्रीरामं शिवमीशानं वन्देऽहम्।
यदुकुलनाथं रघुकुलनाथं अनाथनाथं वन्देऽहम्॥
धृतकरमुरलिं धृतशरचापं त्रिशूलहस्तं वन्देऽहम्।
राधारमणं सीतारमणं गिरिजारमणं वन्देऽहम्॥
कंसनिकन्दन रावणमर्दन त्रिपुरविभञ्जन वन्देऽहम्।
गोपीध्येयं मुनिजनज्ञेयं सकलसुपूज्यं वन्देऽहम्॥
कुब्जोद्धारं अहल्योद्धारं आर्तोद्धारं वन्देऽहम्।
हृतजनदोषं कृतजनपोषं शिवाशुतोषं वन्देऽहम्॥
अर्जुनशरणं हनुमत्शरणं अशरणशरणं वन्देऽहम्।
दीनदयालुं परमकृपालुं अतिश्रद्धालुं वन्देऽहम्॥
कृतसुरहास्यं स्मितकमलास्यं अतिप्रियहास्यं वन्देऽहम्।
जनदुःखनाशं पूरकआशं कलुषविनाशं वन्देऽहम्॥

पीतसुवस्त्रं कटितूणीरं मृगत्वचचीरं वन्देऽहम् ।
कुञ्जविहारिन् अवधविहारिन् शिखरविहारिन् वन्देऽहम् ॥
सरसिजनयनं करुणाअयनं जनहृदिभवनं वन्देऽहम् ।
श्रीगोपीशं सुहृत्कपीशं जगदखिलेशं वन्देऽहम् ॥
कृष्णमुरारिं रामखरारिं शिवकामारिं वन्देऽहम् ।
कुञ्चितकेशं केशरितिलकं धृतशशितिलकं वन्देऽहम् ॥
अतिशिशुमङ्गं धृतवनमालं कुन्ददलाङ्गं वन्देऽहम् ।
मन्मथपितरं मन्मथदेहं मन्मथशत्रुं वन्देऽहम् ॥
मयूरमुकुटं किरीटमुकुटं जटाहिमुकुटं वन्देऽहम् ।
शिव अघहरणं शिवदुःखहरणं शिवजनभरणं वन्देऽहम् ॥

देव-गुरु-पूजा

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥

नमः कमलनाभाय नमस्ते जलशायिने ।
नमस्ते केशवानन्त वासुदेव नमोऽस्तुते ॥
वासनाद्वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम् ।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥
शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

कर्पूर-आरती-वन्दन

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि ॥
असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥
निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम् ।
गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्तये नमः ॥

भजन-संग्रह

(१) सर्वान्तर्यामी भगवान् से भारतवासियों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए वर-प्रार्थना

दीनबन्धो ! हम सबों को ज्ञान-भिक्षा दीजिये,
आपके हम पुत्र हैं, सब भाँति रक्षा कीजिये ।
दो हमें वर, भक्ति अपनी- और सुन्दर-धीरता,
शक्ति, विद्या, मान, धन, यश, आदि सच्ची वीरता ॥१॥
देश-सेवी हम सभी हों सत्य ही भाषण करें,
झूठ, छल, चोरी, जूवा से नित्य हे ! ईश्वर डरें ।
हे प्रभो ! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए,
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए ॥ २ ॥
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें,
ब्रह्मचारी धर्म-रक्षक वीर-व्रतधारी बने ।

सृष्टि-पालक दुष्ट-घातक भक्त-सुखदायक तुम्हीं,
दीन-बन्धु करुणा-सागर और सब लायक तुम्हीं।
प्रह्लाद ध्रुव के सम हमें प्रभु भक्ति अपनी दीजिए,
देश हित तन धन बली करने को तत्पर कीजिए।
अन्त को सब शिशुगणों की आपसे बिनती यही,
हों सभी इस योग्य, जो शोभित करें भारत मही।
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

(२) कैसा बनकर हमें गोविन्द भगवान् का भजन करना चाहिए।

कृष्ण! गोविन्द! गोपाल! गाते चलो,
मन को विषयों के विष से हटाते चलो;
देखना इन्द्रियों के न घोड़े भगें।
रात दिन इनको संयम के कोड़े लगें,
अपने रथ को सुमारग चलाते चलो॥ कृष्ण०।
प्राण जावें मगर नाम भूलो नहीं,
दुःख में तड़फो नहीं सुख में फूलो नहीं,
नाम धन का खजाना बढ़ाते चलो॥ कृष्ण०।
नाम जपते रहो काम करते रहो,
पाप की वासनाओं से डरते रहो,
प्रेम भक्ति के आँसू बहाते चलो॥ कृष्ण०।
ख्याल आयेगा उसको कभी न कभी,

भक्त पायेगा उसको कभी ना कभी,
ऐसा विश्वास मन में जमाते चलो ॥ कृष्ण० ॥४॥

(३) असार संसार में सार क्या है ?

जग असार में सार, रसना हरि हरि बोल,
यह तो तन है जर्जरी नैया, केवल है हरिनाम खिवैया;
हो जा भव से पार, रसना हरि हरि बोल० ॥ १ ॥
अपने तन की वीणा बना ले, प्रेम स्वरों के तार चढ़ा ले,
राम नाम झंकार, रसना हरि हरि बोल० ॥ २ ॥
जीवन कर्ज लिया है तू ने, चुकता कुछ न किया है तू ने,
ऋण का भार उतार, रसना हरि हरि बोल० ॥३॥
अधिक नहीं कुछ कुछ कर ले तूं, बिन्दु बिन्दु से घट भर ले तू,
भर ले धन भण्डार, रसना हरि हरि बोल० ॥ ४ ॥

(४) हमारी जीवन-नैया कैसे पार होगी ? पार करेगा कौन ?

पार करेगा नैया, भज कृष्ण कनैया,
श्वास श्वास भज नन्ददुलारे, वो ही बिगड़े काज संवारे।
नटवर चतुर खिवैया, भज कृष्ण कनैया० ॥
अर्जुन के हित रथ को हाँका, साँवरिया गिरधारी बाँका।
काली नाग नथैया, भज कृष्ण कनैया० ॥

बीच सभा में द्रौपदी रोई, अबला को दे ठौर न कोई।
पहुँचे चीर बढ़ैया, भज कृष्ण कनैया० ॥
भक्त सुदामा चावल लाया, गले लगा प्रभु भोग लगाया।
कह कर भैया भैया—भज कृष्ण कनैया० ॥

(५) अरे मुसाफिर ! जाग, उठ, देख, सावधान हो

उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई,
अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है,
जो जागत है वो पावत है ॥ उठ जाग०
टुक नींद से अखियाँ खोल जरा,
ओ गाफिल ! प्रभु से ध्यान लगा।
यह प्रीत करण की रीत नहीं,
प्रभु जागत है तू सोवत है ॥ उठ जाग०
नादान भुगत करनी अपनी,
ओ पापी पाप में चैन कहाँ।
जब पाप की गठरी शीश धरी,
फिर शिर पकड़ क्यों रोवत है ॥ उठ जाग०
जो कल करना सो आज कर ले,
जो आज करना सो अब कर ले।
जब चिड़ियन ने चुन खेत लिया,
फिर पछताये क्या होवत है ॥ उठ जाग०

(६) हे नन्दनन्दन प्रभो ! मेरी नैया पार कर दे

नैया पार लगा दे श्यामा (२)
भय-भञ्जन भगवान तू ही है,
आन के मोहे बचा ले श्यामा—नैया० ।
सिंधु तूफानी नाव पुरानी—
बिगड़ी मेरी बना दे, श्यामा—नैया० ।
नाम तेरे ने पत्थर तारे,
मोहे पार लगा दे, श्यामा—नैया० ।
चारो तरफ छाया अंधियारा,
जीवन ज्योति जगा दे, श्यामा—नैया० ।
दीखत नाहीं आज कछु मोहे,
आन के राह बता दे, श्यामा—नैया० ।
भारत अब संकट में पड़ा है,
नाविक बन के बचा दे, श्यामा—नैया० ।

७) अरे मन ! दुःसङ्ग त्याग कर, सत्संग का प्रेमी बन

छोड़ मन हरि विमुखन को संग,
जाके संग से कुमति उपजत,
पड़त भजन में भंग —छोड़० ।
काग ही काहा कपूर खीवाये
श्वान नहाये गंग — छोड़० ।

खर को कहा अरगजा लेपन
भूषण मरकट अंग — छोड़०।
पाहन पतित बाण नहीं वेधत
रीतो करत निसंग —छोड़०।
सूरदास खल कारी कामरी
चढ़त न दूजो रंग —छोड़०।

(८) हरदम यही जपाकर यही बड़ा लाभ है

हरि ॐ तत्सत् हरि ॐ तत्सत्
जपाकर जपाकर हरि ॐ तत्सत्
जब श्वास निकले जबाँपर यही हो—हरि ॐ
जिधर देखो वस एक दृष्टि यही हो—हरि ॐ
कानों में भी शब्द आकर यह गूँजे—हरि ॐ
कोई तुमसे पूछे उसे यह सुनाओ—हरि ॐ
जो बोलो किसी से तो यह बोल बोलो—हरि ॐ
जो सुख चाहते हो रटो तो उसी को—हरि ॐ
है केवल परम सुख शान्ति सरोवर—हरि ॐ

(९) अरे दो दिन के जीने वाले ? क्यों अभिमान कर अकड़ता है, व्यर्थ का बकवाद करता है

काहे करत गुमान मनवा, काहे करत गुमान,
यह दुनिया है खेल तमाशा, दो दिन की यह झूठी आशा
उठ और उठकर नाम सुमर ले, सुन मूरख नादान—मनवा०

छोड़ दे मोह माया का झगड़ा झूठा है यह सारा रगड़ा,
सोच समझकर चल तू प्यारे, दो दिन का मेहमान—मनवा० ।
बचपन बिता जवानी आई, विषयों ने सब होश भुलाई,
अब तो वृद्ध भयो है भाई, कर चलने का सामान—मनवा० ।
प्यारे प्रभु का नाम सुमरले भवसागर से पार उतर ले
राम राम कह राम बावरे, क्यूँ बनता अनजान—मनवा० ।

(१०) यहाँ कोई रहा नहीं ? रहेगा भी नहीं

यह नहीं अपना देश, मन परदेशी रे तूं !

सत का कहना, मत में रहना, आनन्द रूप किसी का भय ना,
जो कोई कहे सभी का सहना सोऽहं रटन हमेश—मन० ।
गुरु का वचन सत्य कर मानों जगत जाल सब झूठा जानो,
तत्त्वमसि का रूप पिछानो, कट जाय कर्म कलेश—मन० ।
जो दीखे सो रूप हमारा, कोई नहीं है हमसे न्यारा,
मित्र शत्रु न कोई हमारा, मिट गये राग द्वेष—मन० ।
शाह गुरू शुकदेव बिराजे चरण दास चरणों में साजे,
गुरु के वचन कभी नहि त्यागे, यह सत्य उपदेश—मन० ।

(११) मीराबाई का भगवान् से अनन्य प्रेम का स्वरूप

मेंरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।
दूसरो न कोई, साधो सकल लोक जोई ॥ मेरे तो ॥
भाई छोड्या बन्धु छोड्या छोड्या सगा सोई ।
साधु-संग बैठ बैठ लोक लाज खोई ॥ मेरे तो ॥

भक्त देख राजी होई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच सींच प्रेम वेल बोई ॥ मेरे तो
दधि मथ घृत काढ़ि लियो डार दई छोई।
राणे विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई ॥ मेरे तो
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई ॥
मीरा प्रभु लगन लागी होणी होय सो होई ॥ मेरे तो

(१२) यदि कल्याण चाहते हो तो मन का झूठा अभिमान त्यागो, नम्र बनकर हरि भजो

मन का मान त्यागो साधो, हरि चरण में लागो, साधो॥
काम क्रोध सङ्गति दुर्जन की, तासे अहर्निश भागों, साधो—मन
सुख दुःख दोनों समकर जानो, और मान अपमाना, साधो—मन
हर्ष शोक से रहे अतीता, तिन जग तत्त्व पिछाना, साधो—मन
स्तुति निन्दा दोनों को त्यागो, खोजो पद निर्वाणा, साधो—मन
जन 'नानक' यह खेल कठिन है, कोउ गुरुमुख जाना, साधो—मन

(१३) सदुपदेशक दोहे

नारायण सुख भोग में तू लम्पट दिन रैन।
अन्त समय आया निकट देख खोलकर नैन ॥
रे मन ! क्यों भटकत फिरे, भज तू नन्दकुमार,
नारायण अजहूँ समझ भयो न कछु बिगार, ॥
मन में लागी चटपटी कब निरखूँ घनश्याम,
नारायण भूल्यो सभी खान पान विसराम ॥

नारायण सत्संग कर सीख भजन की रीत।
काम क्रोध मद लोभ में गई आयु सब बीत ॥
तू रहिमन मन आपनो कर ले चारु चकोर।
निशिवासर निरखत रहे कृष्णचन्द्र की ओर ॥
तुलसी जग में यों रहो ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घणा भक्षण करे तो भी चिकणी नाहिं ॥
यह तो गति है अटपटि झटपट लखे न कोय।
जो मन की खटपट मिटे झटपट दर्शन होय ॥
मोह मूल बहु शूलप्रद त्यागहू तुम अभिमान।
भज हूँ राम रघुनायक कृपा सिन्धु भगवान ॥
राम नाम रति राम गति राम नाम विश्वास।
सुमिरत शुभ मंगल कुशल चहुंदिशि तुलसीदास ॥

(१४) भगवान् श्रीराधे गोविन्द जी की आरती

आरती युगल किशोर की कीजे, तन मन धन न्योछावरकीजे।
रवि शशिकोटी वदन की शोभा, ताहि निरख मेरा मन लोभा ॥
गौर श्याम मुख निरखत रीझे, हरि स्वरूप नयन भर पीजे।
कंचन थाल कपूर की बाती, जगमग ज्योति जगे दिन राती ॥
फूलन की सेज फूलन गल माला, रत्न सिंहासन बैठे नन्दलाला।
मोर मुकुट कर मुरली सोहे, नटवर वेष देख मन मोहे ॥
ओढ़े नील पीत पट सारी, कुञ्ज विहारी भवभय हारी।
श्री पुरुषोत्तम गिरिवरधारी, आरति करत सकल नर नारी ॥
नन्दनन्दन बृषभानु किशोरी, परमानन्द प्रभु अविचल जोरी।
जो आरती प्रेम से गावे, बसे बैकुण्ठ परम पद पावे ॥

धुन-हरिहरनामसंकीर्तनम्

(१) राम राघव राम राघव राम राघव पाहि माम् ।
जानकीवर मधुरमूर्ति राम राघव रक्ष माम् ॥
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ।
राधिकावर मधुर मूर्ति कृष्ण-केशव रक्ष माम् ॥
चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर पाहि माम् ।
शैलजावर मधुरमूर्ति चन्द्रशेखर रक्ष माम् ॥

(२) अच्युतं केशवं राम नारायणं, कृष्ण दामोदरं वासुदेवं ह
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं, जानकीनायकं रामचन्द्रं भ

(३) शंकरं त्र्यम्बकं मुण्डमालं शिवं, आशुतोषं भवं नीलकण्ठं ह
शशिधरं शूलिनं शैलजावल्लभं, पार्वतीनायकं भालचन्द्रं भ

(४) श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव

(५) गोविन्दजयजयगोपाल जय जय,राधारमण हरिगोविन्दज

(६) हर हर महादेव शंभो काशी विश्वनाथ गंगे ।

(७) साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय श
हर हर शङ्कर दुःखहर शङ्कर सुखकर भयहर हर श

हे मन ! मस्त होकर हरदम राम-कृष्ण रटाक

हे मन ! प्रति श्वास पुकार यही, जय राम हरे घन-श्याम
तन-नौका की पतवार यही, जय कृष्ण हरे सुखधाम
जग में व्यापक आधार यही, जग में लेता अवतार
है निराकार साकार यही, जय राम हरे श्रीकृष्ण ह

ध्रुव को ध्रुवपद दातार यही, प्रह्लाद गले का हार यही;
नारदवीणा का तार यही, जय राम हरे घन श्याम हरे।
सब सुकृतों का आधार यही, गंगा-यमुना की धार यही;
श्रीरामेश्वर हरिद्वार यही, जय राम हरे श्रीकृष्ण हरे।
है सज्जन का साहुकार यही, प्रेमी जन का व्यवहार यही;
सुखबोध सुधा का सार यही, जय राम हरे श्रीकृष्ण हरे।
संसार सुने सब मिल के कहो, इस प्रेम-सुधा का स्वाद चखो;
इस मोहिनी मंत्र का जाप करो, श्रीराम हरे श्रीकृष्ण हरे।

हरिनाम-महिमा

इक बात कहें जो सुनो हमरी, हरिनाम जपो हरिनाम जपो;
सब बातन का है सार यही, हरिनाम जपो हरिनाम जपो; ।
यहाँ जितना रिश्ता नाता है, सब बनी बनी का सौदा है;
बिगड़ी में एक प्रभु ही है, हरिनाम जपो हरि नाम जपो ।
सब रगड़े झगड़े दूर करो, तुम दिल से प्रभु की शरण पड़ो;
कुछ करना है तो यही करो, हरिनाम जपो हरिनाम जपो ।
इस भवसागर से तरने का, नित जीने से नित मरने से;
बस यही उपाय है बचने का, हरिनाम जपो हरिनाम जपो।

शिव नाम कीर्तन ध्वनियाँ

शिव शिव शिव शिव शिवाय नमः ॐ,
हर हर हर हर हराय नमः ॐ,
शिवाय नमः ॐ हराय नमः ॐ—शिव,

भज मन निश दिन शिवाय नमः ॐ,
रट मन क्षण क्षण हराय नमः ॐ—शिवाय,

हरि हर नाम कीर्तन

(१) हरि बोल, हरि बोल, हरि बोल, हरि बोल,
प्यारे केशव माधव गोविन्द बोल, हरि बोल हरि बो

---

(२) आनन्द-कन्द केशव गोविन्द कृष्ण प्यारे,
जय जय यशोदा-नंदन जय नन्द के दुलारे;
आनन्द-कन्द राघव श्रीरामचन्द्र प्यारे,
जय कोशलेश रघुवर दशरथ के हे दुलारे;
आनन्द-कन्द शङ्कर गौरीपते पुरारे,
जय जय महेश शंभो जय आशुतोष प्यारे;
आनन्द-कन्द भगवन् कमलापते मुरारे,
जय जय रमेश विष्णो भक्तों के प्राण प्यारे।

---

(३) राधे कृष्ण श्याम मुरारे, गोविन्दं गोपाल हरे,
जय शिव शङ्कर हर त्रिपुरारे, वृषभध्वज मृडमदनारे;
सीता-पति श्रीराम खरारि, मन ! भय-भञ्जन को तू ध्या रे।

---

(४) रघुपति राघव राम रमापति, कौशल्या के लाल सिया
करुणासिन्धु कमल-दल-लोचन, मोचन भवभ्रमजाल सिया

दुपति यादव राधा प्रियतम, मुरलीधर नन्दलाल गिरिधर,
ारुणिक कलकंज विलोचन, मोचन जग जंजाल गिरिधर;
शुपति शंभु उमापति शंकर, विषधर व्यालकपालधर हर;
ाशुतोष गौरीश त्रिलोचन, मोचन सबजगजाल शिव हर।

शिव-नामावली

महादेव शिव शङ्कर शंभों उमाकान्त हर त्रिपुरारे,
मृत्युञ्जय वृषभध्वज शूलिन् गंगाधर मृडमदनारे;
हर शिव शङ्कर गौरीशं वन्दे गंगाधरमीशम्।
रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरिनाथम्,
जय शंभो जय शंभो शिव गौरीशंकर जय शम्भो ॥

वैदिक-शान्ति-पाठ

ॐशं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न
द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे।
मस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं
ह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि।
न्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु
ारेक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

(कृष्ण० यजु० तै० १-१-१)

ॐ मित्र (दिवस का अभिमानी देवता सूर्य भगवान्)
मारे लिए सुख देनेवाले होवें, वरुण (रात्रि के अभिमानी

देवता अथवा जलका अधिष्ठातृ देवता) हमारे लिए सुख वाले होवें। अर्यमा (पितरों का अधिष्ठातृ देवता) लिए सुख देने वाले होवें। इन्द्र (हाथ और देवता) हमारे लिए सुख देनेवाले होवें। बृहस्पति (और बुद्धि का देवता) हमारे लिए सुख देने वाले विस्तीर्णपाद—वाले विष्णु भगवान् हमारे लिए सुख देने होवें। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो! आपको नम है। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही मैं प्रत्यक्ष कहूँगा, यथार्थ कहूँगा, सत्य कहूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा आचार्य की रक्षा करे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन प्रकार से होने वाले दुःखों की सर्व-संतापों की निवृत्ति हो॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्र बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनि करणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मा मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(साम० के० छां०

ॐ मेरे अङ्ग, वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और इन्द्रियाँ संयम एवं शुद्धि की वृद्धि को प्राप्त हों। सर्व ब्र उपनिषद् हैं। मैं ब्रह्म का तिरस्कार न करूँ, यानी ब्रह्म से मैं न होऊँ। ब्रह्म मेरा तिरस्कार न करे, यानी हम दोनों का

विशुद्ध प्रेम हो। ब्रह्मात्मा में निरन्तर प्रेम करनेवाले महापुरुषों में एवं उपनिषदों (वेदान्तों) में प्रख्यात जो शम दमादि धर्म हैं, वे मुझमें होवें ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ २ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयामदेवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ३ ॥

ॐ हे देवो ! हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें। ध्यान करनेवाले हम नेत्रों से कल्याणरूप देखें। स्थिर हस्तपादादि अङ्गों के द्वारा सूक्ष्मरहस्यवाली श्रुतियों से उस परब्रह्मपरमात्मा की हम स्तुति करें। हे देवो ! आयुभर हम कल्याण स्वरूप शिव को ही धारण करें। महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमको आनन्द देवे। समस्त विश्वका जाननेवाला सूर्य हमको आनन्द देवे। अप्रतिहतगतिवाला गरुड़ हमको आनन्द देवे। बृहस्पति हमको आनन्द देवे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ भद्रं नो अपिवातयमनः॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ हमारा कल्याण हो, हमारे मन को पवित्र कीजिये। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ यश्छंदसामृषभो विश्वरूपः। छन्देभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव! धारणोभूयासम्।

शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वामे मधुमत्तमा। कर्णा
भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोषोऽसि मेधया पिहितः।
मे गोपाय॥ ॐ शान्ति शान्तिः शान्तिः॥ ५॥

(कृ० यजु० तै० १-४

ॐ जो ॐकार वैदिक छन्दों में श्रेष्ठ है, सर्व
अमृतरूप वेदों से अधिक (आराधनीय) हुआ है। वह
कार रूप इन्द्र भगवान् मुझको बुद्धि की सूक्ष्मता, एकाग्रता
निर्मलतारूपी सामर्थ्य देवे। हे देव! मैं अमृत (परब्रह्म)
धारण करनेवाला होऊँ। मेरा शरीर रोग रहित हो,
स्वस्थ रहे। मेरी जिह्वा मधुर-भाषिणी हो; कानों से
बहुत भद्र सुनूँ। आप (ॐकार) ब्रह्म के कोष हैं,
आपकी आराधना से ब्रह्म प्रकट होता है, इसलिए आ
भीतर ब्रह्म छिपा है, लौकिकबुद्धि से आप ढके हुए
जो कुछ मैंने सुना है उसकी रक्षा कीजिये॥ ॐ शान्तिः शा
शान्तिः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

❀ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ❀



मुद्रक—हरप्रसाद वाजपेयी, कृष्ण-प्रेस, २६ हिवेट रोड, प्रयाग

श्री शिवनमस्कार तथा उपदेश

नमः शिवाय शम्भवे नमस्त्रिशूलधारिणे ,
स्वयंभुवे सदा नमश्चिदम्बराय ते नमः ।
नमो हराय जाह्नवीधराय चन्द्रमौलये ,
त्रयीमयाय शंभवे त्रिलोचनाय ते नमः ॥

नमस्तेऽस्तु महादेव नमस्ते परमेश्वर ।
नमः शिवाय देवाय नमस्ते ब्रह्मरूपिणे ॥

जाना है रहना नहीं मरना विस्वा वीस ।
दो दिन दुनिया के लिए मत भूलो जगदीश ॥

आयु गवाईं दुनियाँ में दुनियाँ चली न साथ ।
पैर कुल्हाड़ा मारिया मूर्ख ने अपने हाथ ॥

हरि का स्मरण यों करो जैसे कामी काम ।
एक पलक बिसरे नहीं निशदिन आठो याम ॥

नारायण जाके हृदय सुन्दर श्याम समाय ।
फूल पात फल डार पें ताको वही लखाय ॥

अय बन्दे ! तूं उठ बाँध कमर क्यों डरता है ।
धर आगे पैर फिर देख प्रभु क्या करता है ॥

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मंगलेभ्योऽपि मंगलम् ।
पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम् ॥
यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥

पञ्चदेवनमस्कार

एकात्मनो भिन्नरूपान्, लोकरक्षणतत्परान्।
शिवविष्णुशिवासूर्यहेरम्बान् प्रणमाम्यहम्॥
गणाधिपं सदा वन्दे विघ्नध्वान्तदिवाकरम्।
श्रेयसां निधिमानन्दश्रेयसे भूयसे मम॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम्।
इन्दुमण्डलमध्यस्थं वन्दे देवं सदाशिवम्॥
नमः पुंसे पुराणाय पूर्णानन्दाय विष्णवे।
निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे विश्वहेतवे॥
पतये ग्रहताराणां भद्राय लोकसाक्षिणे।
नमो भगवते तुभ्यमादित्यायाखिलात्मने॥
ॐ नमः प्रणवार्थाय शुद्धज्ञानैकमूर्तये।
निर्मलाय प्रशान्ताय दक्षिणामूर्तये नमः॥
अशुभानि निराचष्टे, तनोति शुभसन्ततिम्।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं परम्॥

मुद्रक— कृष्ण-प्रेस, प्रयाग।

अथ

श्री रामगीता ।

(पदच्छेदान्वयार्थं भावार्थ सहिता)

अनुवादक—

श्री स्वामी रामाश्रम जी,

परमहंस ।

प्रकाशक—

श्रीमान् परमहंस राय [चौधरी] ।

ग्राम—शेरपुर बड़ा, पोष्ट कुड़ेसर,

जिला—गाजीपुर ।

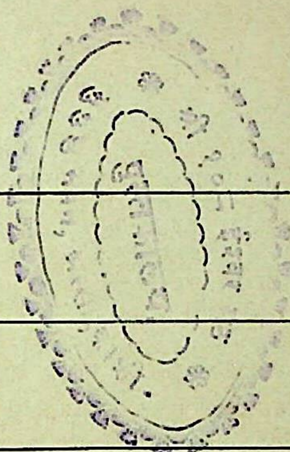
प्रथम बार १००० } सम्वत् १९९४ सन् १९३७ { मूल्य— प्रेमपाठ (मनन)

सेवा में,

श्रीयुत् ____________________

____

____



आपका--

परमहंसराय (चौधरी)



श्री रामआश्रम जी परमहंस ।

प्रकाशक का निवेदन ।

प्रिय पाठक मुमुक्षु महानुभावों ! जगन्नियन्ता परब्रह्म परमेश्वर की असीम कृपा से मेरा परम सौभाग्य है कि आज श्रीमान् लोगों की सेवा में ऐसे रामगीता रत्न को समर्पित करता हूँ, यह साधारण रत्न ही नहीं है, वरन् सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति प्रदान करने वाली अक्षयनिधि है। विदित हो कि इस ग्रन्थ के अनुवादक श्री स्वामी जी गंगा किनारे २ विचरते हुए मेरे पुण्यपुंज के प्रभाव से मेरे ग्राम पर आकर दर्शन दिये और उन्होंने अपने दर्शन तथा उपदेशों से यहां की जनता के हृदय के ताप का नाश करते हुए शान्ति प्रदान करने लगे। एक दिन किसी प्रसंग वशात् ऐसा ज्ञात हुआ कि स्वामी जी के एक चरणानुरागी भक्त प्रांत बलिया, पोस्ट सम्हौवां तथा ग्राम बुलापुर निवासी गया प्रसाद जी मिश्र ने उनकी लिखी हुई आत्मप्रकाश, प्रेम वैराग्यादि वाटिका ज्ञानामृत इत्यादि पुस्तकें लोक-कल्याण निमित्त छपा कर प्रकाशित कर चुके हैं; यह बात श्रवण कर मुझे भी अपने अन्तःकरण की शुद्धि निमित्त कुछ परमार्थ की जिज्ञासा प्रकट हुई, अतएव स्वामी जी से मैंने रामगीता के अनुवाद करने के लिए प्रार्थना की। स्वामी जी ने इस दास पर कृपा कर प्रार्थना स्वीकार की और अनुवाद कर के कृतार्थ किया। इस ग्रन्थ के अवलोकन तथा मनन से यदि मुमुक्षु जनों को थोड़ा भी आनन्द तथा विश्राम मिला, तो मैं अपने को परम भाग्यवान समझूंगा। शुभमित्यलम् ।

आपका—

परमहंसराय (चौधरी)

भूमिका

प्रिय पाठक वृन्द ! इस रामगीता की भूमिका लिख कर इसके महत्त्व को आप लोगों के सामने प्रकाशित करना सूर्य को दीपक दिखाना है। मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ भगवान राम ने श्री लक्ष्मण जी को निमित्त बना अपने प्रिय जीवों के कल्याण के लिए इस गीतामृत का वर्णन किया है। भगवान का यह उपदेश सूत्रवत् है अर्थात् इस रामगीता में श्लोक तो अल्प ही (बासठ) हैं, परन्तु आशय बड़ा गम्भीर तथा गूढ़ है। इसमें वेदान्त की सम्पूर्ण प्रक्रियायें झलक रही हैं प्रशंसनीय विषय यह है कि जो वेदान्त रहस्य के अल्प भी ज्ञाता हों अथवा महान पण्डित हों, सबके लिए अपनी बुद्धि के अनुसार विश्राम मिलता है। पाठको ! यह परिपाटी है कि पुस्तक हाथ में पड़ते ही श्रद्धालु जन पहले भूमिका ढूंढ़ने लगते हैं, अतएव इस रामगीता का कुछ दिग्दर्शन करा देना परमावश्यक है—

इस संसार में सभी प्राणी सुख के ही उपासक हैं अर्थात् सुख की ही इच्छा से सम्पूर्ण कर्म करते हैं। परन्तु सुख की उपलब्धि पुरुषार्थ की प्राप्ति से होती है, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इनको पुरुषार्थ कहते हैं, ये मनुष्य शरीर से ही प्राप्त होता है। इनमें भी अर्थ, धर्म और काम, इन तीन से तो दुख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती, अतएव ये गौण हैं और मोक्ष से सम्पूर्ण दुःखों के निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है, अतः इसको मुख्य पुरुषार्थ अथवा परम पुरुषार्थ कहते हैं। यह अखिल श्रुति शास्त्रों का सिद्धान्त है कि अर्थादि का साधन कर्म है, परन्तु बिना आत्म ज्ञान के परम पुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे

श्रुतिः-ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। अर्थात् बिना आत्मज्ञान के मुक्ति
हो सकती, इत्यादि। जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान को ही श्रु
शास्त्रों में आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, कैवल्य, नि
स्वरूप, परमगति, परमधाम, त्रिपादि, विभूति इत्यादि नामों
कहा गया है। यदि जीव और ब्रह्म की एकता श्रुति शास्त्रों
सिद्धान्त नहीं माना जायगा, तो वे अप्रमाणिक हो जायंगे। क्यों
'मैं ब्रह्म नहीं हूँ किन्तु जीव हूँ' इस प्रकार का भेदज्ञान तो स
मनुष्यों को है फिर इसी को श्रुति शास्त्र भी कह कर लोकों
कौन कल्याण करेंगे? यदि इस भेदज्ञान से ही परम सुख
प्राप्ति होती तो सभी जीव सुखी हो जाते, परन्तु इससे तो दुःख
ही वृद्धि देखने में आती है, अतएव 'तरति शोकमात्मवित्' अ
आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है तथा 'द्वितीया द्वै भयं भ
अर्थात् ब्रह्म मुझसे भिन्न है, इस द्वैत ज्ञान से निस्सन्देह जन्मम
रूप भय की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवात्मा तथा परमा
की एकता रूप ज्ञान की प्राप्ति से महान अर्थ की प्राप्ति तथा
ज्ञान से भय रूप अनर्थ की उपलब्धि श्रुति वर्णन करती है।
समय भगवान राम के सन्निकट, कर्मी, उपासक तथा ज्ञानी
और श्री हनुमान जी महाराज के चरण कमलों की सेवा कर
थे, इतने ही में अन्तर्यामी भगवान राम समस्त जनों की अभि
जान हनुमान जी से बोले—हनुमान! तू कौन है? अर्थात्
कर्मी है? या भक्त है? अथवा ज्ञानी है? हनुमान जी तुरन्त
उठे—देह दृष्ट्या तु दासोऽहं जीव बुद्ध्या त्वदंशकः। वस्तु
तदेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥ अर्थात् देह दृष्टि से तो मैं दास
(क्योंकि यह शरीर प्रत्यक्ष ही सेवा कर रही है) जीव बुद्धि
अर्थात् अन्तःकरण रूप उपाधि से आप का एक अंश हूँ

वास्तव में तो मैं ब्रह्म ही हूँ. यह मेरा निश्चय सिद्धान्त है। देखिये यह परम वैष्णव श्री हनुमान जी का अटल सिद्धान्त।

पुर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा और परमात्मा की एकता रूप ज्ञान से ही परमानन्द की प्राप्ति एवम् समस्त दुखों की निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु यह ज्ञान अन्तः करण के शुद्ध तथा स्थिर हुये विना नहीं हो सकता, अतएव चित्त शुद्ध निमित्त पहले पहल अपने वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने की परमावश्यकता है। व्यास जी ने भी ब्रह्म सूत्र में कहा है—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन निष्काम भाव तथा ईश्वरार्पण पूर्वक करके विवेक, वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्म (ज्ञान) की इच्छा करें। यह कथा आत्म पुराण में प्रसिद्ध है कि चित्त शुद्ध रहित तथा वैराग्य हीन कर्म त्यागी कोटि सन्यासियों का इन्द्र ने वध कर दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि चित्त-शुद्धि के विना कर्म त्याग से लोक तथा परलोक उभय भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः इस रामगीता का यह सिद्धान्त है कि निष्काम कर्म तथा उपासना द्वारा चित्त को शुद्ध एवम् स्थिर करके विवेक आदि साधनों से सम्पन्न होकर सद्गुरु से ज्ञान पाकर मोक्ष की प्राप्ति करले।

पाठकों !

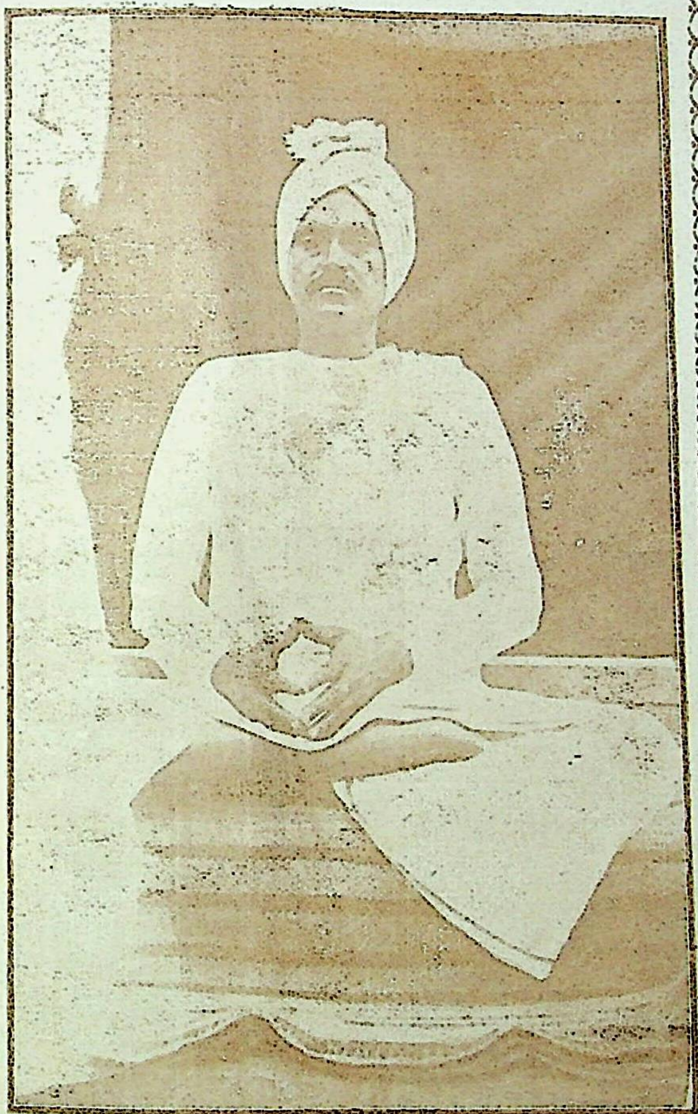
प्रान्त गाजीपुर ग्राम शेरपुर बड़ा निवासी श्रीमान् परमहंस राय (चौधरी) जी ने लोकों के कल्याणार्थ पूर्वक अपने चित्त की शुद्धि निमित्त यह पुस्तक छपा कर प्रकाशित करने के लिये मुझसे प्रार्थना की। उन्होंने विचारा कि और विषयों का प्रचार तो बड़े जोरो से हो ही रहा है, परन्तु जिससे जीवों को परम शान्ति रूप सुख मिलता है, ऐसे वेदान्त विषय का प्रचार न्यून रूप में है। अतः मैं भगवान

के मुखारविन्द से निकली हुई राम-गीता का ही अनुवाद कराके अपनी अभिलाषा पूर्ण करूं। सज्जनों ! यद्यपि मैं न तो कोई बुद्धिमान हूँ, न विद्वान, तथापि मैंने सबके आत्मा रूप राम को कृपा तथा राम स्वरुप सन्तो के समागम के प्रभाव से यत् किञ्चित् इस राम-गीता का अभिप्राय अनुवाद द्वारा प्रकट करने का साहस किया। विस्तार भय से इस ग्रन्थ में वेदान्त की बहुत प्रक्रियायों का कथन नहीं किया गया है। इसमें पहले श्लोक; उसके बाद पदच्छेद फिर अन्वयार्थ. इस प्रकार लिखे गये हैं कि बायें की ओर अन्वय के सहित संस्कृत शब्द और दाहिने प्रत्येक शब्दों के हिन्दी में अर्थ लिखे गये हैं। अर्थ के ठीक-ठीक बैठ जाने के लिये जहां तहां अन्य शब्द मिलाये गये हैं। जहां संस्कृत शब्द मिलाये गये है, उनके सामने + इस प्रकार के चिन्ह तथा उसके हिन्दी अर्थ ( ) ऐसे कोष्टों में बन्द कर दिये गये हैं। अन्वयार्थ के बाद भावार्थ लिखा गया है।

आपका—

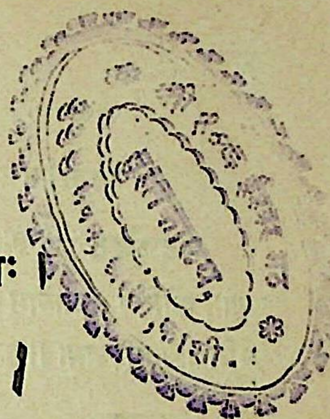
"राम"

विषय-सूची ।



उदारचेता महानुभाव श्री बाबू परमहंस राय (चौधरी)
शेरपुर कलां, गाजीपुर ।





श्री परमात्मने नमः ।

रामगीता ।

मङ्गलाचरण—

नीलोत्पलनिभो रामो लक्ष्मणः कैरवोपमः ।
मानसे राजतां मे तौ बोधवैराग्यविग्रहौ ॥ १ ॥

नीलमणि के समान राम जी की कान्ति है, तथा पीत कमल के समान लक्ष्मण जी की । वे दोनों बोध तथा वैराग्य के स्वरूप (राम लक्ष्मण) मेरे हृदय में निवास करें ॥ १ ॥

उपोद्घात *

श्री महादेव उवाच ।

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना
विधाय रामायण कीर्तिमुत्तमाम् ।

---

* किसी विषय को मन में रख कर उस विषय की सिद्धि के लिये अन्य प्रसंगो के कथन को 'उपोद्घात' कहते हैं । जैसेः—किसी

चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो
राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥ १ ॥

पदच्छेदः—ततः, जगत्, मंगल, मंगलात्मना, विधाय, रा
यणः, कीर्तिम्, उत्तमाम्। चचार, पूर्वाचरितम्, रघूत्तमः, राजर्षि
अभिसेवितम्, यथा ॥ १ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
महादेव उवाच	=महादेव जी बोले
ततः	=तदन्तर
रघूत्तमः	=रघुकुल में श्रेष्ठ(श्रीरामच
जगन्मंगलमंगलात्मना	=संसार का मंगल करने वा मंगलमय शरीर
रामायण कीर्तिम् उत्तमाम्	=रामायण रूप उत्तम कीर्ति
विधाय	=स्थापना कर
यथा	=जैसा
राजर्षिवर्यैः	=राजर्षियों ने
अभिसेवितम्	=सेवन किया है

ने मट्ठे (छाक) की आवश्यकता से दूसरे से पूछा कि तूने
रखी है ? यदि रक्खी है, तो दूध देती है या नहीं ? यदि दूध दे
तो पी जाता है या दधि जमाता है ? यदि दधि जमाता है तो उसे
जाता है या मट्ठा बनाता है ? यदि मट्ठा बनाता है तो थोड़ा मुझे
देना। देखो ! एक मट्ठे के अभिप्राय से उसने कितने और प्रश्नों
का कथन किया, इसी को 'उपोद्घात' कहते हैं।



तथा + =(वैसाही)
पूर्वआचरितम् =पहले के आचरण को
चचार =करने लगे।

भावार्थ—सपरिवार रावण का वध कर के तथा भक्त विभीषण को लङ्कापुरी का राज्य देकर राज्य सिंहासन पर बैठने के बाद, संसार में छा गया है यश जिनका; जो रघुवंशियों में श्रेष्ठ हैं; जिन्होंने शिर पर मोर मुकुट धारण किया है; जिनके ललाट पर केसर की खौर लगी है; जिनका सदा प्रसन्न मुख है; जिनके कानों में कुण्डल तथा गले में मणि और मोतियों की माला सुशोभित है। जिनका हृदय विशाल है तथा जिनकी भुजाएं जानुपर्यन्त हैं; जो हाथों में धनुष-बाण लिए तथा नीलमणि के समान श्याम शरीर पर पीताम्बर धारण किए हैं। जिनकी कटि में कर्धनी विराजमान है; जिनके पैरों में सुन्दर कड़े हैं एवं जिनकी अंगुलियों में नूपुर प्रकाशमान हैं। जिनके चरण, हाथ तथा नयन अरुण कमल के सदृश हैं, जिनका मुख चन्द्र-भक्त चकोरों के लिए आनन्दप्रद है, जो उपासकों के चित्त को शुद्ध तथा शान्त कर त्रिविध तापों को दूर करने वाले एवं भुक्ति-मुक्ति के देने वाले सदा मुक्त स्वरूप हैं। ऐसे भगवान राम ने भक्तों के पुण्य तथा दुष्टों के पाप से प्रकट हुए अपने मायामय दिव्य शरीर से सदाचार, कर्म, उपासना और ज्ञान से युक्त रामायण रूपी उत्तम कीर्ति की स्थापना की। उसके बाद पूर्वकाल में जैसा राजर्षियों ने आचरण किया था, वैसा ही करने लगे। जैसे—गो, ब्राह्मण की

रक्षा, प्रजा-पालन, सन्ध्या-बन्दन, अग्निहोत्र, अतिथि-
सन्त-समागम, इत्यादि ॥ १ ॥

सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना
राम: कथा: प्राह पुरातनी: शुभा: ।
राज्ञ: प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो
द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघव: ॥ २ ॥

पदच्छेद:—सौमित्रिणा, पृष्ट:, उदारबुद्धिना, राम:,
प्राह, पुरातनी:, शुभा: । राज्ञ:, प्रमत्तस्य, नृगस्य, शापत:, द्विजस्य,
तिर्यक्त्वम्, अथ, आह, राघव: ॥ २ ॥

अन्वय:—	अर्थ—
उदार बुद्धिना	=उदार बुद्धि
सौमित्रिणा	=लक्ष्मण जी के द्वारा
पृष्ट:	=पूछने पर
राम:	=राम चन्द्र
पुरातनी:	=प्राचीन
शुभा:	=उत्तम
कथा:	=कथाएँ
प्राह	=कहा करते थे
अथ	=तदनन्दर
राघव:	=रघुनाथ जी ने
प्रमतस्य	=प्रमत्त
राज्ञ:	=राजा

नृगस्य =नृग की
द्विजस्य =ब्राह्मण के
शापतः =शाप से
तिर्यक्त्वम् =तिर्यग् योनि की प्राप्ति
आह =कही ।

भावार्थः—स्वयं सकल शास्त्र के ज्ञाता होते हुए भी उदार बुद्धि श्री लक्ष्मण जी सत्संग के आनन्द-निमित्त तथा खास कर जगत के कल्याण के लिए श्री रघुनाथ जी से प्राचीन उत्तम कथाएं सुना करते थे। क्योंकि उदार पुरुषों के कार्य परोपकार के लिए हुआ करते हैं। भगवान श्री रामचन्द्र जी के मुखारविन्द से निकला हुआ जो यह सच्चा ज्ञान (रामगीता) जगत को सुलभ हुआ, वह लक्ष्मण जी की उदारता का ही परम फल है। श्री रामचन्द्र जी ने भगवद्भक्ति विहीन राजा नृग की कथा सुनायी जो प्रमाद वश अहङ्कार से सकाम कर्म (गो-दान) किया करता था, उससे ब्राह्मणों ने शाप दे दिया कि तू तिर्यग्योनि गिरगिट के शरीर को प्राप्त हो जा। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिहीन सकाम कर्म दानादि से जीव का कल्याण नहीं हो सकता; किन्तु निष्काम कर्म तथा भगवद्भक्ति के द्वारा आत्म ज्ञान से ही कल्याण हो सकता है। ब्राह्मण के शाप का चरितार्थ होना तप का फल है ॥ २ ॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपाद पंकजम् ।

सौमित्रिरासादित शुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या बिनयान्वितोऽब्रवीत्।

पदच्छेदः—कदाचित्, एकान्ते, उपस्थितम्, प्रभुम्, रमालालितपादपङ्कजम्, सौमित्रः, आसादितः, शुद्ध प्रणम्य, भक्त्या, विनयान्वितः, अब्रवीत्।

अन्वयः—	अर्थ—
कदाचित्	=कभी
प्रभुम्	=भगवान
रामम्	=राम
रमालालितपादपङ्कजम्	=जिनके चरण कमल लक्ष्मी से सेवित
एकान्ते	=एकान्त में
उपस्थितम्	=बैठे थे
शुद्ध भावनः	=शुद्ध बिचार से
आसादितः	=युक्त
सौमित्रिः	=लक्ष्मण जी
भक्त्या	=भक्ति के द्वारा
प्रणम्य	=प्रणाम करके
विनयान्वितः	=विनय के सहित
अब्रवीत्	=बोले।

भावार्थः—'जिनके चरण कमल श्रीलक्ष्मी जी से है;' इस वचन से सिद्ध होता है कि नर विग्रह धारी रामचन्द्र सं नहीं हैं, किन्तु लक्ष्मी पति साक्षात् ईश्वर हैं और श्री लक्ष्मी सेवित होने पर भी असङ्ग हैं, क्योंकि पहले मंगला चरण में

या है किः-बोध वैराग्य विग्रहौ। जो बोध (ज्ञान) स्वरूप हैं।
ान स्वरूप में लक्ष्मी (माया या अज्ञान) का चारा कहाँ कि,
ाहित कर सके। भगवान रामचन्द्र किसी दिन एकान्त में बैठे थे;
ष्काम कर्म तथा राम की उपासना (सेवा) से शुद्ध हो गया है
न्तःकरण जिनका; तथा विवेक, वैराग्यादि से सम्पन्न हैं जो, ऐसे
ी लक्ष्मण जी मोक्ष की उत्कट इच्छा से ज्ञान-दीक्षा के लिए
हाँ गये। प्रभु के पास जा उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम कर अति
वनीत भाव से बोले—(क्योंकि श्रीमद्भागवद्गीता में अर्जुन
े प्रति श्री कृष्णचन्द्र जी ने कहा है—तद्विद्धि प्रणिपातेन परि-
श्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ अर्थात्
अर्जुन! ब्रह्मतत्त्व के जानने वाले ज्ञानी पुरुष तेरे लिए ज्ञानो-
देश करेंगे; परन्तु उस ज्ञान को प्रणाम, सेवा तथा शुद्ध भाव से
श्न कर के जानो। क्योंकि प्रणामादि से ब्रह्मतत्व की जिज्ञासा
ानी जाती है। केवल प्रणाम तो बंचक भी कर सकता है, परन्तु
श्न का नियम मुमुक्षु के सिवा दूसरा नहीं जान सकता। प्रश्न
ी रीति कहीं से धूर्त भी सीख सकता है, परन्तु सेवा नहीं कर
कता। इसलिए भगवान ने प्रणाम और प्रश्न के साथ सेवा भी
ही है)॥ ३॥

त्वं शुद्ध बोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्माऽस्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसंगसंगिनाम्॥ ४॥



पदच्छेदः— त्वम्, शुद्धः, बोधः, असि, हि, सर्वदे-
नाम्, आत्मा, असि, अधीशः, असि, निराकृतिः, स्वयम् । प्रती-
यसे, ज्ञान दृशाम्, महामते, पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम्, ॥ ४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
महामते	= हे महामते !
त्वम्	= तू
हि	= निस्सन्देह
शुद्धः	= शुद्ध
बोधः	= ज्ञान स्वरूप
असि	= है ।
सर्व	= सम्पूर्ण
देहिनाम्	= देहधारियों के
आत्मा	= आत्मा
च +	= (और)
स्वयम्	= स्वरूप से
निराकृतिः	= निराकार
असि	= है
तव +	= (आपके)
पदाब्जभृङ्गाहितसंग संगिनाम्	= चरण कमलों के भ्रमर जो सं- हैं, उनके सहवास के प्रेमियों
त्वम् +	= (तू)
ज्ञानदृशाम्	= ज्ञान दृष्टि से
प्रतीयसे	= प्रतीत होता है ।

भावार्थ—हे महामते! आप शुद्ध ज्ञान-स्वरूप होने से सम्पूर्ण देह धारियों के आत्मा हैं। श्रीमद्भागवद्गीता में भी भगवान कहते हैं—क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारतः। अर्थात् हे भारत! सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र को जानने वाला) भी मुझको जानो॥ और भी—अहमात्मा गुडा केश सर्व भूताशयः स्थितः। अर्थात् हे निद्रा के जीतने वाले अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा मैं हूँ॥ और हे भगवन्! ज्ञान स्वरूप आत्मा होने से सबके स्वामी भी आप ही हैं। क्योंकि जैसे स्वामी की प्रेरणा से अनुचर अपने अपने कर्म में नियुक्त होते हैं वैसे ही यह सम्पूर्ण जड़ जगत आपकी सत्ता से ही चेष्टा कर रहा है और आप स्वरूप से स्वयं निराकार हैं। श्रुति भी कहती है—अस्थूलमनरावमहस्वमदीर्घम्। अर्थात् आत्मा आकार रहित होने के कारण न तो स्थूल है, न अणु है न छोटा है और न बड़ा है। परन्तु हे प्रभो! साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के लिए अपने सत्य संकल्प से रचित मायामय साकार स्वरूप के (अपने चित्त के चंचलता के निवृत्ति एवं ज्ञान रूपी परम शान्ति की प्राप्ति के लिए) जो भ्रमर हैं अर्थात् ध्यानी हैं, उन सन्तों के सत्सङ्ग रूपी अमृत को निरन्तर पान करने वालों का हृदय शुद्ध हो कर ज्ञान दृष्टि हो जाती है और उस ज्ञान दृष्टि से आपका वास्तविक स्वरूप जो शुद्ध सच्चिदानन्द घन है, वह दिखलाई देता है॥ ४॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्।

यथाञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधिमाम् ॥ ५

पदच्छेदः—अहम्, प्रपन्नः, अस्मि, पदाम्बुजम्, प्रभो, भवापवर्गम्, तव, योगिभावित् । यथा, अञ्जसा, अज्ञानम्, अपारवारिधिम्, सुखम्, तरिष्यामि, तथा, अनुशाधि, माम्, ॥ ५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
प्रभो	=हे प्रभो !
योगिभावितम्	=योगियों के द्वारा चिन्तन करने योग्य,
भवापवर्गम्	=संसार से छुड़ाने वाले
तव	=तुम्हारे
पदाम्बुजम्	=चरण कमलों के
अहम्	=मैं
प्रपन्नः	=शरण
अस्मि	=हूँ ।
माम्	=मुझे
तथा	=वैसा
अनुशाधि	=उपदेश दीजिए
यथा	=जैसे
अञ्जसा	=सुगमता से
सुखम्	=सुख पुर्वक
अज्ञानम्	=अज्ञान रुपी
अपारवारिधिम्	=अपार समुद्र से
तरिष्यामि	=तर जाऊँ ॥

भावार्थ—ज्ञान दाता ब्रह्मनिष्ठ गुरु को जब तक सब कुछ अर्पण करके शरणागत न हो, तब तक उपदेश का अधिकारी नहीं हो सकता। जैसे शास्त्र में कहा है—यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ अर्थात् जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है और जैसी ईश्वर में है, वैसी ही गुरु में भी है, उसी अधिकारी महात्मा के हृदय में कही हुई ब्रह्म-विद्या (ज्ञान) प्रकाश करती है। इसलिए यदि ज्ञानी गुरु प्रवृत्ति मार्ग वाला गृहस्थ हो, तो तन, मन और धन सब कुछ अर्पण करे और यदि वह निवृत्ति मार्ग वाला सन्यासी हो, तब तो केवल शरीर से सेवा करे और मन से श्रद्धा रखे। सद्गुरु की सेवा ईश्वर की प्रतिमा-पूजन से भी बढ़ कर है, क्योंकि प्रतिमा का पूजन केवल अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु है और गुरु की सेवा से अन्तःकरण की शुद्धि तथा आत्मज्ञान ये दोनों होते हैं। इसी नियम के अनुसार श्री लक्ष्मण जी कहते हैं कि—हे प्रभो! सांसारिक दुख जन्म-मरण के छुड़ाने वाले आपके चरण कमल जिनका योगीजन निरन्तर चिन्तन करते हैं, मैं तन मन धन से उन चरण कमलों के शरण में हो कर आपका शिष्य होता हूँ। आप इस दास पर कृपा कर के ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे मैं अज्ञान रूपी अपार समुद्र को पार कर जाऊँ। इस अज्ञान रूपी समुद्र में विषय जल भरा है; मनोरथ की नाना तरंगें उठ रही हैं, मोह रूपी आवर्त्त (भँवर) और शोक रूपी बड़वानल है। विवेक, वैराग्यादि जिसके किनारे हैं; धैर्य्य, सन्तोषादि तट के वृक्ष हैं और वहाँ तृष्णा पिशाचिनी तथा काम, क्रोधादि पिशाच एवं तर्क-वितर्क रूपी पक्षी निवास करते हैं। हे भगवन्! इस समुद्र में करूलपी

महा मकर रहता है, जो जीवों को मार-मार कर खा जाता है। अतएव मैं दीन दुःख से कातर हुआ आपके शरण में हूँ। शरणागत पर कृपा कीजिए, क्योंकि इस अज्ञान रूपी महासागर से पार करने में एक मात्र आप ही समर्थ हैं ॥ ५ ॥

उपदेश का आरम्भ ।

श्रुत्वाऽथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः ।
विज्ञानमज्ञानतमः प्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—श्रुत्वा, अथ, सौमित्रिवचः, अखिलम्, तदा, प्राह, प्रपन्नार्तिहरः, प्रसन्नधीः । विज्ञानम्, अज्ञानतमः, प्रशान्तये, श्रुतिप्रपन्नम्, क्षितिपालभूषणः ॥ ६ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अथ	=तदनन्तर
सौमित्रिवचः	=लक्ष्मण जी के वचन
अखिलम्	=सम्पूर्ण
श्रुत्वा	=सुनकर
तदा	=तब

प्रपन्नार्तिहरः =शरणागत के दुख नाशक
क्षिति पालभूषणः =भूपाल शिरोमणि भगवान राम
श्रुति प्रपन्नम् =सुनने के लिये उत्सुक
लक्ष्मणम् + =(लक्ष्मण को)
तम प्रशान्तये =अज्ञानान्धकार के नाश निमित्त
प्रसन्नधीः =प्रसन्न चित्त से
विज्ञानम् =विशेष रुप से ज्ञान को
प्राह =कहने लगे

भावार्थः—जैसे अपने प्रिय बछड़े को पाकर गौएँ प्रसन्न होकर दुग्ध पिलाने लगती है, वैसे ही परम श्रद्धालु वैराग्य स्वरूप श्री लक्ष्मण जी सरीखे अधिकारी को पा शरणागत वत्सल भूपाल शिरोमणि भगवान रामचन्द्र जी प्रसन्न चित्त से अज्ञान रूपी अन्धकार का नाशक विशेष रूप से ज्ञानोपदेश करने लगे; ठीक ही तो है—गूढ़ो तत्त्व न सन्त दुरावहिं। आरत अधिकारी जहं पावहिं॥ सन्त जन शरण में आये हुये अधिकारी के प्रति गोपनीय तत्त्व को भी नहीं छिपाते। परन्तु अनाधिकारी के प्रति प्रकट नहीं करते, क्योंकि कहा है—मरुस्थले यथा वृष्टि यंथा दीपो दिवाकरे। यथा अन्नमजीर्णस्याद्वित्तं च गलितस्पृहः॥ उपदेशो तथा ज्ञानमधिकारो बिना प्रति॥ जैसे मरुस्थल में वृष्टि, दिन में दीपक, अजीर्ण के प्रति अन्न और निस्पृही वैराग्यवान् के प्रति धन देना निरर्थक है, वैसे ही अनाधिकारी के प्रति ज्ञानोपदेश निरर्थक है॥ ६॥

———

गुरुपसत्ति ।

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्ध मानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— आदौ, स्ववर्णाश्रमवर्णिताः, क्रियाः, कृत्वा, समासादित, शुद्धमानसः । समाप्य, तत्, पूर्वम्, उपात्तसाधनः, समाश्रयेत्, सद्गुरुम्, आत्मलब्धये ॥ ७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
आदौ	=पहले-पहले
स्ववर्णाश्रमवर्णिताः	=अपने वर्णाश्रम की वर्णित
क्रियाः	=क्रियाओं को
कृत्वा	=कर के
समासादितशुद्धमानसः	=अन्तःकरण की शुद्धि से सम हाेकर
तनिकर्माणि +	=(उन कर्मों को)
समाप्य	=छोड़ कर
तत्	=उससे (गुरुशरणागति के)
पूर्वम्	=पहले
उपात्तसाधनः	=साधनों से सम्पन्न होकर

आत्मलब्धये . =आत्म प्राप्ति के लिये
गुरुम् =गुरु के
समाश्रयेत् =शरणगत हो।

भावार्थ—जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक समान होने पर भी स्वच्छ दर्पण या जल में ही प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्व व्यापी आत्मा अपना स्वरूपहोने से अन्तः करण में सर्वदा प्रकाशित है। यथा—हृदाकाशे चिदादित्य सदा भासति भासति॥ अर्थात् हृदय रूपी आकाश में चैतन्य (आत्मा) रूपी सूर्य सदा प्रकाशित है॥ परन्तु वासना (पाप) रूपी मलीनता से प्रतीत नहीं होता; इसलिये जीव दुखी हो रहे हैं। जैसे गोस्वामी तुलसी दास जीने कहा है—अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। बिनु जाने जग जीव दुखारी॥ अतः आत्म ज्ञान के लिये हृदय को शुद्ध (स्वच्छ) करना आवश्यक है। इसलिये भगवान राम कहते हैं—सबसे पहले अपने अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रमें बतलायी हुई क्रियाओं का विधिवत् पालन करके चित्त को शुद्ध करे। अन्यत्र भी कहा है--चित्तस्य शुद्धये कर्म ॥ चित्त शुद्धि के लिये कर्म हैं॥ बुद्धि का सात्विक हो जाना ही चित्त की शुद्धि है। यद्यपि सकाम कर्म से भी बुद्धि में सतोगुण होता है, परन्तु वह तभी तक रहता है, जब तक कर्मफल का भोग पूरा नहीं हो जाता। पुण्य-फल सुखोपभोग के समाप्त होते ही फिर बुद्धि में रजोगुण-तमोगुण बढ़ जाते हैं। और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये ईश्वरार्पण पूर्वक जो निष्काम कर्म किये जाते हैं, वे उनके फलस्वरूप सुख मिलने के बाद भी बुद्धि सात्त्विक बनी रहती है, और केवल उस बुद्धि से ही विवेक, वैराग्य, शमदमादि, साधन होते हैं। सकाम तथा निष्काम कर्म में

यही अन्तर है ॥ श्रुति सेतु पालक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान कहते हैं कि-चित्त की शुद्धि (वासना रहित) हो जाने पर सम्पूर्ण को छोड़ कर तथा शम दमादि साधनों से युक्त होकर आत्म के लिये सद्गुरु के शरण में जाय। जैसे श्रुति भगवती कहती है तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवभि गच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठं अर्थात् उस आत्मज्ञान के लिये हाथ में कुछ भेंट लेकर श्रो ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरण में जाय ॥ श्रुति-शास्त्रों के अद्वैत-सिद्धि के जानने वाले को श्रोत्रिय तथा ब्रह्मात्मा को अपरोक्ष (साक्षात्) कर उसमें निष्ठा रखने वाले को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं ॥ ७ ॥

ज्ञान और कर्म की मीमांसा।

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः—क्रियाः, शरीरोद्भवहेतुः, आदृताः, प्रिय-प्रियौ, ताः, भवतः, सुरागिणः। धर्मेतरौ, तत्र, पुनः, शरीरकम्, पुनः क्रियाः, चक्रवत्, ईर्यते, भवः ॥ ८ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
क्रियाः	=क्रिया (कर्म)
शरीरोद्भवहेतुः	=शरीरोत्पत्ति का कारण
आदृताः	=मानी गयी है,
तौ	=उनमें
सुरागिणः	=प्रीति वालों से
प्रियाप्रियौ	=इष्ट-अनिष्ट (कर्म)
भवतः	=होते हैं
ताभ्याम् +	=(उनसे)
पुनः	=फिर
तत्र	=वहां
धर्मेतरौ	=धर्मा धर्म
भवतः +	=(होते हैं),
पुनः +	=(फिर)
ताभ्याम् +	=(उनसे)
शरीरकम्	=शरीर होता है,
पुनः	=फिर
क्रियाः	=कर्म होते हैं,
इति +	=(इस प्रकार)
चक्रवत्	=चक्र के समान
भवः	=संसार
ईर्यते	=चलता रहता है।

भावार्थ—अपने अद्वितीय आत्मस्वरुप के अज्ञान से नानात्व जगत् दिखलायी देता है, उस जगत के नाना पदार्थों में

अनुकूल तथा प्रतिकूल बुद्धि होती है, फिर अनुकूल पदार्थ से प्रेम; प्रतिकूल पदार्थ से द्वेष होता है। उसके बाद प्रिय पदार्थ की प्राप्ति अप्रिय पदार्थ की निवृत्ति के लिये शुभाशुभ कर्म होते हैं। शुभाशुभ कर्मों से पुण्य तथा पाप की उत्पत्ति होती है; उन तथा पाप का फल सुख तथा दुःख के भोग निमित्त शरीर मि है और शरीर पाने से फिर कर्म होते हैं। इस प्रकार 'संसार' चलता रहता है। अतएव इस संसार-चक्र का मूल कारण स्वरूप का अज्ञान ही है और उसका नाश ज्ञान से ही होता कि कर्म से। इसी बात को आगे के श्लोक में कहते हैं: ॥ ८॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः—अज्ञानम्, एव, अस्य, हि, मूलकारण तत्, धानम्, एव, अत्र, विधौ, विधीयते। विद्या, एव, तत्, नाशविधौ पटीयसी, न, कर्म, तत्, जम्, स, विरोधम्, ईरितम्, ॥ ९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
हि	=निस्सन्देह
अस्य	=इस संसार का
मूलकारणम्	=मूलकारण
अज्ञानम् एव	=अज्ञान ही है
च +	=(और)

अत्र	=यहाँ
विधौ	=विधि वाक्यों में
तत्	=उस अज्ञान का
ध्वानम् एव	=नाश ही
विधीयते	=बतलाया गया है,
तत्	=उस अज्ञान का
नाश विधौ	=नाश करने में
विद्या एव	=विद्या (ज्ञान) ही
पटीयसी	=समर्थ है,
तत् जम्	=उस अज्ञान से उत्पन्न हुआ
सः	=वह
कर्म	=कर्म
विरोधम्	=विरोधी
न ईरितम्	=नहीं हो सकता

भावार्थ——जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी का अज्ञान ही सर्प-प्रतीति तथा उस सर्पजन्य भय का हेतु होता है, वैसे ही अपने स्वरूप का अज्ञान ही नानात्व जगत् की प्रतीति, राग द्वेष, शुभाशुभ कर्म एवं कर्मभोग-निमित्त शरीरोत्पत्ति का हेतु है। और शास्त्रीय विधिवाक्यों में उस अज्ञान का नाश करना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य बतलाया गया है। अज्ञान का नाश करने में उससे उत्पन्न हुआ कर्म नहीं समर्थ हो सकता, बल्कि केवल एक ज्ञान ही हो सकता है। क्यों कि ऐसा नियम ही है कि उत्पन्न हुआ कार्य अपने कारण का विरोधी नहीं हो सकता। इसी से कहा है—कर्मणा बध्यते जन्तुर्ज्ञानेन प्रमुच्यते। तस्मात् कर्मन

कुर्वन्तियतयः पारदर्शिनः ॥ अर्थात् प्राणी कर्म करके बंध और ज्ञान के द्वारा मुक्त होता है, इसलिए पारदर्शी यती कर्म नहीं करते ॥ ९ ॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानबिचारवान्भवेत् ॥ १०॥

पदच्छेदः—न, अज्ञानहानिः, न, च, रागसंक्षयः, भवेत्, ततः, कर्मसदोषम्, उद्भवेत् । ततः, पुनः, संसृतिः, अपि, अवारिता, तस्मात्, बुधः, ज्ञान, विचारवान्, भवेत् ॥ १०॥

अन्वयः—	अर्थ—
कर्मणा +	= (कर्म के द्वारा)
अज्ञान हानिः	=अज्ञान का नाश
च	=और
राग संक्षयः	=राग का क्षय
न भवेत्	=नहीं हो सकता,
ततः	=उससे
कर्मसदोषम्	=सदोष कर्म
उद्भवेत्	=उत्पन्न होता है,
ततः	=उससे
पुनः	=पुनः
संसृतिः	=संसार की प्राप्ति

अपि	=भी
अवारिता	=अनिवार्य है।
तस्मात्	=इसलिये
बुधः	=बुद्धिमान पुरुष
ज्ञान विचारवान्	=ज्ञान का विचारवाला
भवेत्	=होवे।

भावार्थ—कर्म के द्वारा अज्ञान का नाश तथा राग का क्षय नहीं हो सकता। क्योंकि शुभाशुभ कर्मों से पुण्य-पाप की उत्पत्ति होती है और पुण्य-पाप के फल से इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थ मिलते हैं; पुनः इष्ट पदार्थ के भोग से राग की वृद्धि होती है, क्यों कि विषय रूपी घृत के पड़ने से कामना रूपी अग्नि कभी शान्ति नहीं होती; बल्कि बढ़ती ही जाती है, जैसे तुलसी दास जी ने कहा है—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। फिर अनिष्ट पदार्थ की उपलब्धि में द्वेष होता है। उसके बाद अनुकूल विषय की प्राप्ति एवं प्रति कूल विषय की निवृत्ति के लिये अनेक सदोष कर्म होते हैं, उनसे फिर शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार संसार-चक्र का रुकना असम्भव हो जाता है। संसार-चक्र में रहने से बुद्धि मलीन होती जाती है, और उस मलीन बुद्धि से अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता; बल्कि अज्ञान बढ़ता है। अतएव बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि ज्ञान के ही विचार में तत्पर रहे। क्यों कि ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है और अज्ञान के नाश होते ही कोई भी पदार्थ अपने से भिन्न नहीं प्रतीत होता। अपने से भिन्न पदार्थ की प्रतीति न होने से इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धि नहीं होती; इष्ट-अनिष्ट

बुद्धि के अभाव से राग द्वेष नहीं होते; राग द्वेष के अभाव से शुभ कर्म नहीं होते; शुभाशुभ कर्मों के अभाव से पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती; पुण्य-पाप के अभाव से शरीर नहीं मिलता और शरीर के अभाव से संसार-चक्र बन्द हो जाता है! अतः ज्ञान ही परम तत्त्व है ॥ १० ॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः—ननु, क्रिया, वेदमुखेन, चोदिता, तथा, एव, विद्या, पुरुषार्थसाधनम्, कर्तव्यता, प्राणभृतः, प्रचोदिता, विद्या-सहायत्वम्, उपैति, सा, पुनः ॥ ११ ॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
ननु	=वितर्क वादी कहते हैं—
यथा +	=(जिस प्रकार)
वेदमुखेन	=वेद के कथन से
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
पुरुषार्थ साधनम्	=पुरुषार्थ का साधक है,
तथा एव	=वैसे ही
क्रिया	=क्रिया (कर्म)
चोदिता	=वेद विहित है
च +	=(और)

प्राणभृतः = प्राणियों के लिये
कर्तव्यता = कर्तव्यता का
प्रचोदिता = विधान है,
तस्मात् कारणात् + = (इस लिये)
पुनः = फिर
सा = वह क्रिया (कर्म)
विद्या सहायत्वम् = विद्या (ज्ञान) का सहकारी
उपैति = हो जाती है ।

भावार्थ—कुछ वितर्कवादी कहते हैं कि—जिस प्रकार वेद के कथनानुसार ज्ञान मोक्ष का साधक है, जैसे-ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ॥ अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इत्यादि । वैसे ही कर्म भी वेद विदित है, जैसे-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजीविषेच्छतं समाः ॥ अर्थात् सौ वर्ष यानी आयु पर्यन्त कर्म करते हुये जीने की इच्छा करो, इत्यादि ॥ इसलिये वह कर्म ज्ञान का सहकारी हो जाता है । यदि कर्म ज्ञान का सहकारी नहीं होता तो उसे करने का विधान वेद में क्यों होता ? अतः कर्म के सहित ज्ञान (कर्म और ज्ञान के समुच्चय) से ही मोक्ष की सिद्धि होती है ॥ ११ ॥

कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा ।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुव कार्य कारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाऽप्यपेक्षते ॥

न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः ।
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ॥
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥ १२-१३

पदच्छेदः—कर्माकृतौ, दोषम्, अपि, श्रुतिः, तस्मात्, सदा, कार्यम्, इदम्, मुमुक्षुणा। ननु, स्वतन्त्रा, कार्यकारिणी, विद्या, न, किञ्चित्, मनसा, अपि, अपेक्षते॥ सत्कार्यः, अपि, हि, यद्वत्, अध्वरः, प्रकाङ्क्षते, अन्यान्, कारकादिकान्। तथा, एव, विद्या, विधिता, प्रकाशतैः, विशिष्यते, कर्मभिः, एव, मुक्तये ॥ १२-१३ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
श्रुति	=श्रुति ने
कर्माकृतौ	=कर्म न करने में
दोषम् अपि	=दोष भी
जगौ	=बतलाया है,
तस्मात्	=इसलिए
मुमुक्षुणा	=मुमुक्षु के द्वारा
इदम्	=यह कर्म
सदाकार्यम्	=सदा करने योग्य है
ननु	=यदि कहे कि
विद्या	=विद्या (ज्ञान)

ःवतन्त्रा	=स्वतन्त्र है,
॥ ध्रुवकार्य कारिणी	=निश्चय कार्य करने वाली है अर्थात् अपना फल देने वाली है।
मनसा अपि	=मन से भी
-१३ केञ्चित्	=किसी की
न अपेक्षते	=अपेक्षा नहीं है।
तु	=सो ठीक नहीं (क्योंकि)
ा, वद्वत्	=जैसे
ते ॥ अध्वरः	=यज्ञ
॥, सत्कार्यः अपि	=सत्कर्म होने पर भी
शि अन्यान्	=अन्य
कारकादिकान्	=कारकादि की
अपि	=भी
हि	=निस्सन्देह
काङ्क्षते	=अपेक्षा करता है,
था एव	=वैसे ही
विधितः	=विधि से
काशितैः	=प्रकाशित
र्मभिः	=कर्मों के द्वारा
व	=ही
द्या	=विद्या (ज्ञान)
क्तये	=मुक्ति के लिये
शिष्यते	=योग्य हो सकती है।

भावार्थ—श्रुति ने कर्म न करने में दोष भी बतलाया है तथा भगवान श्री कृष्ण ने भी अनेक प्रकार के यज्ञों (कर्मों) का वर्णन करते हुये श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—एवम् प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीहयः । अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ अर्थात्—इस प्रकार फैले हुए कर्मचक्र को जो इस संसार में नहीं वर्तता है, वह इन्द्रियों में रमण करने वाला तथा पापमय जीवन वाला व्यर्थ ही जीता है । इसलिये मुमुक्षु (मोक्षके इच्छुक) पुरुष को कर्म सदा ही करते रहना चाहिए, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवम् वह विना किसो की सहायता के अपना फल (मोक्ष) देने में समर्थ है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वेदोक्त यज्ञ सत्य कर्म होने पर अपना फल देने में (होता, ऋत्विक्, यजमानादि) कारकों की सहायता चाहता ही है । वैसे ही ज्ञान भी वेदोक्त होने से कर्म की अपेक्षा अवश्य ही करेगा अर्थात् कर्म के द्वारा ही मुक्ति का साधक होगा । अतः कर्मों का त्याग उचित नहीं है ॥ १२-१३ ॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन–
स्तदप्य सद्दृष्ट विरोध कारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताऽहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥१४॥

पदच्छेदः—केचित्, वदन्ति, इति, वितर्कवादिनः, तत्, अपि, असदृष्टः, विरोधकारणात्, देहाभिमानात्, अभिवर्धते, क्रिया, विद्या, गताऽहङ्कृतितः प्रसिध्यति ॥ १४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
इति	=ऐसा
केचित्	=कोई
वितर्कवादिनः	=वितर्कवादी
वदन्ति	=कहते हैं,
तत्	=उसमें (उनके कथन में)
अपि	=निश्चय करके
विरोधकारणात्	=विरोध होने के कारण
असद्दृष्टः	=ठीक नहीं है।
क्रिया	=क्रिया (कर्म)
देहाभिमानात्	=देहाभिमान से
वर्धति	=बढ़ती है
च +	=(और)
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
गताहङ्कृतितः	=अहंकार के नाश होने पर
प्रसिध्यति	=सिद्ध होती है।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—हे लक्ष्मण! (ग्यारह, बारह एवं तेरहवें श्लोक के अनुसार) कुछ कुतर्की कहते हैं, उनके कथन में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण, वह ठीक नहीं है। क्योंकि जिन अज्ञानी पुरुषों को अपने शुद्ध निष्क्रिय आत्म स्वरूप का बोध नहीं है, वे शरीर को ही आत्मा अर्थात् मैं शरीर हूँ, ऐसा मानते हैं; और शरीर के धर्म जो दुःख-सुख तथा

वर्णाश्रम हैं, उनको अपना मान कर दुःख की निवृत्ति तथा सु
की प्राप्ति निमित्त अनेक प्रयत्न करते हैं, तथा वर्णाश्रम धर्म
भी पालन नाना कामनाओं से करते हैं। इस प्रकार के कर्म दे
भिमान से होते हैं, और—नाहं भूतगणो देही नाहं चाक्ष
स्तथा। एतद्विलक्षणः कश्चित् विचारः सोऽयमीदृशः॥ अर्थात्
पंचभूतों का समूह रूप देह नहीं हूँ, तथा वैसे ही भूतों के विकार
इन्द्रियां भी नहीं हूँ, बल्कि इससे कोई भिन्न हूँ, इस प्रकार का
विचार होता है। इस श्लोक के कथनानुसार विचार करने से
ऐसा बोध हो जाता है कि "मैं देह नहीं हूँ" तब इस प्रकार का
होता है-ब्रह्मैवाऽहं शमः शान्तः सच्चिदानन्द लक्षणः। नाऽहं दे
ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ अर्थात् मैं असत् रूप देह नहीं
बल्कि मैं निष्क्रिय शान्त (निर्विकार) तथा सच्चिदानन्द लक्ष
वाला ब्रह्म ही हूँ, विद्वानों ने इस प्रकार का ज्ञान कहा है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो चुका कि देहाभिमान से क
एवम् देहाभिमान के नाश होने से ज्ञान होता है। अतः कर्म औ
ज्ञान में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों का समुच्चय नहीं
सकता अर्थात् दोनों का पालन एक साथ नहीं हो सकता। प्रश्न
ज्ञानियों में भी कर्म पाये जाते हैं, जैसे-देखना, सुनना, बोल
चलना-फिरना, मल-मूत्र त्यागना, इत्यादि। तब कैसे माना ज
कि कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध है? उत्तर—जिसमें राग
हों एवम् शास्त्रीय विधि निषेध हों, तथा जो कर्ता के आधीन
वह कर्म है। पूर्वोक्त कर्मों में इस प्रकार का राग नहीं होता है

मैं आखों से अवश्य देखूं, कानों से श्रवण करूं, मुख से बोलूं, तथा पैरों से चलूं-फिरूं, एवम् मल-मूत्र त्यागूं क्योंकि इन कर्मों के न करने से मुझे बड़ा दोष होगा; और मल मूत्रादि की आवश्यकता पड़ने पर ऐसा द्वेष भी नहीं होता कि मलमूत्रादि कर्म से मुझे बड़ा कष्ट होता है, अतः मैं न करूं, और ये कर्म कर्ता के आधीन भी नहीं हैं। क्योंकि मल मूत्रादि के वेग होने पर, इच्छा हो या न हो करने ही पड़ते हैं तथा विना वेग के इच्छा होने पर भी नहीं हो सकते, एवम् शास्त्रीय ऐसी विधि नहीं है कि तुम अवश्य देखो, सुनो, चलो तथा मलमत्र त्यागो नहीं तो दोष भागी होगे। और ऐसा निषेध भी नहीं है कि तुम मत देखो, मत सुनो, मत चलो तथा मलमूत्र मत त्यागो, ऐसा करोगे तो दोष होगा। अतः शारीरिक कर्म कर्ता के आधीन न होने तथा रागद्वेष से एवम् शास्त्रीय विधि निषेध से रहित होने से कर्म नहीं हैं। अतएव भगवान श्रीकृष्ण जी भी श्री मद्भगवद्गीता में कहे हैं:—शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ अर्थात्—ज्ञानी केवल शारीरिक कर्म करता हुआ किल्विष को प्राप्त नहीं होता अर्थात् कर्म फल के भोग निमित्त जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता ॥ १४ ॥

विशुद्ध विज्ञान विरोचनाञ्चिता
विद्याऽऽत्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याऽखिल कारकादिकम् ॥१५॥

पदच्छेदः—विशुद्धविज्ञानस्य, विरोचनात्, चिताः, आत्मवृत्तिः चरम, इति, भरायते । उदेति, कर्म, अखिलैः, कारकादिभिः, निहन्ति, विद्या, अखिलम्, कारकादिकम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
विशुद्ध विज्ञानस्य	=विशुद्ध विज्ञान के
विरोचनात्	=प्रकाश से
चिताः	=प्रकाशित (जो)
चरम	=चरम
आत्मवृत्ति	=आत्मवृत्ति होती है (उसे
विद्या	=विद्या (आत्मज्ञान)
इति	=करके
भरायते	=कहा जाता है ।
कर्म	=कर्म
अखिलैः	=सम्पूर्ण
कारकादिभिः	=कारकादि से
उदेति	=होता है,
परञ्च +	=(किन्तु)
विद्या	=विद्या
अखिलम्	=सम्पूर्ण
कारकादिकम	=कारकादि का
निहन्ति	=नाश कर देती है ॥

भावार्थ—वेदान्त वाक्यों का विचार करते करते "मैं शुद्ध
क नित्य परब्रह्म हूँ," इस प्रकार के विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से
काशित जो सर्वश्रेष्ठ अन्तिम अन्तःकरण की वृत्ति होती है,
सी का नाम ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान है। इसके अतिरिक्त कर्म
ता, यजमानादि कारकों की सहायता से होता है, परन्तु ब्रह्म विद्या
होते ही सम्पूर्ण कारकादि का नाश हो जाता है। क्योंकि यज्ञादि
र्म तथा कर्मफल स्वर्गादि एवम् कर्म के कर्ता यजमानादि-ये सभी
विद्या के कार्य हैं और वह अविद्या आत्मा में कल्पित है। जब
आत्मैवेदं सर्व"। अर्थात् यह सब (जगत) आत्मा ही है-इस
ति तथा "सत्यं ब्रह्मजगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"। अर्थात्
ह्म सत्य और जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है; दूसरा नहीं।
स्मृति के अनुसार ब्रह्म विद्या (आत्म ज्ञान) क प्रकाशित
ते ही अविद्या अपने कार्य (कारक, कर्म तथा कर्मफल) के सहित
ष्ट हो जाती है। जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी को जान
ने पर कि यह रस्सी ही है, फिर सर्प की प्रतीति नहीं होती। उसी
कार अपने सहित जगत को ऐसा जान लेने पर कि-'सब ब्रह्म ही
सम्पूर्ण कारकादि के सहित कर्म मिथ्या हो जाता है। यही
न यज्ञ है, भगवान ने भगवद्गीता में इसी की भूरि-भूरि
सा की है। जैसे-ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
वतेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥ अर्थात् श्रुवा ब्रह्म है तथा
द्रव्य भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म स्वरूपी अग्नि में ब्रह्म के द्वारा हवन
या गया है। जिस ज्ञानी पुरुष के द्वारा इस प्रकार कर्म में ब्रह्म

की भावना के द्वारा सम्पूर्ण कारकादि के सहित कर्मों की अनि समझी गयी है, उस समाधिस्थ पुरुष के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त है अर्थात् वह ब्रह्म भूत हो जाता है ॥ १५ ॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसंधानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— तस्मात्, त्यजेत्, कार्यम्, अशेषतः, सु विद्या, विरोधात्, न, समुच्चयः, भवेत । आत्मानुसंधानपराय सदा, निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्ति गोचरः ॥ १६ ॥

अन्वयः—	अर्थ
तस्मात्	=इसलिए
निवृतिसर्वेन्द्रियवृतिगोचरः	=समस्त इन्द्रियों के विषयों निवृत होकर।
सदा	=निरन्तर
आत्मानुसंधानपरायणः	=आत्मानुसंधान में लगा हुआ
सुधीः	=बुद्धिमान पुरुष
अशेषतः	=सम्पूर्ण
कार्यम्	=कर्मों को
त्यजेत्	=त्याग दे,
यतः +	=(क्योंकि)

विद्या विरोधात् = विद्या का विरोधी होने से
समुच्चयः = समुच्चय
न भवेत् = नहीं हो सकता।

भावार्थ—कर्म और ज्ञान में परस्पर विरोध होने तथा अपना फल मुक्ति देने में ज्ञान के स्वतन्त्र होने से दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता; अतएव सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से निवृत्त रह कर आत्मविचार में लगा हुआ बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को त्याग दे। क्योंकि मन को क्षोभित करने वाली ये इन्द्रियां बड़ी बलवान हैं, ये अपने विषयों को पाकर ऐसे उन्मत्त हो जाती हैं कि पुरुष के मन को अपने वश में करके आत्म विचार से विमुख कर देती हैं और फिर अपने विषय भोग के लिए नाना प्रकार के कुकर्मों में प्रवृत्त करती हैं, उन कुकर्मों के करने से पुरुष को नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं, जैसे कहा है—शब्दादिभिः पञ्चभिरेवपञ्चः पंचत्वमायुः स्वगुणेन बद्धाः। कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग मीन भृङ्गा नरः पञ्चभिः रञ्चितः किम्॥ अर्थात्—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पांच विषयों के द्वारा क्रमशः मृगा, हाथी, पतङ्ग, मछली और भ्रमर ये नष्ट हो जाते हैं और जो पुरुष इन पांचों से जकड़ा हुआ है, उसके नाश में क्या सन्देह है? अर्थात् कुछ नहीं। अतः इन्द्रियों से मनको हटा कर आत्मविचार करना ही बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है॥ १६॥

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवाद कर्मणाम्।

नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः॥१६॥

पदच्छेदः—यावत्, शरीरादिषु, मायया, आत्म...
तावत्, विधेयः, विधिवादकर्मणाम्। नेति, इति, वाक्यैः अखिलम्,
निषिध्य, तत्, ज्ञात्वा, परात्मानम्, अथ, त्यजेत्, क्रियाः॥१६॥

अन्वयः—	अर्थ—
यावत्	=जब तक
मायया	=माया से
शरीरादिषु	=शरीरादि में
आत्मधीः	=आत्मबुद्धि है,
तावत्	=तभी तक
विधि वादकर्मणाम्	=वैदिक कर्मों का अनुष्ठान
विधेय	=कर्त्तव्य है,
नेति	='नेति' 'नेति'
इति	=ऐसे
वाक्यैः	=वाक्यों के द्वारा
अखिलम्	=सम्पूर्ण अनात्मपदार्थों का
निषिध्य	=निषेध करके
परात्मानम	=अपने परमात्मा स्वरूप को
ज्ञात्वा	=जान लेने पर
अथ	=फिर
क्रियाः	=समस्त कर्मों को
त्यजेत्	=छोड़ दे।

भावार्थ—(पहले वादी ने कहा था कि कर्म वेद विहित हैं तथा प्राणियों के लिये अवश्य करने का विधान है, एवम् श्रुति ने कर्म के न करने में दोष भी कहा है, उसका उत्तर भगवान राम देते हैं) जब तक माया से मोहित होने के कारण इन्द्रिय, शरीर, प्राणादि में आत्म भावना होने से ऐसा प्रतीत होता है कि—मैं मोटा हूँ, पतला हूँ, श्याम हूँ, गौर हूँ, वर्णाश्रमी हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ, भूखा हूँ, प्यासा हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, इत्यादिः। तभी तक वेद विहित कर्मों का विधान है अर्थात् तभी तक उस पर कर्म करने की वेद की आज्ञा है और तभी तक कर्म के न करने में दोष भी है। परन्तु, जब "नेति-नेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों का निषेध करके अपने परमात्म स्वरूप को जान लेने पर (जैसे सर्व 'खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि' ॥ 'माया मात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' ॥ अर्थात् यह नानात्व जगत कुछ नहीं है, किन्तु निस्सन्देह यह सब ब्रह्म ही है ॥ मैं ब्रह्म हूँ ॥ यह द्वैत जगत माया मात्र (मिथ्या) है; वास्तव में एक ब्रह्म ही सत्य है, इत्यादि) फिर उसे सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ना चाहिए। भगवान श्री कृष्ण जी ने भी श्री मद्भगवद्गीता में कहा है—यस्त्वात्मरति रेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ अर्थात् जो पुरुष अपने आत्मा में ही प्रीति वाला तथा आत्मा में ही तृप्त एवम् आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई भी कर्तब्य (कर्म) नहीं है। और—नैव तस्य कृतेनार्थेनाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥

अर्थात्—न उसके लिये कर्म करने से कुछ अर्थ (प्रयोजन या
है तथा न करने से दोष भी नहीं है एवम् इस भूत समुदाय में
अर्थ का आश्रय भी नहीं है ॥ १७ ॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥ १८ ॥

पदच्छेदः—यदा, परात्मात्मविभेदकम्, विज्ञानम्,
त्मनि, एव, अवभाति, भास्वरम् । तदा, एव, माया, प्रवि
अञ्जसा, सकारकाः, कारणम्, आत्मसंसृतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
यदा	=जिस समय
परात्मात्मविभेद भेदकम् ।	=परमात्मा और जीवात्मा भेद को दूर करने वाला
भास्वरम्	=प्रकाशमय
विज्ञानम्	=विज्ञान
आत्मनि	=अन्तःकरण में
अवभाति	=प्रकाशित होता है,
तदा एव	=उसी समय
आत्मसंसृतेः	=आत्मा के लिए संसार की कारण

ाया	=माया
ञ्जसा	=अनायास
कारका:	=कारकादि के सहित
विलीयते	=लीन हो जाती है।

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्द्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥१९॥

पदच्छेदः—श्रुतिप्रमाणात्, अभिविनाशिताः, च, सा, कथम्, भविष्यति, अपि, कार्य कारिणी। विज्ञान मात्रात्, अमलः, अद्वितीयतः, तस्मात्, अविद्या, न, पुनः, भविष्यति ॥ १९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
श्रुतिप्रमाणात्	=श्रुति-प्रमाण से
अभि बिनाशिताः	=नाश हुई
च	=फिर
सा	=वह
कथम्	=किस प्रकार
कार्यकारिणी	=कार्य करने वाली
भविष्यति	=हो सकती है,
तस्मात्	=इस लिये

अद्वितीयतः	=एक
निर्मलः	=निर्मल
विज्ञान मात्रात्	=विज्ञान मात्र से
पुनः	=फिर
अविद्या	=अविद्या
न भविष्यति	=उत्पन्न नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार अन्धेरी रात में पड़ी हुई को एक बार जान लेने से कि यह सर्पिणी नहीं है, किन्तु र सर्पिणी नष्ट ही हो जाती है, फिर वह अपना कार्य (भय) नहीं कर सकती। वैसे ही "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म" "पुरुष एवे "शिवादन्यन्न किञ्चन" ॥ अर्थात् एकही अद्वितीय ब्रह्म है। सब जगत पुरुष ही है। कल्याण स्वरूप परमात्मा से अन्य भी नहीं है, इत्यादि श्रुति प्रमाण से उस अविद्या के नष्ट का जाने पर वह किस प्रकार अपना कार्य (कारकादि के सहि जनित स्वर्गादि) उत्पन्न कर सकती है? अर्थात् नहीं कर है। इस लिये एक निर्मल ज्ञान मात्र के उदय होने पर फिर अ उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥२

पदच्छेदः—यदि, स्मः, नष्टाः, न, पुनः, प्रसूयते, कर्ता, हम्, अस्य, इति, मतिः, कथम्, भवेत्। तस्मात्, स्वतन्त्रा, न, क्षम्, अपि अपेक्षते, विद्या, विमोक्षाय, विभाति, केवला ॥ २० ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यदि	=जब
स्मः	=एकबार
नष्टाः	=नष्ट हुई अविद्या
पुनः	=फिर
न प्रसूयते	=उत्पन्न नहीं होती,
तर्हि +	=(तो)
अस्य	=इस
बोधाःपुरुषम् +	=(बोधवान पुरुष को)
अहम्	=मैं
कर्ता	=कर्ता हूं,
इति	=ऐसी
मतिः	=बुद्धि
कथम्	=कैसे
भवेत्	=हो सकती है ?
तस्मात्	=इसलिये
विद्या	=विद्या (ज्ञान)
स्वतन्त्रा	=स्वतन्त्र है,
जीवस्य +	=(जीव के)
विमोक्षाय	=मोक्ष के लिये

किम् अपि =किसी की भी
न अपेक्षते =अपेक्षा नहीं है
सा + =(वह)
केवला =अकेला ही
विभाति =प्रकाशती है [समर्थ है]

भावार्थ---अरे ! अन्तः करण, इन्द्रियां, शरी इनके शुभाशुभ कर्म तथा कर्मों के फल धन, स्त्री, पुत्र, स्वर्ग, दि, ये सब मिथ्या ही मेरे शुद्ध स्वरूप में प्रतीत होते थे। बड़ी खेद को बात है कि मैं अपने आनन्द स्वरूप को भूल का अनुभव करता था। अहा हा ! बड़ा आश्चर्य है कि मैं संसार क्या हो गया ? अब तो पता ही नहीं कि इसको कौन ले गया ? जब उत्पन्न हुई विद्या (ज्ञान) के द्वारा एक बार के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त प्रकार का बोध हो जाता है, तो उस को "मैं कर्ता हूँ", ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है ? ज्ञान के होने ज्ञान स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ नहीं रहते अनित्य हो जाते हैं। इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, वह अविद्याजनित कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूपी बन्धन से मुक्त करने में की भी प्रतीक्षा न कर स्वयम् अकेला ही समर्थ है ॥ २० ॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणांस्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ॥ २

पदच्छेदः--सा, तैत्तिरीयश्रुतिः, आह, सादरम्, न्यासम्, प्रशस्ताः, अखिलकर्मणाम्, स्फुटम्, । एतावत्, इति, आह, च, वाजिनाम्, श्रुतिः, ज्ञानम्, विमोक्षाय, न, कर्म साधनम् ॥ २१ ॥

अन्वयः--	अर्थ--
तैत्तिरीय श्रुतिः	=तैत्तरीय शाखा की श्रुति
सादरम्	=आदर के सहित
स्फुटम्	=स्पष्ट
आह	=कहती है कि
अखिल कर्मणाम्	=सम्पूर्ण कर्मों का
न्यासम्	=त्याग
प्रशस्ताः	=श्रेष्ठ है
च +	=(और)
'एतावत्'	='एतावत्'
इति	=ऐसा
वाजिनाम्श्रुतिः	=वाजनेयी शाखा की श्रुति
अपि +	=(भी)
आह	=कहती है कि
विमोक्षाय	=मोक्ष के लिये
साधनम्	=साधन
ज्ञानम्	=ज्ञान है
नकर्म	=कर्म नहीं ।

भावार्थ--तैत्तिरीय शाखा की प्रसिद्ध श्रुति स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मों का त्याग करना अच्छा है । जैसे--न कर्मणा न

प्रजया न धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः । अर्थात् न कर्म से, न प्रजा से, न धन से अमृत (मोक्ष) की आशा पायी जाती है, किन्तु केवल एक कर्मादि के त्याग से ही उसकी प्राप्ति होती है। और वाजसनेयी शाखा की श्रुति भी कहती है—एतावदरे खल्वमृतत्वात् । अर्थात् अरे ! निस्सन्देह मोक्ष के लिए यह ज्ञान है, कर्म नहीं, तथा श्री मच्छङ्कराचार्य जी ने भी 'विवेक चूडामणि' में कहा है—न सांख्येन न योगेन कर्मणा नोन विद्यया । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानेनमुक्तिर्सिध्यति नान्यथा ॥ अर्थात् न सांख्य से, न योग से, न कर्म से और न व्यावहारिक विद्या से मुक्ति होती है, किन्तु केवल एक जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान से ही होती है ॥ २१ ॥

विद्या समत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः ।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥ २२ ॥

पदच्छेदः- विद्यासमत्वेन, तु, दर्शितः, त्वया, क्रतुः, दृष्टान्तः, उदाहृतः, समः । फलैः, पृथक्त्वात्, बहुकारकैः, क्रतुः, संसाध्यते, ज्ञानम्, अतः, विपर्ययम् ॥ २२ ॥

अन्वयः— **अर्थ** —

तु	=और
त्वया	=तूने
विद्यासमत्वेन	=ज्ञान की समानता से

तु:	=यज्ञ (कर्म) का
ष्टान्तः	=दृष्टान्त
दाहृत:	=दिया, सो
म:	=समानता
	=नहीं
र्शित:	=दिखलायी देती है।
फलै:	=फलों के
पृथक्त्वात्	=अलग होने से,
पुन: +	=(फिर)
क्रतु:	=यज्ञ
बहु कारकै:	=बहुत कारकों से
संसाध्यते	=सिद्ध होता है
च +	=(और)
ज्ञानम्	=ज्ञान
अत:	=इससे
विपर्ययम्	=विपरीत है।

भावार्थ—बादी के कथन का स्मरण कराकर उत्तर देते हैं कि तुमने जो कहा था कि वेद विदित होने से यज्ञ और ज्ञान दोनों एक समान हैं। सो ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। जैसे यहां कृषि आदि कर्मों के फल अन्नादि अनित्य हैं, वैसे ही यज्ञादि कर्मों के फल स्वर्गादि भी अनित्य ही है, जैसे श्री मद्भगवद्गीता में कहा है-ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥ अर्थात् वे यज्ञादि के करने वाले पुरुष

उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य के क्षीण हो जाने
फिर मृत्यु लोक में गिर जाते हैं ।। और ज्ञान का फल नि
जैसे वेद में कहा है-तमेव विदित्वा ते मृत्युमेति । अर्थात् उस
त्मा के ही ज्ञान से पुरुष मृत्यु को जीतता है यानी अमर हो
है। इसके अतिरिक्त कर्म कारकादि से सिद्ध होता है और
इसके विपरीत है अर्थात् उसमें कारकादि की आवश्यकता
पड़ती। क्योंकि अपना अज अविनाशी शुद्ध नित्य मुक्त
स्वयं सिद्ध है, उसके जानने में अन्य कारकादि की क्या आ
कता है ।। २२ ।।

ह्यप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ॥ २३

पदच्छेदः--सप्रत्यवायः, हि, अहम्, इति अनात्मधीः, अ
ज्ञाम्, प्रसिद्धा, न, तु, तत्त्वदर्शिनः । तस्मात्, बुधैः, त्याज्य
अविक्रियात्मभिः, विधानतः, कर्म, विधिप्रकाशितम् ।। २३ ।।

अन्वयः— **अर्थ**—

अहम् = मैं
हि = अवश्य
सप्रत्यवायः = पाप का भागी हूँगा
इति = ऐसी
अनात्मधीः = अनात्मबुद्धि

अज्ञानाम्	=अज्ञानियों को
प्रसिद्धा	=होती है,
तु	=परन्तु
नतत्वदर्शिनः	=तत्त्वदर्शियों को नहीं
तस्मात्	=इसलिए
अविक्रियात्मभिः	=विकार रहित चित्त वाले
बुधैः	=बोधवान पुरुषों के द्वारा
बिधिप्रकाशितम्	=वेदविहित
कर्म	=कर्मों का
विधानतः	=बिधि पूर्वक
त्याज्यम्	=त्याग करने योग्य हैं।

भावार्थ—पूर्व जो वादियों का कथन था कि कर्म के न करने में श्रुति दोष बतलाती है,उसका उत्तर देते हैं किः-देहाभिमानी जो अज्ञानी हैं, उनको ऐसी अनात्म बुद्धि हुआ करती है कि मैं मनुष्य हूँ, वर्णी हूँ, आश्रमी हूँ, इसलिए अपने कर्मों के न करने से अवश्य दोष का भागी होऊंगा। श्रुति ने अज्ञानियों की अनात्म बुद्धि का ही अनुवाद करके उन अज्ञानियों से चित्त शुद्धि निमित्त कर्म कराने के लिए दोष बतलायी है। इसलिए निष्काम कर्म के द्वारा जिनका चित्त विकार रहित (शुद्ध) हो गया है उन बोधवान पुरुषों को वेहित कर्मों का भी विधि पूर्वक त्याग कर देना चाहिए॥ २३॥

———

महावाक्य-विचार ।

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्ध मानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्म जीवयोः
सुखी भवेन्मेरु रिवा प्रकम्पनः ॥ २४ ॥

पदच्छेदः—श्रद्धान्वितः, तत्त्वमसि, इति, वाक्यतः, गुरोः, प्रसादात्, अपि, शुद्ध मानसः, विज्ञाय, च, ऐकात्म्यम्, अथ, आत्मजीवयोः, सुखी, भवेत्, मेरुः, इव, अप्रकम्पनः ॥ २४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अथ	=फिर
शुद्धमानसः	=शुद्ध चित्त होकर
श्रद्धान्वितः	=श्रद्धा पूर्वक
गुरोः	=गुरू की
प्रसादात्	=कृपा से
तत्त्वमसि	='तत्त्वमसि'
इति	=इस प्रकार के
महावाक्यतः	=महावाक्य के द्वारा
आत्मजीवयोः	=परमात्मा और जीवात्मा की
एकात्म्यम्	=एकता को
विज्ञाय	=ज्ञान कर
मेरुः	=सुमेरु के

इव =समान
अप्रकम्पनः =निश्चल
च =और
सुखी =सुखी
भवेत् =हो जाय।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण! विहित कर्मों के त्याग करने के बाद वैराग्यवान् पुरुष शुद्ध चित्त हो कर अर्थात् लोकैषणा (सांसारिक प्रतिष्ठा की इच्छा) शास्त्रवासना, (मैं अद्वितीय शास्त्र-ज्ञाता हो जाऊं) वित्तैषणा (स्वर्णादि धन की इच्छा), पुत्रैषणा (पुत्र की इच्छा) इत्यादि सम्पूर्ण वासनाओं का परित्याग कर केवल आत्मतत्त्व जानने के लिए उत्कण्ठित हुआ श्रद्धा पूर्वक सद्गुरु के शरण जाय। और उस गुरु के वाक्य में संशय न करे कि यथार्थ है या अयथार्थ; किन्तु विश्वास रक्खे कि गुरु जी का कहना सब यथार्थ ही है। क्योंकि श्रीकृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनाश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ अर्थात् जो अज्ञानी श्रद्धाहीन और संशय चित्तवाला है, वह नष्ट हो जाता है। (सत्संग में पड़ कर अज्ञानी ज्ञानवान तथा अश्रद्धालु श्रद्धालु हो सकता है, परन्तु) संशयात्मा के लिए न तो यह लोक है, न परलोक है और सुख भी नहीं है। अतः संशय को छोड़ कर गुरु के मुखारविन्द से निकले हुए 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तू है, इस महावाक्य के विचार द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता जानकर सुमेरु पर्वत के तुल्य निश्चल अर्थात् रागद्वेष, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, आदि द्वन्दों से रहित एवं सुखी हो जाय॥ २४॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्म जीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ॥ २५ ॥

पदच्छेदः—आदौ, पदार्थस्य, अवगतिः, हि, कारणम्, वाक्यर्थस्य, विज्ञानम्, विधा, विधानतः। तत्, त्वम्, पदार्थौ, परमात्मा जीवकौ, असि, इति, च, एकात्म्यम्, अथ, अनयोः, भवेत्, ॥ २५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
विधौ	=विधि वाक्यों में
विधानतः	=विधान होने से
हि	=निस्सन्देह
वाक्यार्थस्य	=वाक्यों के अर्थ के
विज्ञानम्	=जानने में
पदार्थस्य	=पदों के अर्थ का
अवगतिः	=ज्ञान
कारणम्	=कारण है,
तत्	=तत्
च	=और
त्वम्	=त्वम्
पदार्थस्य	=पदों के अर्थ

ख्मात्मजीव कौ	=परमात्मा और जीवात्मा के हैं
याएव +	=(वैसे ही)
सि	='असि'
ति	=इस पद
नयोः	=इन दोनों की
कात्म्यम्	=एकता
वेत्	=होती है।

भावार्थ— वर्ण–समुदाय को शब्द और शब्दों के समु- ग्य को वाक्य कहते हैं, एवं जिस वाक्य से महान अर्थ की सिद्धि , उसे महावाक्य कहते हैं। इस नियम से 'तत्त्वमसि' यह महा- क्य है, क्योंकि इसके विचार से जीव के सम्पूर्ण दुःखों की त्यन्त निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस 'तत्त्वमसि' ावाक्य में तीन पद (शब्द) होते हैं--तत् त्वम् और असि। स्त्रों का यह नियम ही है कि किसी वाक्य के अर्थ जानने में ले उस वाक्य के पदों (शब्दों) के अर्थ का ज्ञान कारण है। । 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तत् पद परमात्मा का तथा त्वम् पद वात्मा का वाचक है। और असि पद इन दोनों (परमात्मा र जीवात्मा) की एकता करता है, अर्थात् तत् (वह) त्वम् तू) असि (है), (वह (परमात्मा) तू (जीव) है) ॥ २५ ॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहायसङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत् ॥ २६ ॥

पदच्छेदः—प्रत्यक्, परोक्षादि, विरोधम्, आत्म विहाय, संगृह्य, तयोः, चिदात्मताम्, संशोधिताम्, लक्षणया लक्षिताम्, ज्ञात्वा, स्वम्, आत्मानम्, अथ, अद्वयः, भवेत्, ॥

अन्वयः—	अर्थ—
आत्मनोः	=जीवात्मा और परमात्मा
प्रत्यक्	= प्रत्यक् (अन्तःकरण का स
च +	=(और)
परोक्षादि	=परोक्ष (इन्द्रियातीत) इ
विरोधम्	= विरोध को
विहाय	=परित्याग करके
च	=और
लक्षणया	=लक्षणा से (जो)
संशोधिताम्	=संशोधन पूर्वक
लक्षिताम्	=लक्षित
तयोः	=उनके
चिदात्मताम्	=चेतनता को
सङ्गृह्य	=ग्रहण कर
स्वम्	=अपना
आत्मानम्	=आत्मा
ज्ञात्वा	=जान कर
अथ	=फिर
अद्वयः	=अद्वितीय
भवेत्	=हो जाय।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा था कि—तत् पद परमात्मा, तथा त्वं पद जीवात्मा का वाचक है, एवं असि पद दोनों की एकता करता है। इस पर शंका होती है कि जब तत् पद का वाच्यार्थ जो परमात्मा है, वह माया उपाधि वाला, सर्वज्ञ, अपरिच्छिन्न, एक, मुक्त एवं परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, और त्वं पद का वाच्यार्थ जो अविद्या उपाधि वाला जीव है, वह अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, नाना, बद्ध एवं अपरोक्ष है, तब इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है? उत्तर—तत् पद और त्वं पद के वाच्यार्थ में तो पूर्वोक्त विरोध अवश्य ही हैं, परन्तु वाच्यार्थ को छोड़ कर इन दोनों पदों का अच्छी प्रकार संशोधन (विचार) पूर्वक लक्षण करें, फिर उस लक्षणावृत्ति से लक्षित जो दोनों का शुद्ध चेतन भाग बच जाता है, उसमें विरोध नहीं है। क्योंकि वह न सर्वज्ञ है न अल्पज्ञ, न व्यापक है न परिच्छिन्न,न एक है न अनेक, न मुक्त है न बद्ध एवं न परोक्ष है न अपरोक्ष, बल्कि वह सम्पूर्ण उपाधिय से रहित अनिर्देश्य है। उसी को अपना स्वरूप समझ कर उसमें एकी भाव से स्थित हो जाय॥ २६॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥ २७॥

पदच्छेदः—एकात्मकत्वात्, जहती, न, सम्भवेत्, तथा, अजहल्लक्षणाता, विरोधतः। सः, अयम्, पदार्थौ, इव, भागलक्षणा, युज्येत्, तत्त्वम्, पदयोः अदोषतः ॥ २७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अनयोः +	=(इन)
तत्त्वम् +	=('तत्' और 'त्वम्')
पदयोः +	=(पदों में)
एकात्मकत्वात्	=एक रूप होने के कारण
जहती	=जहती लक्षणा
न सम्भवेत्	=नहीं हो सकती
तथा	=वैसे ही
विरोधतः	=परस्पर विरोध होने के कारण
अजहल्लक्षणा	=अजहल्लक्षणा
अपि +	=(भी)
न सम्भवेत् +	=(नहीं हो सकती)
तस्मात् +	=(इसलिये)
सः अयम् +	='यह वही है'
अनयोः +	=(इन)
उभयोः +	=(दोनों)
पदार्थौ इव	=पदों के अर्थों के समान
तत्त्वम्	=तत् और त्वम्
पदयोः	=पदों में

अपि + =(भी)

भागलक्षणा =भाग त्याग लक्षणा

अदोषतः =निर्दोषता से

युज्येत् =करे ।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा था कि—वाच्यार्थ रूप विरोध को छोड़ कर लक्षणावृत्ति से लक्षित चेतन भाग को ग्रहण करने से तत् और त्वम् पदों की एकता होती है । यहाँ शंका होती है कि वाच्यार्थ तथा लक्षणा किस को कहते हैं ? समाधान—पद (शब्द) अपनी शक्ति से जिस अर्थ को सिद्ध करता है, उस अर्थ को वाच्यार्थ अथवा शक्यार्थ कहते हैं, जैसे किसी ने कहा—'घटमानय, अर्थात् घट ले आ; यहां 'घट पद लाल वर्ण, गोल—उदर तथा छोटे मुख वाले मट्टी के पात्र घड़े को सिद्ध करता है अतः घट पद का वाच्यार्थ 'घड़ा' हुआ । और जहां वक्ता का अभिप्राय वाच्यार्थ से न निकले वहां लक्षणा की जाती है । वाच्यार्थ के सम्बन्धी अर्थ के ग्रहण को लक्षणा कहते हैं और उस सम्बन्धी अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं जैसे किसी ने कहा—मार्ग चलता है, या चूल्हा जलता है अथवा लाल दौड़ता है । यहां मार्ग पद का वाच्यार्थ रास्ता है, जो जड़ होने के कारण नहीं चल सकता तथा चूल्हा पद का वाच्यार्थ पाक बनाने का एक साधन विशेष है जो जलता नहीं है वैसे ही लाल पद का वाच्याथ एक रक्त वर्ण है जो जड़ होने के कारण दौड़ नहीं सकता; इन वाक्यों के वाच्यार्थ के ग्रहण से वक्ता के कथन का अभिप्राय नहीं निकलता । अतः इनमें

लक्षणावृत्ति करनी चाहिए, तो मार्ग पद का वाच्यार्थ जो रा
उससे सम्बन्ध रखने वाला पथिक चलता है। तथा चूल्हा प
वाच्यार्थ जो रसोई बनाने का साधन विशेष, उससे सम्बन्ध
वाला ईंधन जलता है। वैसे ही लाल पद का वाच्यार्थ जो
वर्ण, उससे सम्बन्ध रखने वाला लाल घोड़ा दौड़ता है।
इतना भेद है कि:—वाच्यार्थ को त्याग कर केवल वाच्यार्थ
सम्बन्धी के ग्रहण को जहती लक्षणा कहते हैं, जैसे मार्ग
चूल्हे को त्याग कर पथिक एवं ईंधन का ग्रहण किया गया
वाच्यार्थ के सहित उसके सम्बन्धी का भी ग्रहण किया जाय
अजहल्लक्षणा या अजहती लक्षणा कहते हैं; तथा वाच्य
किसी भाग को त्याग कर किसी भाग के ग्रहण को जहत्यजह
भाग त्याग लक्षणा कहते हैं, जैसे किसी ने कहा:—यह सन्
वही राजा है यहां सन्यासी पद का वाच्यार्थ कषाय वस्त्र, दण्ड
कमण्डलधारी अकेला एकान्त वासी पुरुष है और राजा प
वाच्यार्थ रेशम पिताम्बर छत्र, मुकुटादिधारी तथा मन्त्री
जन-समुदाय में सिंहासन पर बैठा हुआ पुरुष है। इन दोनों
एकता कैसे हो सकती है? और वक्ता कहता है कि—यह सन्
राजा है"। यहां पदों के पारस्परिक विरोध को मिटाने के
भाग त्याग लक्षणा करें, अर्थात् सन्यासी पद के वाच्यार्थ
कषाय वस्त्र, दण्ड, कमण्डल रूप जो उपाधि है, उसे त्या
फिर उपाधि रहित एक पुरुष हो बच जाता है; और राजा प
वाच्यार्थ में जो रेशम पिताम्बर, छत्र, मुकुट, मन्त्री आदि

समुदाय एवं सिंहासन रूप उपाधि को त्याग देने से यहां भी केवल एक पुरुष ही बच जाता है। अब विचार किया जाय तो सन्यासी पद के वाच्यार्थ में जो पुरुष बचा था, वही इस राजा पद के वाच्यार्थ में बचा हुआ पुरुष है। क्योंकि वह राजा ही वैराग्य हो जाने के कारण अब सन्यास ले लिया है। अब वक्ता के वचन में कुछ विरोध नहीं रह गया।

पूर्व विवेचन के अनुसार जैसे एक ही पुरुष छत्र चमरादि उपाधि से राजा, एवं दण्ड, कमण्डलु, आदि से सन्यासी कहलाया। उसी प्रकार जो एक ही नित्य मुक्त शुद्ध निष्क्रिय चेतन है, वह अविद्या रूपी उपाधि से त्वं पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञ, बद्ध अनेक अपरोक्षादि धर्म वाला; जीवात्मा तथा माया रूपी उपाधि से तत् पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञ, मुक्त एक, इन्द्रियातीतादि धर्म वाला परमात्मा हुआ है। (रजोगुण तमोगुण से दबने वाला मलिन सतोगुण प्रधान को अविद्या और रजोगुण-तमोगुण से न दबने वाला शुद्ध सतोगुण प्रधान को माया कहते हैं)। श्रुति कहती है कि 'तत्त्वमसि' वह (परमात्मा) तू (जीव) असि (है)। यहां तत् पद के वाच्यार्थ जीव और त्वं पद के वाच्यार्थ परमात्मा में अत्यन्त विरोध है। अतः यहां लक्षणा करनी चाहिए। यदि जहती लक्षणा की जाय तो तत्पद और त्वं पद के वाच्यार्थ को त्याग देने से, साथ ही साथ चेतन का भी त्याग होकर कुछ बचता ही नहीं, और यहां दोनों चेतन की एकता का तात्पर्य श्रुति का है, अतः जहल्लक्षणा नहीं की जा सकती। और

अजहल्लक्षणा करने से भी विरोध दूर नहीं हो सकता, क्यों यहां प्रथम तो तत् और त्वम् पद के वाच्यार्थ ही में विरोध फिर अजहल्लक्षणा के द्वारा और अधिक के ग्रहण से वह वि कैसे दूर हो सकता है ? अतएव यहां भाग त्याग लक्षणा ठीक है। जब त्वम् पद के वाच्यार्थ में का अविद्या भाग का त्या कर दिया गया, तब जीव के अविद्याजनित अल्पज्ञता, ब नानापना, अपरोक्षतादि धर्मों का अभाव होकर केवल एक चेतन ही रह जाता है, और तत्पद के वाच्यार्थ में का माया का त्याग कर देने से परमात्मा के मायाजनित सर्वज्ञता, मुक्त एकपना, परोक्षादि सभी धर्म नष्ट हो कर केवल एक शुद्ध चेतन बच जाता है। अब विचार करके देखा जाय, तो त्वं पद के हुए शुद्ध चेतन से इस तत्पद के बचे हुए चेतन का परस्पर कुछ विरोध नहीं है, किन्तु दोनों एक ही निष्क्रिय शुद्ध अनिर्वचनी स्वरूप हैं। क्योंकि एक ही शुद्ध चेतन माया तथा अविद्या उपाधि से परमात्मपना तथा जीवपना को प्राप्त हुआ था। विषय को पूर्वोक्त सन्यासी तथा राजा के दृष्टान्त से स्पष्ट समझ चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से भाग त्याग लक्षणा के द्वारा तत् और त्वम् पद के पारस्परिक विरोध रूपी दोष को दूर करने से जो एक निष्क्रिय शुद्ध तथा अनिर्वचनीय चेतन स्वरूप शेष रह जाता उसमें अभेद भाव से स्थित (अर्थात् वह मैं हूँ) हो जाय ॥ २

आत्मा और उसकी उपाधि ।

रसादिपञ्चीकृत भूत सम्भवं
भोगालयं दुःख सुखादिकर्मणाम् ।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ॥ २८ ॥

पदच्छेदः—रसादि पञ्चीकृत भूत सम्भवं, भोगालयम्, दुःख सुखादिकर्मणाम् । शरीरम्, आद्यन्तवत्, आदिकर्मजम्, मायामयम्, स्थूलम्, उपाधिम्, आत्मनः ॥ २८ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
रसादिपंचीकृत भूत सम्भवः	=पृथ्वी आदि पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए,
दुःखसुखादि	=सुख दुःखादि
कर्मणाम्	=कर्मों के
भोगालयम्	=भोगों के आश्रय
आदि कर्मजम्	=पूर्वार्जित कर्मों से उत्पन्न
आद्यवन्तवत्	=आदि-अन्तवान्
मायामयम्	=मायामय
शरीरम्	=शरीर को
बुधाः +	=(ज्ञानीजन)
आत्मनः	=आत्मा की

स्थूलम् =स्थूल
उपाधिम् =उपाधि
मन्यन्ते ।-।- =(मानते हैं)

भावार्थः-जैसे किसी भी शक्तिमान पुरुष की [समर्थ या बल] तब तक उससे अभिन्न होकर रहती है, कोई कार्य नहीं करता। फिर जब कोई कार्य करने लगता है, उसकी शक्ति प्रतीत होने लगती है। वैसेही सृष्टि से पहले ब्रह्म में अभेद रूप से रहती है, फिर जब पूर्व कल्प के जीवों के फल परिपक्व हो जाते हैं, तब उन जीवों के कर्म भोग परमेश्वर सृष्टि की इच्छा करता है कि मैं स्वयं अनेक रूप जाऊँ। इस प्रकार की इच्छा उस निरीह परमात्मा में उसके शक्ति के द्वारा होती है, उसी शक्ति को माया, अविद्या, अज्ञान, इत्यादि कहते हैं। वह शक्ति अपने कार्य जगत के अज्ञानियों की दृष्टि से सत्य है और ज्ञानियों की दृष्टि से सूर्य किरण में जलके समान मिथ्या है। इसलिये उसे न तो सत्य सकते हैं न असत्य। ऐसी सत्य और असत्य से विलक्षण नीय शक्ति के बल से परमेश्वर पहले आकाश रूप से प्रकट फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और पृथ्वी हुई। पुनः ईश्वरीयशक्ति से इन पाँच तत्त्वों के द्वारा पंचीकृत और दूसरी सृष्टि * हुई। यह स्थूल शरीरही पंचीकृत

* इन पंचीकृत और अपंचीकृत सृष्टियों का सविस्तार मेरी लिखी हुई प्रेम वैराग्यादि वाटिका नाम की पुस्तक

—अनुवादक

ह इस प्रकार से बना है—आकाश के दो बराबर हिस्से करके, नमें से एक हिस्से के चार बराबर हिस्से किये, तो ये चार और हुआ आधा मिल कर पाँच हिस्से हो गये। ऐसे ही शेष वायु ादि चार तत्त्वों के भी पाँच पाँच हिस्से कर दिये, फिर प्रत्येक त्त्व के पाँच हिस्से में प्रत्येक तत्त्व के पाँच हिस्से इस प्रकार मलाये कि उनके बड़े आधे भाग परस्पर न मिलें; किन्तु अलग अलग रहें। अब पाँच तत्त्व में पाँचों तत्त्व मिलकर बड़े-बड़े पाँच मुदाय हो गये, उन समुदायोंमें से प्रत्येक समुदाय में आकाशादि त्त्वों के चार-चार छोटे हिस्से और एक-एक बड़े हो गये। जिस मुदाय में जिस तत्त्व का बड़ा हिस्सा है, वह समुदाय उसी तत्त्व ा कहलाया। फिर प्रत्येक समुदाय के पाँच तत्त्वों से पाँच पाँच कृतियाँ हुईं, जैसे—शोक, काम, क्रोध, मोह; और भय, ये ाकाश वाले समुदाय के होने से आकाश की कहलायीं। यद्यपि सूक्ष्म शरीर की हैं, तथापि इनके आवेश होने पर इनके प्रभाव चिन्ह) स्थूल शरीर में भी प्रतीत होने लगते हैं, अतः ये स्थूल रीर की सृष्टि में कहीं गयीं। वास्तव में आकाश को-शिराकाश ठाकाश, हृदयाकाश, उदराकाश और कट्यकाश ये पांच प्रकृ-तयां हैं, और चलन (चलना), बलन (बल लगाना), धावन दौड़ना), प्रसारण (अङ्गों को फैलाना), और आकुञ्चन अङ्गों को समेटना), ये पांच वायु की; क्षुधा, पीपासा, निद्रा, ालस्य और क्रान्ति ये अग्नि की; वीर्य, पसीना, रुधिर, मूत्र ौर कफ ये जल की; और अस्थि, नाड़ी, मांस, त्वचा और केश आकाश तत्त्व की प्रकृतियां हैं। यहां नख को अस्थि (हड्डी)

त्रें और लोम (रोवें) को केश में समावेश कर लेना चाहिए।
पूर्वोक्त प्रकार से पांच तत्त्वों को विभाग कर के परस्पर मि
से जो पच्चीस प्रकृत्तियां हुई हैं, उन्हीं से स्थूल शरीर बना है
इसी को पंचीकृत सृष्टि कहते हैं। भगवान राम कहते हैं कि-
आदि पांच तत्त्वों के पंचीकृत से उत्पन्न हुआ है, तथा जि
आश्रय से अर्थात् जिसको धारण कर के प्राणी सुखदुःखादि
अपने कर्म भोगों को भोगते हैं एवं जो पूर्व जन्म के किये हुए
फल से मिलता है, ऐसे मायामय (मिथ्या) आदि-अन्तवान अ
उत्पत्ति-नाश वाले शरीर को तत्त्ववेत्ता पुरुष आत्मा की
उपाधि मानते हैं। उपाधि नाम आवरण (परदा) का और
नाम नेत्रों से दिखलायी देने वाले का है। नेत्रों से दिखलाई
वाले अस्थिमान्समय स्थूल शरीर में अहन्ता कर के अर्थात्
को अपना स्वरूप मान कर जीव अपने सच्चिदानन्द स्वरू
भूल गया है। अतएव आत्मा को छिपा (भुला) देने के का
इस स्थूल शरीर को आत्मा की स्थूल उपाधि (परदा)
हैं ॥ २८ ॥

सूक्ष्मं मनो बुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥ २९ ॥

पदच्छेदः- सूक्ष्मम्, मनः, बुद्धि दशेन्द्रियैः युतम्, प्रा
अपञ्चीकृतभूतसम्भवम्, भोक्तुः, सुखादेः अनुसाधनम्, भ
शरीरम्, अन्यत्, विदुः, आत्मनः, बुधाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
मनः	=मन
बुद्धिः	=बुद्धि
दशेन्द्रियैः	=दश इन्द्रियों के
युतम्	=सहित
प्राणैः	=प्राण,
अपञ्चीकृतभूतसम्भवम्	=अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए
यः +	=(जो)
सुखादे भोक्तुः	=भोक्ता के, सुख दुःखादि का
अनुसाधनम्	=साधन है
भवेत्	=हो
इति +	=(ऐसे)
सूक्ष्म शरीरम्	=सूक्ष्म शरीर को
बुधाः	=ज्ञानीजन
आत्मनः	=आत्मा की
अन्यत्	=दूसरी
उपाधिम् +	=(उपाधि)
विदुः	=जानते हैं।

भावार्थ– पूर्व के श्लोक में पंची कृत भूतों से उत्पन्न हुये स्थूल शरीर को आत्मा की स्थूल उपाधि का वर्णन किया। अब अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीर का, जो आत्मा की दूसरी सूक्ष्म उपाधि है उसका वर्णन करते हैं—ईश्वर की अचिन्त्य

शक्ति के द्वारा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन
भूतों के सतो गुण भाग से क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना,
(नाक) ये पांच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न हुईं। ये प्रत्येक इन्
आकाशादि प्रत्येक भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध
का क्रमशः ज्ञान करती हैं। फिर आकाशादि भूतों के रजो
भाग से क्रमशः वाक् (मुख) हाथ, पैर, लिंग और गुदा, ये
कर्म इन्द्रियां उत्पन्न हुईं इन इन्द्रियों के कर्म बोलना, ग्रहण क
चलना, मूत्र त्यागना तथा मल त्यागना ये क्रमशः हैं।
पंच भूतों के मिले हुए सतोगुण भाग से मन, बुद्धि रूप
करण हुआ। मन का काम संकल्प-विकल्प तथा बुद्धि का नि
है। उन भूतों के मिले हुए रजोगुण भाग से प्राण, अपान,
समान और उदान ये पांच प्राण हुए। प्राण हृदय में रह कर
श्वास लेने का काम करता है।

अपान नाभि के नीचे रह कर मल मूत्र त्यागता है;
सम्पूर्ण नाड़ियों में रह कर शरीर को पुष्ट करता है; समान
के ऊपर तथा हृदय के नीचे रह कर भोजन किये हुए अन्न के र
धातुओं को शरीर के सम्पूर्ण नाड़ियों में बराबर बराबर बांट दे
और उदान कण्ठ में रह कर मुखादि अङ्गों में क्रान्ति रखता है।

पूर्वोक्त प्रकार से अपंचीकृत आकाशादि भूतों से उत्पन्न
ज्ञान इन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण तथा मन एवं बुद्धि
सत्रह तत्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसी
शरीर से भोक्ता (जीव) प्रारब्धजनित सुख-दुःखादि का

करता है; और इस शरीर में अहंता कर के अर्थात् मैं सुनता हूँ, बोलता हूँ, मुझे भूख लगी है, प्यास लगी है, मैं संकल्प करता हूँ, निश्चय करता हूँ, इत्यादि ऐसा अहङ्कार कर के अपने आनन्द स्वरूप को भूल जाता है। इसलिये इस सूक्ष्म शरीर को तत्त्व वेत्ता पुरुष आत्मा की दूसरी सूक्ष्म उपाधि कहते हैं॥ २९॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
माया प्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधि भेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात्॥ ३०॥

पदच्छेदः—अनादिम्, अनिर्वाच्यम्, अपि, इह, कारणम्, माया प्रधानम्, तु, परम्, शरीरकम्, उपाधि भेदात्, तु, यतः, पृथक्, स्थितम्, स्वात्मानम्, आत्मनि, एव, अवधारयेत्, क्रमात्॥ ३०॥

अन्वयः—	अर्थ—
तु	=और
अनादिम्	=अनादि
अनिर्वाच्यम्	=अनिर्वाच्य
माया प्रधानम्	=माया मय
कारणम्	=कारण
शरीरकम्	=शरीर
अपि	=भी

इह	=इस जीव का
परम्	=स्थूल सूक्ष्म से भिन्न
शरीरम् +	=(शरीर है)
यतः	=इस लिये
उपाधि भेदात्	=उपाधि-भेद से
पृथक	=पृथक्
स्थितम्	=स्थित
स्वात्मानम्	=अपने आत्मा को
क्रमात्	=क्रमशः
आत्मनि	=हृदय में
एव	=ही
अवधारयेत्	=धारण करे।

भावार्थ—पूर्व के दो श्लोकों में स्थूल तथा सूक्ष्म धियों का वर्णन कर के अब इस श्लोक में कारण रूप उपाधि का वर्णन करते हैं—जिसका आदि न हो, ऐसे रहित पदार्थ को अनादि कहते हैं। इस प्रकार की अनादि माया है। यदि माया की उत्पत्ति मान भी ली जाय, तो कारण कौन होगा? जगत् तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि माया का रचा हुआ कार्य है। तथा जीव और ईश्वर भी नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति में कहा है—विद्या चा विद्या स्व भवति। अर्थात् वह प्रकृति माया और अविद्या रूप से स्व होती है, फिर अपने उस शुद्ध सतोगुण प्रधान माया और इ

सतोगुण प्रधान अविद्या रूपी उपाधि में शुद्ध ब्रह्म को प्रतिबिम्बित करके क्रमशः जीव तथा ईश्वर को कर देती है। जैसे श्रुति में कहा है—जीवेशावाभासेन करोति। इससे सिद्ध होता है कि जीव तथा ईश्वर भी माया ही से हुए हैं, अतः ये माया के कारण नहीं हो सकते। अब रहा शुद्ध ब्रह्म, उसको यदि माया का कारण माना जाय तो वह विकारी हो जायेगा और श्रुति में वह अविकारी कहा गया है। फिर उसको कारण मानने में एक और भी दोष है, मुक्तावस्था में ब्रह्म रूप से स्थित जो मुक्त पुरुष हैं, वे फिर बद्ध हो जायेंगे, क्योंकि ब्रह्म से फिर कभी माया उत्पन्न हो कर जगत को रच देगी और मुक्त पुरुष अपने में संसार जन्य जन्म मरणादि नाना क्लेशों का अनुभव करने लगेंगे। इस रीति से बद्ध और मुक्त पुरुषों में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। और श्रुति से भी विरोध पड़ेगा, क्योंकि श्रुति कहती है—नसपुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। अर्थात् वह मुक्त पुरुष संसार में नहीं लौटता है; नहीं लौटता है। तथा—'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'। तरति शोकमात्मवित्'। अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्मवेत्ता शोक से तर जाता है इत्यादि।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि माया अनादि है। फिर कहते हैं कि माया अनिर्वाच्य है; जो वाणी का विषय न हो, उसे अनिर्वाच्य कहते हैं। इस रीति से माया को न सत्य कह सकते न असत्य; न ब्रह्म से भिन्न कह सकते और न अभिन्न; इत्यादि। यदि सत्य कहें तो उसका अभाव कभी भी नहीं होना

चाहिए, क्योंकि जिसका तीन काल में नाश न हो वह सत्य है। परन्तु ज्ञान काल में माया का अभाव हो जाता है, अतः वह सत्य नहीं है। यदि असत्य कहें तो उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि असत्य पदार्थ को कभी भी प्रतीति नहीं होती, जैसे-वन्ध्या पुत्र। इसलिए माया सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वाच्य है। वैसे ही यदि उसको ब्रह्म से भिन्न कहें तो श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि श्रुति कहती है—"एकमेवाद्वितीयंब्रह्म," "नेहनानास्ति किंचन"। अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है; यह नाना जगत् कुछ भी नहीं है, इत्यादि। और यदि उसको ब्रह्म से अभिन्न कहें तो इस नानात्व जगत् की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। पूर्वोक्त एवं रीति से हम निश्चय नहीं कर पाये कि माया क्या वस्तु है, हार मान कर यही कहना ही पड़ता है कि भाई! पृथ अनिर्वाच्य है।

वह अनादि एवं अनिर्वाच्य माया (अविद्या) ही जीव का तीसरा कारण शरीर है, यह कारण शरीर ही अपने आत्म स्वरूप को ढक लेने वाली महान् उपाधि है। इसी उपाधि के नष्ट होने पर जीव की पूर्वोक्त सूक्ष्म तथा स्थूल उपाधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। सम्पूर्ण उपाधियों का मूल कारण होने से माया (अविद्या) को कारण तथा ज्ञान के द्वारा शीर्ण (नष्ट) हो जाने से शरीर कहते हैं। पूर्वोक्त स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण शरीर रूप तीनों उपाधियों को क्रमशः बाध (मिथ्या) करते हुए अपने आत्म स्वरूप को इनसे सर्वथा पृथक् अन्तःकरण में निश्चय करे। जैसे—जन्म

पहले और मृत्यु के बाद एवं स्वप्न अवस्था में स्थूल शरीर नहीं रहती, तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता। क्योंकि यदि स्थूल शरीर की उत्पत्ति से पहले यह आत्मा नहीं रहता, तो इस शरीर से पूर्वार्जित प्रारब्ध को कैसे भोगता? और यदि स्थूल शरीर के नाश के बाद नहीं रहता तो दूसरे शरीर (योनि) में कैसे जाता? वैसे ही यदि स्वप्नावस्था में नहीं रहता, तो स्वप्न सृष्टि का अनुभव कैसे करता? इससे सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर मिथ्या है और आत्म स्वरूप इससे भिन्न है अर्थात् सत्य है। सुषुप्ति तथा समाधि अवस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर नहीं रहते, और सुषुप्ति सुख एवं समाधि सुख का अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान रहता है, अतः सूक्ष्म शरीर मिथ्या है और अपना आत्म स्वरूप इससे पृथक् है। ज्ञान हो जाने पर एवं समाधि अवस्था में माया और माया जनित जाग्रतादि तीन अवस्थाएं नहीं रहतीं। समाधि अवस्था में तो इनका अत्यन्त ही अभाव हो जाता है और समाधि से उत्थान होने पर ये मिथ्या रूप से प्रतीत होती हैं, जैसे—चलती हुई नौका पर बैठा हुआ पुरुष नदी के तटस्थ वृक्षों को चलते देखता हुआ भी उनको स्थिर मानता है। भगवान राम कहते हैं कि हे लक्ष्मण! तीनों उपाधियों को मिथ्या कर के अपने हृदय में शुद्ध सच्चिदानन्द घन आत्म स्वरूप को निश्चय करें॥ ३०॥

———

उपाधिका बाध।

—※※○※※—

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते॥ ३१॥

पदच्छेदः—कोशेषु; अयम्, तेषु, तु, तत्, आकृ[ति:], विभाति, सङ्गात्, स्फटिकः, यथा। असंगः, रूपः, अयम्, अजः, अद्वयः, विज्ञायते, अस्मिन्, परितः, विचारिते॥ ३१॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
स्फटिकः उपलः	=स्फटिक मणि के
यथा	=समान
अयम्	=यह आत्मा
तेषु	=उन
तेषु +	=(उन)
कोशेषु	=कोशों में
तत् तत्	=उस उस
आकृतिः	=आकृति को
विभाति	=भासता है,
तु	=परन्तु
अस्मिन्	=इसका

?रितः	=भलीभांति
?वचारिते	=विचार करने पर
?यम्	=यह
?द्वयः	=अद्वितीय
?तः	=होने के कारण
असंगरूपः	=असंग रूप
च +	=(और)
अजः	=अजन्मा
विज्ञापते	=जाना जाता है।

भावार्थ—कोश पांच हैं जैसे—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय *। तलवार रखने वाले म्यान को कोष कहते हैं। जिस प्रकार म्यान में छिपी हुई तलवार दिखलायी नहीं देती, उसी प्रकार पूर्वोक्त पांच कोषों के ओट में यह आत्मा छिपा हुआ प्रतीत नहीं होता है। पंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहते हैं तथा अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीर में प्राण-मय, मनोमय और विज्ञानमय, ये तीन कोश हैं। पांच प्राण के सहित कर्मेन्द्रियां प्राणमय कोश ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन मनोमय कोश ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश और कारण शरीर जो अविद्या है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। जैसे-लाल पुष्प पर रखी हुई स्फटिक मणि में उस पुष्प की लाली परिपूर्ण दिखलायी देती है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मणि लाल पुष्प ही है।

* इन कोशों का सविस्तर वर्णन मेरी लिखी हुई 'ज्ञानामृत' नाम की पुस्तक में है। —अनुवादक।

वैसेही स्वरूप से निर्मल आत्मा भी उन पांच कोशों के सं
उन कोशों के आकार सरीखे प्रतीत होता है। (उन कोशों में अ
बुद्धि का होना ही उसका प्रतीत होना है) । परन्तु भली प्र
विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि यह आत्मा इनसे भि
और असंग है। जैसे श्रुति कहती है आत्मै वेदं सर्वं । अर्थात्
सब आत्मा ही है। इस श्रुति प्रमाण से एक अद्वितीय आत्मा
अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है । जब कोई भी पदार्थ नहीं
गया, तो इन पांच कोशों का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? ये
मृगतृष्णा के जल के समान केवल प्रतीति मात्र हैं । जिस प्र
मिथ्या मृग तृष्णा के जल से पृथ्वी गीली नहीं हो सकती,
प्रकार उन कोशों से आत्मा की रंचक भी क्षति नहीं हो सक
किन्तु वह असंग ही रहेगा। फिर उन कोशों का भाव और अ
हुआ करता है अर्थात् कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते। प
आत्मा का तो जन्म ही नहीं होता और यह अजन्मा होने से ब
नहीं, वृद्धि के अभाव से परिणाम को प्राप्त नहीं होता अर्थात्
रूप से दूसरे रूप में नहीं होता। परिणाम के अभाव से तरुण
होता, और तरुणता के अभाव से क्षीण नहीं होता और क्षीणता
अभाव से नष्ट नहीं होता, अतः यह आत्मा षट् विकारों से र
है। और इस आत्मा को वे जड़कोश नहीं जानते, परन्तु यह आ
जानता है, अतः उनसे भिन्न है ॥ ३१ ॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते

स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः ।

अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतोमृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः—बुद्धेः, त्रिधा, वृत्तिः, अपि, इह, दृश्यते, स्वप्नादि भेदेन, गुणत्रयात्मनः । अन्यः, अन्यतः, अस्मिन्, व्यभिचारतः, मृषा, नित्ये, परे, ब्रह्मणि, केवले, शिवे ॥ ३२ ॥

अन्वयः—	अर्थ--
इह	=इस
गुणत्रयात्मनः	=त्रिगुणात्मिका
बुद्धेः	=बुद्धि की
अपि	=ही
स्वप्नादिभेदेन	=स्वप्नादि भेद से
त्रिधा	=तीन प्रकार की
वृत्तिः	=वृत्तियां
दृश्यते	=दिखायी देती हैं,
अस्मिन्	=इन वृत्तियों का
अन्यः	=दूसरी में
अन्यतः	=दूसरी से
व्यभिचारतः	=व्यभिचार होने से
केवले	=एक मात्र
शिवे	=कल्याण स्वरूप
नित्ये	=नित्य
परेब्रह्मणि	=पर ब्रह्म में
मृषा	=मिथ्या

भावार्थ—कारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं, जैसे मिट्टी के कार्य घड़े में मिट्टी अवश्य रहती है। इस नियम के अनुसार यह अखिल विश्व ब्रह्म में त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा रचे जाने के कारण जगत के हर एक पदार्थ में तीन गुण हैं, अतः एव बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका होती है, उस बुद्धि की ही गुणमय वृत्तियां जागृति स्वप्न और सुषुप्ति रूप से दिखलायी देती हैं। जैसे जब बुद्धि की वृत्ति सतोगुण प्रधान होती है, तो जागृत अवस्था होती है; उस जागृति अवस्था में जीव जगत के नाना पदार्थों का ज्ञान करता है। और जब वही बुद्धि-वृत्ति रजोगुण प्रधान होती है, तो यह जीव स्वप्न अवस्था के सूक्ष्म भोगों को भोगता है, तथा तमोगुण प्रधान होने से सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। उस अवस्था में ऐसा तमोगुण बढ़ जाता है कि किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता अर्थात् सभी पदार्थ अविद्या में लीन हो जाते हैं। उस समय उस तमोगुण प्रधान अविद्या का अनुभव करने वाला केवल एक आत्मा ही रह जाता है।

पूर्वोक्त बुद्धि की तीनों वृत्तियों में से हर-एक का एक दूसरी में व्यभिचार है, जैसे जब सतोगुण प्रधान वृत्ति, जागृति अवस्था रूप में होती हैं, तब राजसी तथा तामसी वृत्ति रूप स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं नहीं रहतीं, परन्तु उस जागृति अवस्था का द्रष्टा आत्मा रहता है। और जब बुद्धि-वृति राजसी रूप स्वप्न अवस्था को धारण करती है, तब जागृति और सुषुप्ति का अभाव रहता है परन्तु उस स्वप्न अवस्था को देखने वाला आत्मा उस समय भी विद्यमान रहता है। फिर जब बुद्धि-वृत्ति तामसी रूप सुषुप्ति अवस्था

को प्राप्त होती है, तब जागृति तथा स्वप्न ये दोनों अवस्थाएं नहीं रहतीं, परन्तु वहां भी उस सुषुप्ति अवस्था का अनुभव करने वाला आत्मा रहता ही है, अतः आत्मा का तीनों अवस्थाओं में अन्वय (विद्यमान) होने से यह एक मात्र सत्य है और तीनों अवस्थाओं के परस्पर व्यभिचार (एक में दूसरी का अभाव) होने से वे मिथ्या हैं। ये तीनों अवस्था एक मात्र कल्याण स्वरूप नित्य परों ब्रह्म में मिथ्या (कल्पित) हैं, जैसे—सीपी में चाँदी की मिथ्या ही कल्पना हो जाया करती है ॥ ३२ ॥

देहेन्द्रिय प्राण मनश्चिदात्मनां
संघादजस्रं परिवर्तते धियः ।
वृत्तिस्तमो मूल तयाऽज्ञ लक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः—देहेन्द्रियप्राणमनः, चिदात्मनाम्, संघात्, अजस्रम्, परिवर्तते, धियः । वृत्तिः, तमः, मूलतया, अज्ञलक्षणा, यावत्, भवेत्, तावत्, असौ, भवोद्भवः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—		**अर्थ—**
धियः		=बुद्धि की वृत्ति
एव	+	=(ही)
देहेन्द्रिय प्राण मनः		=देह, इन्द्रिय, प्राण, मन,
च	+	=(और)
चिदात्मनाम्		=चेतन आत्मा के

संघात्	=संघात से
अजस्रम्	=निरन्तर
परिवर्तते	=परिवर्तित होती रहती है
एषा +	=(यह)
वृत्तिः	=वृत्ति
तमः मूलतया	=तमोगुणसे उत्पन्न होनेके
अज्ञ लक्षण	=अज्ञान रूपा है
च +	=(और)
यावत्	=जब तक
असौ	=यह
भवेत्	=रहती है
तावत्	=तब तक
भवोद्भवः	=संसार में जन्म होता रहता

भावार्थ— जैसे राजा की सभा में नटी राजा के रि के लिये अपना अनेक रूप बनाती है। वैसेही यह बुद्धि की रूपी नटी हृदयरूपी सभा में जीवरूपी राजाको मोहित करने लिये अनेक स्वांग बनाती है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि आत्मा के सिवा देह, प्राणादि संघात नहीं है, परन्तु उस आत्मा यह बुद्धिवृत्ति अपना अनेक रूप बनाया करती है अर्थात् जैसी-जै कल्पना करती है, वैसी-वैसीही हो जाया करती है। कभी देह, क इन्द्रिय, कभी प्राण और कभी मन का स्वांग और कभी चेतन आ से मिली हुई अपना रूप बना लेती है। जैसे—जबतक राजा नटी स्वरूप को सच्चा जान कर आशक्तिपूर्वक देखता रहता है, तभी

अपने स्वांगों को दिखलाया करती है। परन्तु जब वह राजा यह जान कर कि 'ये नटी के स्वांग मिथ्या हैं' उपेक्षा कर देता है अर्थात् उससे उदासीन हो जाता है, तब वह अपना स्वांग बनाना बन्द कर वहां से शीघ्र ही भाग जाती है। वैसे ही यह जीव राजा श्रुतिवाक्यों का विचार करते-करते जब यह जान कर कि 'यह जो कुछ देह, इन्द्रियादि का संघात है, सो मिथ्या बुद्धि का विकार मात्र है' इन देहादि से रागद्वेष रहित हुआ उदासीन हो जाता है, यह तमोगुण से उत्पन्न होने के कारण अज्ञानरूपा बुद्धिवृत्ति नाना प्रपञ्चरूप अपने स्वांगों को समेट कर अपने अधिष्ठान आत्मा में लय (अन्तर्धान) हो जाती है; फिर पता ही नहीं लगता कि कहां चली गयी। जबतक यह रहती है, तबतक निस्सन्देह संसार में जन्म हुआ करता है ॥३३॥

नेति प्रमाणेन निकृताखिलो
हृदा समास्वदितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्त सद्रसं
पीत्वा यथाऽम्भः प्रजहातितत्फलम् ॥३४॥

पदच्छेदः—नेति, प्रमाणेन, निकृतः, अखिलः, हृदा, समास्वदितचिद्घनामृतः। त्यजेत्, अशेषम्, जगदात्त सद्रसम्, पीत्वा, यथा, अम्भ, प्रजहाति, तत्, फलम्, ॥ ३४ ॥

अन्वयः— **अर्थ**—

नेति =नेति-नेति,
प्रमाणेन =प्रमाण से
अखिला =सम्पूर्ण जगत का

निराकृतः	=बाध (खण्डन) करके
हृदा	=हृदय में
जगदात्त सद्रसम्	=उस जगत के सार रस
समास्वदितचिद्घनामृतः	=चिद्घनामृत का आस्वाद
अशेषम्	=सम्पूर्ण (जगत) को
त्यजेत्	=त्याग दे,
यथा	=जैसे
अम्भः	=जल को
पीत्वा	=पीकर
तत्	=उस (नारियल) के
फलम्	=फल को
प्रजहाति	=फेंक देते हैं।

भावार्थ—नारियल फल के रस को तबतक प्राणी पाते जबतक कि उसके ऊपर कठोर छिलके (परदे) को तोड़ देते। वैसे ही जबतक जगत की सत्यता का अध्यास (भ्रम) परदा दृढ़ हो रहा है, तबतक उसके ओट में छिपे हुए अपने स्वरूप सच्चिदानन्द घनामृत का मिलना कठिन है। इसलिये प्राणी उस नारियल के ऊपर के कठोर छिलके को तोड़ कर रस को पी जाते हैं, फिर उस असार फल को फेंक देते हैं। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि 'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमा सम्पूर्ण जगत की सत्यता (अध्यास) रूपी परदे को नष्ट कर हृदय में साररूप अपने आत्म स्वरूप सच्चिदानन्द घनामृ पान करें और सम्पूर्ण जगत का परित्याग कर दे अर्थात् उसमें अहंता और ममता (मैं, मेरापन) को दूर कर दे ॥ ३४ ॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
नक्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।
निरस्त सर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः—कदाचित्, आत्मा, न, मृतः, न, जायते, न, क्षीयते न, अपि, विवर्धते, अनवः। निरस्तः, सर्वातिशयः, सुखात्मकः, स्वयम्प्रभः, सर्वगतः, अयम्, अद्वयः, ॥ ३५ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
आत्मा	=आत्मा
कदाचित्	=कभी
न जायते	=न जन्मता है,
न विवर्धते	=न बढ़ता है,
न क्षीयते	=न क्षीण होता है,
अनवः	=न नवीन होता है
च	=(और)
न मृतः अपि	=मरता भी नहीं है।
अयः +	=(वह)
निरस्तः	=अलुप्त,
सर्वातिशयः	=सबसे अधिक
सुखात्मकः	=सुख स्वरूप
स्वयंप्रभः	=स्वयं प्रकाश

सर्वगतः	=सर्व गत
च +	=(और)
अद्वयः	=अद्वियीय है ।

भावार्थ—वह आत्मा अनादि होने से कभी जन्मता नहीं, अजन्मा होने से बढ़ता नहीं, वृद्धि रहित होने के कारण तो क्षीण होता है और न नष्ट ही होता है एवं वह नवीन भी होता है। वह सब से परे होने से किसी भी विशेषण के योग्य है और शिव विष्णु आदि तो मायिक हैं। उस आत्मा के एक देश में माया की कल्पना की गयी है। जब कि उस के सामने माया तुच्छ ही है तो शिव, विष्णु आदि उसकी में कैसे आ सकते ? फिर वह आत्मा सुख स्वरूप है। यदि स्वरूप न होता तो उसकी प्राप्ति से सकल दुःखों की निवृत्ति में क्यों कहा होता ? जैसे—तरति शोकमात्मवित् । अर्थात् वेत्ता पुरुष शोक से दूर चला जाता है। तथा अपना आत्मा को भी अप्रिय नहीं होता; बल्कि निरतिशय प्रिय होता है। जाना जाता है कि वह आनन्द स्वरूप है, क्योंकि आनन्द लिए किसी वस्तु में प्रेम होता है; दुखमय वस्तु में प्रेम नहीं देखा जाता। पुनः वह स्वयं प्रकाश है, जिसका प्रकाश न हो और वह सबका प्रकाश हो, उसे स्वयं प्रकाश हैं; ऐसा एक आत्मा ही है। श्री कृष्ण जी ने भी कहा तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते परम मम ॥ अर्थात् उस आत्मा को न सूर्य प्रकाशता, न चन्द्र,

और न पावक। उसको पाकर प्राणी फिर इस संसार में नहीं लौटते ही मेरा परम धाम (स्वरूप) है। वह आत्मा स्वयं प्रकाश होने से सब का प्रकाशक है, जैसे—श्रुतिः तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति। अर्थात् उस आत्मा के प्रकाश होने पर ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, इत्यादि ये सभी उसके ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। फिर वह आत्मा सबका अधिष्ठान होने सर्वगत एवं उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुओं के मिथ्या होने से अद्वितीय है॥ ३५॥

अध्यास-निरूपण।

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथंभवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयते विरोधतः क्षणात्॥ ३६॥

पदच्छेदः—एवम्, विधे, ज्ञानमये, सुखात्मके; कथम्, भवः दुखमयः, च प्रतीयते। अज्ञानतः, अध्यासवशात्, प्रकाशते, ज्ञाने, विलीयते, विरोधतः, क्षणात्॥ ३६॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम् विधे	=इस प्रकार
ज्ञानमये	=ज्ञान स्वरूप
च +	=(और)
सुखमये	=सुख स्वरुप में
दुःखमयः	=दुःख स्वरुप
भवः	=संसार
कथम्	=कैसे
प्रतीयते	=प्रतीत हो सकता है।
इदम् +	=(यह संसार)
अध्यास वशात्	=अध्यास (भ्रम) के कार
अज्ञानतः	=अज्ञान से
एव +	=(ही)
प्रकाशते	=प्रतीत होता है,
ज्ञाने	=ज्ञान से
क्षणात्	=क्षण मात्र में
विलीयते	=विलीन हो जाता है,
विरोधतः	=ज्ञान और अज्ञान का पर विरोध होने से

भावार्थ—जैसे सीपी के अज्ञान से भ्रम वस में चांदी प्रतीत होने लगती है, परन्तु जब सीपी का ज्ञान है, तब वह चांदी मिथ्या हो जाती है। वैसे ही अपने स

रूप के अज्ञान से यह असत्य, जड़, एवं, दुख स्वरूप जगत में प्रतीत होता है। जब पूर्व श्लोक के अनुसार अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह संसार क्षण मात्र में लय हो जाता है। क्योंकि सत चित्त (ज्ञान) एवं आनन्द स्वरूप आत्मा में असत्, जड़ एवं दुख रूप संसार रह ही कैसे सकता है? यह तो अज्ञान से ही प्रतीत होता है, जो ज्ञान होने से शीघ्र लय हो जाता है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है ॥ ३६ ॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः—यत्, अन्यत्, अन्यत्र, विभाव्यते, भ्रमात्, अध्यासम, इति, आहुः, अमुम्, विपश्चितः। असर्पभूते, अहि, विभावनम्, यथा, रज्ज्वादिके, तद्वत्, अपि ईश्वरे, जगत् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
भ्रमात्	=भ्रम से
यत्	=जो
अन्यत्	=दूसरा पदार्थ
अन्यत्र	=दूसरे जगह
प्रतीयते	=प्रतीत होता है
अमुम्	=उसी को

विपश्चितः	=ज्ञानी जन
अध्यासम्	=अध्यास
इति	=करके
आहुः	=कहते हैं।
यथा	=जिस प्रकार
असर्पभूते	=असर्प रूप
रज्ज्वादि के	=रस्सी आदि में
अहि	=सर्प की
विभावनम्	=प्रतीति होती है,
तद्वत्	=उसी प्रकार
ईश्वरे	=ईश्वर ने
जगत्	=जगत्
प्रतीयते +	=(प्रतीत हो रहा है)

भावार्थ—जो भ्रम से दूसरे पदार्थ में दूसरे पदा... प्रतीत होती है, उसीको ज्ञानियों ने अध्यास कहा है। वह अध्... अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास, इस भेद से दो प्रकार का होत... किसी पदार्थ में मिथ्या आरोपित पदार्थ को अर्थाध्यास... उसके ज्ञान को ज्ञानाध्यास कहते हैं। इन दोनों में ज्ञानाध्या... एक ही प्रकार का होता है, क्योंकि जो-जो पदार्थ आरोपित... उनका-उनका ज्ञान होगा। परन्तु संसर्गाध्यास और स्वरूपा... के भेद से अर्थाध्यास दो प्रकार का होता है। किसी पदार्... स्वरूप का अध्यास न हो, बल्कि केवल उसके सम्बन्ध का हो... उसे संसर्गाध्यास और जिसका स्वरूप का अध्यास हो, उसे स... ध्यास कहते हैं। संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास दोनों भिन्न...

न्योन्याध्यास कहज़ाता है। इस नियम के अनुसार आत्म और नात्म पदार्थों का परस्पर अन्योन्याध्यास है। आत्मा का नात्म पदार्थों में केवज़ संसर्गाध्यास है, क्योंकि केवल उसकी त्ता तथा चेतनता के सम्बन्ध से ही अनात्म पदार्थ सत्य एवं तन से प्रतीत हो रहे हैं। जो उसके सत् तथा चित् स्वरूप का ध्यास होता तो अनात्म पदार्थों के ज्ञान से सच्चित् स्वरूप ात्मा का अभाव हो जाता। क्योंकि यह नियम ही है कि अधि-ान (जिस पदार्थ में अध्यास हो) के ज्ञान से कल्पित पदार्थ का त्यन्त अभाव हो जाता है। परन्तु असत् तथा दुःख रूप अनात्म दार्थों के ज्ञान से सच्चित स्वरूप आत्मा का अभाव नहीं होता, तएव आत्मा का अनात्म पदार्थों में संसर्गाध्यास है, और म्पूर्ण अनात्म पदार्थों का आत्मा में स्वरूपाध्यस है, क्योंकि ात्म ज्ञान होने पर इनका स्वरूप से अभाव हो जाता है। जिस कार सर्प के न होते हुए भी भ्रम से रस्सी में सर्प का अध्यास हो ाता है उसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में भी असत् ड़ तथा दुःख रूप संसार के न रहते हुए भी भ्रम से इसकी तीति हो रही है ॥ ३७ ॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहंकार एष प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्व कारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥ ३८ ॥

पदच्छेद:—विकल्प माया रहिते, चिदात्मके, अहं एष:, प्रथम:, कल्पित: । अध्यास:, एष, आत्मनि, सर्व निरामये, ब्रह्मणि, केवले, परे ॥ ३८ ॥

अन्वय:—	अर्थ—
विकल्प माया रहिते	=विकल्प और माया से रहित
सर्व कारणे	=सबके कारण
निरामये	=निरामय
केवले	=अद्वितीय
चिदात्मके	=चित् स्वरुप
परे आत्मनि	=परमात्मा
ब्रह्मणि	=ब्रह्म में
प्रथम:	=पहले पहल
एव	=निश्चय करके
एष	=यह
अहंकार:	=अहंकार रुप
अध्यास:	=अध्यास
भवति +	=(होता है)

भावार्थ—उस पर ब्रह्म परमात्मा में न तो संकल्प-वि है और न त्रिगुणात्मिका माया ही है, बल्कि वह अकेला रहित सबका कारण और चेतन स्वरूप है । उसमें पहले 'अहं' (मैं) इस प्रकार के अध्यास के होने के बाद ही पदार्थों का अध्यास (प्रतीत) होता है। इस विषय का सबको है, जैसे—अपने में पहले 'अहं' (मैं) ऐसा प्रतीत

तो किसी भी पदार्थ की प्रतीति तथा कोई भी व्यवहार न हो। क्योंकि पर ब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप आत्मा है। इस श्लोक में भगवान ने माया से रहित तथा सब का कारण परब्रह्म को बतलाया, इससे नैयायिकों को परमाणुवाद तथा सांख्यों के प्रकृतिवाद का खण्डन हो गया। क्योंकि ये परमाणु एवं प्रकृति से सृष्टि मानते हैं। अद्वितीय (अकेला) कहने से भेदवादियों के द्वैत, विशिष्टाद्वैत, इत्यादि सिद्धान्तों का खण्डन हुआ। और 'उस परमात्मा में पहले-पहल सृष्टि का मूलभूत अहंकार का ही अध्यास हुआ' यह कहने से नैयायिकों के आरम्भ वाद (जो परमाणुओं के संयोग से ही सृष्टि मानते हैं) एवं सांख्यों के परिणाम वाद (जो सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानते हैं) का खण्डन हो कर वेदान्तियों का विवर्त्तवाद सिद्ध होता है। क्योंकि विवर्त्तवाद में किसी भी पदार्थ की सच्ची उत्पत्ति नहीं मानी जाती, बल्कि पदार्थ के न रहते हुए भी भ्रम से उसकी प्रतीति हो जानी सृष्टि है। जैसे—स्थाणु (ठूंठे बृक्ष) में चोर भ्रांति हो जाती है, वैसे ही एक ही ब्रह्म में मूल कारण अहंकार के सहित यह सकल विश्व प्रतीत हो रहा है। इसलिए इस जगत का ईश्वर अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। जिस पदार्थ के बिना कोई पदार्थ न रह सके उसे उपादान कारण, (जैसे मिट्टी के बिना घट) और जिसके बिना कार्य न हो एवं हो जाने पर उसके बिना भी रह सके, (जैसे घट का कारण कुम्हार) उसे निमित्त कारण कहते हैं। इस रीति से इस जगत का उपादान तथा निमित्त कारण एक ईश्वर ही है। श्रुति भी कहती है—यतो

वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व ॥ अर्थात् जिससे यह सम्पूर्ण
प्राणी उत्पन्न होकर जीवित (स्थित) रहते हैं । और जिसमें प्र-
लय हो जाते हैं, वही ब्रह्म है, उसी को जानने की इच्छा
करो ॥ ३८ ॥

इच्छादिरागादि सुखादिधर्मिकाः
सदाधियः संसृतिहेतवः परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः—इच्छादि रागादि सुखादि धर्मिकाः, सदा, धियः, संसृतिः, हेतवः, परेयस्मात्, प्रसुप्तौ, तत्, अभावतः, परः, सुख-
स्वरूपेण, विभाव्यते, हि, नः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
परे	=साक्षी आत्मा में
इच्छादि रागादि सुखादि धर्मिकाः	=इच्छा, अनिच्छा, राग द्वेष, सुख दुखादि रूप
धियः	=बुद्धि की वृत्तियां
सदा	=सर्वदा
संसृतिः	=जन्म-मरण स्वरूप संसार की
हेतवः	=कारण हैं,
यस्मात्	=क्योंकि

सुषुप्तौ =सुषुप्ति में
तत्सव् =इनका
अभावतः =अभाव हो जाने से
नः =हमें
परः =आत्मा
हि =निस्सन्देह
सुखस्वरूपेण =सुख स्वरूप से
विभाव्यते =प्रतीत होता है।

भावार्थ— नैयायिक जो इच्छा, अनिच्छा, राग, द्वेष, सुख, दुख, धर्म, अधर्म, संस्कार, प्रयत्न, इत्यादि धर्म आत्मा के मानते हैं, उनका भगवान खण्डन करते हैं कि— साक्षी आत्मा में बुद्धि की ही वृत्तियां इच्छा, अनिच्छा, राग, द्वेष और सुख दुखादि रूप से हुआ करती हैं। प्राणी उन वृत्तियों को भ्रम से अपने आत्मा में आरोपित कर लेते हैं, अतएव उनके लिये वे जन्म-मरणरूप संसार की कारण हो जाती हैं। यदि इच्छादि धर्म आत्मा के होते, तो इनकी प्रतीति सुषुप्ति अवस्था में भी होती, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का अभाव नहीं रहता है। परन्तु उस अवस्था में तो बुद्धि की वृत्तियों के अभाव होने से राग, द्वेषादि का पता नहीं रहता; बल्कि आत्मा सुख स्वरूप से प्रतीत होता है। फिर जागृति तथा स्वप्न अवस्था में बुद्धि-वृत्तियों के उदय हो जाने पर इच्छादि धर्म प्रतीत होने लगते हैं, इससे जाना जाता है कि इच्छादि धर्म बुद्धि के ही हैं, आत्मा के नहीं। भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है— इच्छाद्वेष्य सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, चेतना, (प्राण)

धैर्य और इनका पारस्परिक संघात, इन विकारों के सहित क्षेत्र का वर्णन किया गया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त विकार क्षेत्र (सूक्ष्म शरीर) के ही हैं, आत्मा के नहीं। श्रुति में भी है—कामःसंकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिभीर्ह्रीर्सर्वं मनएवेति अर्थात् कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, भय और लज्जा, ये सब मन के ही धर्म हैं, इति। मन और बुद्धि, ये सूक्ष्म शरीर में ही हैं ॥ ३९ ॥

अनाद्यविद्योद्भव बुद्धि बिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्या परिच्छिन्न परः स एव हि ॥ ४० ॥

पदच्छेदः—अनादि, अविद्योद्भवः, बुद्धि विम्बितः, प्रकाशः, अयम्, इति, ईर्यते; चितः, आत्मा, धियः साक्षितया, स्थितः, बुद्ध्या, परिच्छिन्नात्, परः, सः, एव, हि ॥ ४० ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अनादि	=अनादि
अविद्योद्भवः	=अविद्या से उत्पन्न हुई
बुद्धिप्रतिविम्बितः	=बुद्धि में प्रति बिम्बित
अयम्	=यह
चेतः	=चेतन का
प्रकाशः	=प्रकाश
जीवः	=जीव

इति	=ऐसा
ईर्यते	= कहलाता है।
धियः	=बुद्धि का
साक्षितया	=साक्षी होने से
आत्मा	=आत्मा
पृथक्	=पृथक्
स्थितः	=स्थित है
सः	=वह
परः	=परमात्मा
एवहि	=निस्सन्देह
बुद्धया	=बुद्धि के
परिच्छिन्नात्	=परिच्छेद से
परः	=परे (रहित) है।

भावार्थ—जैसे जल से परिपूर्ण घड़े में दो आकाश होते हैं, एक तो वह आकाश है, जो उसमें व्यापक रह कर उसको अवकाश देता है, इसी कारण से जलमें गम्भीरता तथा स्थिरता रहती है, और दूसरा प्रतिविम्ब रूप से रहता है। इन दोनों आकाश में से पहला जो उसे अवकाश दिया है, वह तो उस जल के विकारों से रहित है, और दूसरा जो प्रतिबिम्ब रूप से है, वह स्वरूप से अविकारी होता हुआ भी उसमें जल के सकल विकार प्रतीत होते हैं, जैसे-जल की चंचलता से चंचलता, स्थिरतासे स्थिरता, मलीनता से मलीनता एवं स्वच्छता से स्वच्छता प्रतीत होती है। उसी प्रकार इस शरीररूपी घट में बुद्धि (अन्तःकरण) रूपी जल भरा है; उस बुद्धि में दो चेतन हैं, एक तो वह है, जो बुद्धि में रह कर उसे अव-

काश दिया है और दूसरा वह, जो कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित
इनमें से जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन है, उसे जीव कहते हैं,
रूप से निर्विकार होता हुआ भी उसमें बुद्धि के सकल धर्म
होते हैं, जैसे—शुभाशुभ कर्मों का कर्त्तापन तथा उसके फल
पुण्य-पाप का भोक्तापन एवं भली-बुरी योनियों में गमना
इत्यादि। दूसरा जो उस बुद्धि को अवकाश देने वाला (अधि
चेतन है, वह बुद्धि को उसके सम्पूर्ण धर्मों के साथ देखता (
हुआ उससे उदासीन (राग-द्वेष से रहित) रहता है, अतएव
निर्विकार, असंग एवं परमात्म-स्वरूप है। उसकी असंगता में
प्रमाण भी है, जैसे—असंगोह्यं पुरुषः। अर्थात् वह साक्षी
निस्सन्देह असंग है। उस असंग पुरुष का ही वह चेतन जीव
बिम्ब होने से वास्तव में वह उसका स्वरूप ही है। जब उस
को अपने असंग स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो उसके
दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति
जाती है ॥ ४० ॥

चिद्बिम्ब साक्ष्यात्म धियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्त लोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जड़ाजड़त्वं च चिदात्मचेतसोः ॥४१॥

पदच्छेदः—चिद्बिम्ब, साक्ष्यात्म, धियाम, प्रसंगत,
एकत्र, वासात्, अनलाक्तलोहवत्। अन्योन्यम्, अध्यास
म्प्रतीयते, जड़ाजड़त्व, च, चिदात्मचेतसोः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
तु	=परन्तु
अनलाक्त लोहवत्	=तपे हुये लोह के समान
चिद्बिम्ब	=चिदाभास
साक्ष्यात्मा	=साक्षी आत्मा
च +	=(और)
धियाम्	=बुद्धि के
प्रसंगतः	=परस्पर
एकत्र वासात्	=एकत्र होनेसे
अन्योन्यम् अध्यासम्	=अन्योन्याध्यास के
वशात्	=कारण
क्रमात् +	=क्रमशः
चिदात्म चेतसो	=चिदाभास और साक्षी आत्मा को
जड़ाजड़त्वम्	=जड़ता और चेतनता
प्रतीयते	=प्रतीत होती है।

भावार्थ—शुद्ध, असंग एवं चिदानन्द साक्षी का स्वरूप जीव अनादि का लेस अन्योन्याध्यास (भ्रम) के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ उस बुद्धि के जड़ता दुःखादि धर्मों को अपने में आरोपित कर के अपने शुद्ध स्वरूप साक्षी को जड़ता दुःखादि धर्मों वाला मानता है, और उस सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी से प्रति विम्बित हुई असत् जड़तादि रूप बुद्धि को सच्चित् रूप मानता है। बुद्धि आदि अनात्म पदार्थों के जड़तादि धर्म और चेतन आत्मा का चेतनादि धर्म, ये परस्पर मिले हुए कैसे प्रतीत होते हैं कि जैसे—

अग्नि से तपायमान लोह पिण्ड में अग्नि और लोहे का ता
सम्बन्ध हो जाने से अग्नि को उष्णता लोहे में तथा लोहे का
अग्नि में दिखलायी देता है ॥ ४१ ॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जात विद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जड़मात्मगोचरम् ॥ ४२॥

पदच्छेदः—गुरोः, सकाशात्, अपि, वेदवाक्यतः,
तम्, विद्या, अनुभवः निरीक्ष्य, तम्। स्वात्मानम्, आत्म
उपाधिवर्जितम्, त्यजेत्, अशेषम्, जड़म्, आत्मगोचरम् ॥

अन्वयः--	अर्थ--
गुरोः	=गुरु के
सकाशात्	=समीप से
अपि	=और
वेद वाक्यतः	=वेद वाक्यों से
सञ्जातम्	=उत्पन्न हुये
विद्या	=आत्म ज्ञान का
अनुभवः	=अनुभव होने पर
आत्मस्थम्	=हृदय में स्थित
तम्	=उस
उपाधि वर्जितम्	=उपाधि रहित

स्वात्मानम्	=अपने आत्मा को
निरीक्ष्य	=साक्षात्कार करके
आत्मगोचरम्	=आत्मारूप सेदिखायो देनेवाले
अशेषम्	=सम्पूर्ण
जड़म्	=जड़ पदार्थों को
त्यजेत्	=त्याग दे।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—गुरु के समीप रहने से अर्थात् गुरु को साष्टाँग प्रणाम और उनकी सेवा एवं उनसे विनम्र भाव से प्रश्न करने तथा उनके मुखारविन्दु से निकले हुये वेद वाक्यों के विचार से आत्मज्ञान होता है। साष्टांग प्रणाम का नियम यह है—शिरसा उरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। कराभ्यां पदाभ्यां जानूभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते॥ अर्थात् शिर से उर से, दृष्टि से, मन से, वाणी से, हाथों से, पैरों से, तथा जानुओं (ठेहुनों) से अष्टांग प्रणाम होता है। वेद वाक्य दो प्रकार के होते हैं, एक अवान्तर वाक्य और दूसरा महावाक्य। जो जीवात्मा और परमात्मा को सकल पदार्थों से अलग करके पृथक्-पृथक् वर्णन करे उसे अवान्तर वाक्य कहते हैं जैसे श्रुति—एषोऽन्तर ज्योतिः पुरुषः। अर्थात् यह जो हृदय में ज्योति यानी देह, इन्द्रियादि अनात्म वर्गों का साक्षी है, वह पुरुष (आत्मा) है, इत्यादि। यह जीवात्मा के प्रति अवान्तर वाक्य हुआ और परमात्मा के प्रति यह है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अर्थात् (असत्य जड़ तथा शांत रूप संसार से भिन्न) सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, इत्यादि। जो जीवात्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादक हो, उसे महावाक्य

कहते हैं, जैसे—तत्त्वमसि। अर्थात् वह (परमात्मा) तू(
है। यह सामवेद का महावाक्य है और "प्रज्ञान मानन्दं
अर्थात् आनन्द स्वरूप प्रज्ञान हो (आत्मा) ब्रह्म है। यह
वेद का महावाक्य है और "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं
यह यजुर्वेद का महावाक्य है। और "अयमात्मा ब्रह्म" अ
आत्मा ब्रह्म है। यह ऋग्वेद का महावाक्य है॥ सद्गुरु के
में यदि श्रद्धा-विश्वास हो, तो उनके अवान्तर वाक्यों से
ज्ञान परोक्ष होता है, अर्थात् यह जाना जाता है कि मैं देह
यादि जड़ पदार्थ नहीं हूँ, बल्कि इनका द्रष्टा हूँ। फिर महा
को अनुभव (विचार) करने से आत्म ज्ञान अपरोक्ष है
अर्थात् ऐसा बोध होता है कि मैं सच्चिदानन्द स्वरूप पर
इसी परोक्ष ज्ञान को ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान को विज्ञान क
पूर्वोक्त रीति से परोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक गुरु तथा
वाक्यों में अश्रद्धा एवं अविश्वास और अपरोक्ष ज्ञान का प्र
अविचार है। जिस प्रकार किसी की कोई प्रिय वस्तु भूल
और वह दुःखित हो कर उसकी प्राप्ति निमित्त अनेक स्थल
हो, परन्तु वह मिलती न हो। इतने ही में कोई यथार्थ वक्ता पुरु
कहे कि तेरी प्रिय वस्तु खोयी नहीं है; बल्कि अमुक गृह में
है। यदि वक्ता के बचन से उस पुरुष का विश्वास होगा,
अपनी खोयी हुई वस्तु का ज्ञान उसे हो जायगा, परन्तु वि
से ज्ञान तो अपनी आंखों से देखने ही पर होगा। अन्धे को
रहते हुए भी न तो वह वस्तु दिखलायी देगी और न प्राप्त ही
इस रीति से गुरु शास्त्र महावाक्य द्वारा केवल आत्म ज्ञान का
करते हैं, तत्त्व को पा जाना तो अपने अनुभव (विचार)

निर्भर है। अतः मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि अनुभव के द्वारा अपने हृदय में स्थित अविद्यादि, उपाधि से रहित आत्मा का साक्षात्कार करके आत्म रूप से प्रतीत होने वाले देहादि समस्त जड़ पदार्थों का त्याग करदे अर्थात् यह समझ जाय कि मैं देहादि नहीं हूँ, ये मेरे शुद्ध मुक्त स्वरूप में मिथ्या ही प्रतीत होते हैं॥ ४२॥

आत्म-चिन्तन।

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो-
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥ ४३॥

पदच्छेदः—प्रकाशरूपः, अहम्, अजः अहम्, अद्वयः, असकृत्, विभातः, अहम्, अतीव, निर्मलः। विशुद्धविज्ञान घनः, निरामयः, सम्पूर्ण, आनन्दमयः, अहम्, अक्रियः॥ ४३॥

अन्वयः—	अर्थ—
अहम्	= मैं
प्रकाशरूपः	= प्रकाशस्वरूप,
अजः	= अजन्मा,
अद्वयः	= अद्वितीय,
असकृत्	= निरन्तर

विभाति	=भासमान,
अतीव	=अत्यन्त
निर्मलः	=निर्मल
अस्मि +	=(हूं)।
च +	=(पुनः)
अहम्	=मैं
विशुद्धविज्ञानघनः	=विशुद्ध विज्ञान घन,
निरामय	=निरामय
अक्रियः	=क्रिया रहित
च +	=(और)
सम्पूर्णः	=एक मात्र
आनन्दमयः	=आनन्दस्वरूप
अस्मि +	=(हूं)

भावार्थ—आत्म ज्ञान होने के बाद ज्ञानी पुरु[ष] आत्म-चिन्तन जैसे—दीपक अपने समीप के विद्यमान पदार्थों[को] प्रकाशता है और उनके न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित रह[ता है] वैसे ही मैं इन जड़ देह इन्द्रियादि के विद्यमान रहने पर इन्हें प्रका[शता] (जानता) हूँ और सुषुप्ति और समाधि अवस्था में इनके अ[भाव] को प्रकाशता हूँ, परन्तु ये मुझे कभी नहीं जानते। इसलि[ए मैं] प्रकाश (चेतन) गुण वाला नहीं हूँ, बल्कि प्रकाशस्वरू[प हूँ।] फिर स्थूल शरीर का जन्म होता है; मेरा नहीं, क्योंकि मैं अ[जन्मा] हूँ। मुझ आत्मा के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, वे सभी माया[के] मिथ्या हैं, वस्तुतः मैं ही एक अद्वितीय हूँ, जैसे श्रुति—माया[...]

...दंद्वैतमद्वैतं परमार्थतः। पुनः शिशु, कुमार, किशोर, युवा, जरा, ...द्ध, स्थविर एवं गर्भ; ये सभी अवस्थाएं प्रकृति के गुणों के अनु...ार बदलती रहती हैं अर्थात् एक के बाद दूसरी और दूसरी के ...द तीसरी का क्रमशः अभाव हुआ करता है। परन्तु मैं इनको ...ानने वाला चेतन इन सब में भासमान रहता हूँ, अतएव मैं ...िरन्तर प्रकाशमान हूँ, जैसे श्लोक—शिशु कुमार किशोर युवा ...रा, वृद्धस्थविर गर्भस्प्रति देहिनाम्। विकृति जन्म गुणादि च ...भद्यते, चिदपि चैक निरन्तर भास्यते॥ १॥ जब तक बच्चे खड़े ...हीं होते, तब तक शिशु; पांच वर्ष की अवस्था तक कुमार; सोरह ...र्ष तक किशोर; जब तक केश न पकने लगें या इन्द्रियों की शक्ति ...ष्ट न होने लगे, तब तक युवा; शरीर से बिल्कुल चल-फिर न सकने ...र स्थविर और माता के पेट में गर्भ अवस्था होती है। फिर मैं ...िर्गुण होने से अत्यन्त निर्मल तथा विशुद्ध विज्ञानघन एवं ...अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश; इन पांच क्लेशों से ...हित निरामय हूँ। देहादि अपवित्र पदार्थों में पवित्र बुद्धि, स्वर्गादि ...अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि, हिंसा करने तथा मद-मांसादि खाने ... फल स्वरूप दुःख में सुख बुद्धि करनी एवं देहादि अनात्म पदार्थों ...ो आत्मा मानना अविद्या है; और जो दूसरों के जानने में न आवे, ...से हृदय के सूक्ष्म अहंकार को अस्मिता प्रेम को राग, शत्रुता को ...ष और मृत्यु से डरने को अभिनिवेश कहते हैं। पुनः मैं अवयव ...हित होने से निष्क्रिय एवं एक मात्र आनन्द स्वरूप हूँ। मुझ ...ानन्द स्वरूप के व्यापक होने से शब्दादि विषयों में मेरा तादा...त्म्य सम्बन्ध है, अतएव विषयी पुरुषों को सम्बन्धाध्यास के कारण ...न विषयों में आनन्द प्रतीत होता है; वे यह नहीं जानते कि वह

विषय सुख मुक्त आत्मा का ही झलक है ॥ ४३ ॥

सदैव मुक्तोऽस्म्यचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः—सदा, एव, मुक्तः, अहम्, अचिन्त्यशक्तिः अतीन्द्रियज्ञानम् अविक्रियात्मकः । अनन्तपारः अहम्, अहर्निशम् बुधैः, विभावितः, अहम् हृदि, वेदवादिभिः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
अहम्	=मैं
सदा एव	=सदा ही
मुक्तः	=मुक्त,
अचिन्त्यशक्तिमान्	=अचिन्त्य शक्ति वाला,
अतीन्द्रिय ज्ञानम्	=इन्द्रिय-ज्ञान से परे,
अविक्रियात्मात्मकः	=अविकृत रूप
च +	=(और)
अनन्तपारः	=अनन्त पार हूँ ।
वेदवादिभिः	=वेद वादी
बुधैः	=पण्डित जन के द्वारा
अहम्	=मैं
अहर्निशम्	=रात-दिन

हृदि =हृदय में
विभावितः =चिन्तन किया जाता हूं।

भावार्थ---मुझ प्रकाश स्वरूप में तमस्वरूप अविद्या अपने कार्य अहंकारादि के सहित तीन काल में नहीं है। क्योंकि प्रकाश और अंधकार में अत्यन्त विरोध है, इसलिये मैं सर्वदा ही मुक्त हूँ। जिस प्रकार नेत्र की वृत्ति अपने से दूर पदार्थ को ही देखती है, नेत्र के अत्यन्त समीप अञ्जन को नहीं देख सकती। उसी प्रकार बुद्धि (अन्तः करण) अपनी वृत्ति के द्वारा अपने से दूर के पदार्थ को ही जान सकती है, अपने में व्यापक मुझ अधिष्ठान को नहीं जान सकती। बुद्धि के वृत्ति में अथवा नेत्र की वृत्ति में यदि मैं प्रकाशस्वरूप नहीं रहता, तो वे वृत्तियां आवरण-भंग करती हुई भी किसी भी पदार्थ को जान नहीं सकतीं। जैसे—अंधकार के बीच किसी पात्र में रत्न रखा हो, तो उस आवरणरूप पात्र को दण्ड से तोड़ कर नष्ट कर देने पर भी जब तक दीपक आदि का प्रकाश न होगा, तब तक वह दिखलायी न देगा। वैसे ही मुझ चेतन के प्रकाश से जड़ मन बुद्धि अपना अपना काम करते हैं, परन्तु वे मुझको नहीं जानते; अतएव मैं अचिन्त्य हूँ। पंचभूतों के रजोगुण से उत्पन्न होने के कारण कर्मेंद्रियां किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकती हैं; बल्कि केवल अपना-अपना काम करती हैं। परन्तु पंचभूतों के सतोगुण से उत्पन्न होने से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, ये क्रमशः शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंध का ही ज्ञान करती हैं, मुझ अन्तर्व्यापी आत्मा को नहीं जान सकतीं। इसलिये मैं इन्द्रियातीत हूँ। और उत्पत्ति

तथा अवयव रहित होने के कारण अविकृत रूप (विकार रहित स्वरूप) हूँ। फिर, देश, काल, वस्तुरूप परिच्छेद एवं स्वगत स्वजातीय, विजातीयरूप भेद से रहित होने से मैं अनन्तपार हूँ। व्यापक होने से मुझमें देशपरिच्छेद, तीनकाल अबाधित सत्यस्वरूप होने से कालपरिच्छेद और सबका अधिष्ठान होने से वस्तु परिच्छेद भी नहीं है। अवयव रहित होने से मुझमें स्वगत भेद नहीं है; मुझ अद्वितीय चेतन के अतिरिक्त दूसरे चेतन के अभाव होने से मुझमें स्वजातीय भेद नहीं है, जीवचेतन और ईश्वर चेतन के अभाव होने से मुझमें स्वजातीय भेद नहीं है, जीव चेतन और ईश्वरचेतन, ये दोनों अविद्या तथा मायारूपी उपाधि के कारण मुझसे भिन्न प्रतीत होते हैं; वास्तव में वे मुझसे अभिन्न हैं। अद्वितीय होने से मुझमें विजातीय भेद भी नहीं है। मुझसे भिन्न जो माया है, वह अपने कार्य जगत के सहित मुझ में मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। वेद-वादी पण्डितजन 'तत्वमस्यादि' महा वाक्यों से लक्षणावृत्ति के द्वारा रात-दिन अपने हृदय में मेरा चिन्तन करते हैं॥ ४४॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः॥ ४५॥

पदच्छेदः—एवम्, सदा, आत्मानम्, अखण्डितात्मना, विचारमाणस्य, विशुद्धभावना। हन्यात्, अविद्याम्, अचिरेण, कारकैः, रसायनम्, यद्वत्, उपासितम् रुजः॥ ४५॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम्	=इस प्रकार
आत्मानम्	=आत्मा का
अखण्डितात्मना	=अखण्डवृत्ति से
विचारमाणस्य	=विचार करने वाले की
विशुद्धभावना	=विशुद्ध भावना
अचिरेण	=शीघ्र ही
कारकैः	=कारकों के सहित
अविद्याम्	=अविद्या का
हन्यात्	=नाश कर देती है,
यद्वत्	=जिस प्रकार
उपासितम्	=सेवन की हुई
रसायनम्	=औषधि
रुजः +	=(रोग को)
हन्यात् +	=(नष्ट कर देती है ।)

भावार्थ—पूर्व के तैंतालीस एवं चौवालीसवें श्लोक के अनुसार अपने स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने वाले पुरुष की भावना विशुद्ध हो जाती है अर्थात् उसके हृदय की सान्सारिक वासनायें नष्ट हो कर एक ब्रह्म तत्त्व ही प्रकाशता है। जिस प्रकार संयम, अनुपानादि नियमों के द्वारा सेवन की हुई औषधि रोग को नष्ट कर डालती है, उसी प्रकार नित्यमुक्त शुद्ध सच्चिदानन्दमय भावना के द्वारा शीघ्र ही कारकादि के सहित अविद्या का नाश हो

जाता है। फिर उसकी दृष्टि में कर्ता कर्म तथा कर्मफल नहीं रह जाते किन्तु जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ सिवा आत्म स्वरूप के दूसरा कुछ प्रतीत ही नहीं होता, यही सच्ची समाधि है। जैसे कहा है— देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥ अर्थात् अपने आत्म स्वरूप परमात्मा को जान लेने पर एवं देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही समाधियाँ हैं॥ ४५॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः॥ ४६॥

पदच्छेद—विविक्त, आसीनः, उपारतः, इन्द्रियः, विनिर्जितात्मा, विमलः, अन्तराशयः। विभावयेत्, एकम्, अनन्य साधनः, विज्ञानदृक्, केवल, आत्मसंस्थितः॥ ४६॥

अन्वयः— अर्थ—

विविक्त	=एकान्त में
उपारतेन्द्रियः	=इन्द्रियों को विषयों से हटा
च +	=(और)
विनिर्जित...	=अन्तःकरण को वश में
आसीनः	=बैठे

पुनः + =(फिर)
आत्म संस्थितः =आत्मा में स्थित होकर
अनन्य साधनः =दूसरे साधन का आश्रय न लेकर
विमलः =शुद्ध
अन्तराशयः =चित्त हुआ
केवलः =केवल
ज्ञानदृक् =ज्ञान दृष्टि से
एकम् =एक आत्मा की ही
विभावयेत् =भावना करे।

भावार्थ—आत्म-चिन्तन करने वाले पुरुष को चाहिये के जहां विषयी पुरुषों का जमाव न हो; सर्प, बिच्छू, आदि हिंसक जीव न हों, बहुत ऊंची या नीची पृथ्वी न हो; गंगा आदि का तट या कोई देव मन्दिर हो; ऐसे एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक कर और अन्तःकरण में सांसारिक वासनाओं को न आने देता हुआ कुशा, मृगचर्म, कम्बल, वस्त्र आदि का आसन लगा कर बैठे; फिर अपने शुद्ध सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप में स्थित हुआ भूत, देवतादि की पूजा; यज्ञादि कर्म, अनात्म विषयक ग्रन्थों का अवलोकन; इत्यादि दूसरे साधनों का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टि के द्वारा तैंतालीस एवं चौवालीसवें श्लोक के अनुसार आत्मा की ही भावना करे॥ ४६॥

विश्वं यदेतत्परमात्म दर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।

पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेदबाह्यं न च किञ्चिदान्तरम् ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः—विश्वम्, यत्, एतत्, परमात्म दर्शनम्, वि- पयेत्, आत्मनि, सर्वकारणे । पूर्णः, चिदानन्दमयः, अवतिष्ठते, वेद, बाह्यम्, न, च, किञ्चित्, आन्तरम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः--		अर्थ--
एतत्		=यह
यत्		=जो
विश्वम्		=विश्व है
तत्		=(सो)
परमात्मदर्शनम्		=परमात्म स्वरूप है,
इति ज्ञात्वा	÷	=(ऐसा जानकर)
सर्वकारणे		=सब के कारण
आत्मनि		=आत्मा में
विलापयेत्		=लय करे,
इति प्रकारेण	÷	=(इस प्रकार)
यः	÷	=(जो)
पूर्णः		=पूर्ण
चिदानन्द मयः		=चिदानन्द स्वरूप से
अवतिष्ठते		=स्थित हो जाता है,
सः	÷	=वह
नवाह्यम्		=न बाहर

वेद	=जनता है
च	=और
न किञ्चित	=न कुछ
आन्तरम्	=भीतर
वेद -।-	=(जानता है ।)

भावार्थ — यह विश्व परमात्मा का स्वरूप है, जैसे श्रुति पुरुषसवेदं सर्वं । ब्रह्मै वेदं सर्वं । वासुदेवः सर्वं । शिवादन्यन्न किञ्चन । अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष ही है, 'यह सब विश्व ब्रह्म ही है,' 'यह सब वासुदेव स्वरूप है,' 'शिव से भिन्न कुछ नहीं है,' इत्यादि । पुरुष, ब्रह्म, वासुदेव, शिव, इत्यादि ये सब एक ही परमात्मा के पर्याय शब्द हैं । इस रीति से जब यह विश्व परमात्म स्वरूप ही है और 'अयमात्मा ब्रह्म,' इस श्रुति के अनुसार यह आत्मा ही परमात्मा है, इसलिए इस विश्व को सबके कारण रूप आत्मा में लय करे । जैसे—पूर्व के अट्ठाइस एवं उनतीसवें श्लोक के अनुसार यह अखिल ब्रह्माण्ड पञ्चभूतों से बना है । इसलिए पांच तत्त्वों से भिन्न नहीं है । फिर जैसे जल से उत्पन्न हुआ बर्फ जल स्वरूप ही होता है, वैसे ही जल से उत्पन्न हुई पृथ्वी जल स्वरूप ही है और अग्नि से उत्पन्न हुआ जल अग्नि से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में लय किया । पुनः आकाश को परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति माया में और माया को परमात्मा में लय कर दिया; क्योंकि शक्तिमान् से शक्ति भिन्न नहीं होती । अब एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह गया, इस प्रकार लय चिन्तन के द्वारा जो पूर्ण सच्चिदानन्द रूप से स्वयं स्थित हो जाता है, वह न तो कुछ बाहर

जानता है, और न भीतर। क्योंकि देश, काल, वस्तु, आ दिशा, बाहर, भीतर, इत्यादि ये सब भेद माया के रचे हुए जब वह सब के कारण माया को अपने आत्म स्वरूप में लय दिया, तो उसके लिए बाहर भीतर, इत्यादि कोई भी भेद न गया। न तो अनुभव करने योग्य कोई पदार्थ रह गया और स्मरण करने योग्य। जैसे लवण की पुतली समुद्र में मिल समुद्र रूप हो जाती है, वह अपने और समुद्र को भिन्न-भिन्न देखती। वैसे ही वह पुरुष एक ही अद्वितीय रूप से स्थि जाता है ॥ ४७ ॥

ओंकारोपासना।

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥ ४८ ॥

पदच्छेदः—पूर्वम्, समाधेः, अखिलम, विचिन्तये ओङ्कारमात्रमसचराचरम्, जगत्। तत्, एव, वाच्यम्, हि, वाचकः, विभाव्यते, अज्ञानवशात्, न, बोधतः ॥ ४८ ॥

अन्वयः— अर्थ—

समाधेः =समाधि से

पूर्वम् =पूर्व

इति +	=(ऐसा)
विचिन्तयेत्	=चिन्तन करे
इदम् ÷	=(यह)
सचराचरम्	=सम्पूर्ण चराचर
जगत्	=जगत्
ओंकारमात्रम्	=ओंकार मात्र है।
हि	=निस्सन्देह
तत्	=वह संसार
एव	=ही
वाच्यम्	=वाच्य है
च +	=(और)
प्रणवः	=ओंकार
वाचकः	=वाचक है
अज्ञान वशात्	=अज्ञान के कारण
विभाव्यते	=प्रतीत होता है,
न बोधतः	=ज्ञान होने पर नहीं।

भावार्थ—पूर्व भगवान राम ने चौबीस श्लोक से लेकर सत्ताइसवें श्लोक तक उत्तम अधिकारी के लिये महावाक्य के विचार का तथा अट्ठाइस श्लोक से तीसवें तक आत्मा और उसकी उपाधियों को बतलाते हुए एकतीस से पैंतीसवें तक उन उपाधियों का बाधपूर्वक आत्म स्वरूप का एवं छत्तीस से बयालीसवें तक अध्यास और उसके खण्डन का तथा पैंतालिस से छीआलीसवें

श्लोक तक आत्म-चिन्तन का वर्णन किया। पुनः सैंता
श्लोक में मध्यम अधिकारी के लिए लय-चिन्तन बतला कर
अरतालिस श्लोक से चौवानवें तक माण्डूक्य-श्रुति के
ओंकार की उपासना के द्वारा अपने परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति
लाते हैं। —जब आत्मदेव के साक्षात्कार होने पर उस
चित्त-वृत्ति की प्रगाढ़ स्थितिरूप समाधि होने लगती है, तब
प्रकार के चिन्तन की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः
प्राप्ति से पहले ऐसा चिन्तन करे कि—यह समस्त चराचर
ओंकारमात्र है। जैसे माण्डूक्य श्रुति से कहा है—ओमित्येत
मिदंसर्वं। अर्थात् यह सब जगत 'ओम्' ऐसा अक्षरमात्र है।
ओंकारवाचक है और संसार वाच्य है तथा इस ओंकार स्वरू
अज्ञान से ही इस संसार की प्रतीति होती है, उसका ज्ञान हो
यह तो रह ही नहीं सकता ॥ ४८ ॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजसईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत् ॥ ४९ ॥

पदच्छेदः—अकारसंज्ञः, पुरुषः, हि, विश्वकः, हि, उ
रकः, तैजसः. ईर्यते, क्रमात्। प्राज्ञः, मकारः, परिपठ्यते, अखि
समाधिपूर्वम्, न, तु, तत्त्वतः, भवेत्, ॥ ४९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
क्रमात्	=क्रमसे
विश्वक	=विश्व
पुरुषः	=पुरुष
अकारसंज्ञः	=अकार संज्ञावाला
हि	=और
तैजसः	=तैजस
उकारकः	=उकार
ईर्यते	=कहलाता है
ह	=और
प्राज्ञः	=प्राज्ञ
मकारः	=मकार
परिपठ्यते	=कहा जाता है,
एतत् -|-	=(यह)
अखिलैः	=सब क्रम
समाधिपूर्वम्	=समाधि से पहले का है
तत्त्वतः	=तत्त्व दृष्टि से
न तु	=नहीं
भवेत्	=हो सकता।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में माण्डुक्य श्रुति के अनुसार सिद्ध किया गया था कि यह जगत केवल ओंकारमात्र है। वह ही इस श्रुति में यह भी कहा है सर्वंह्येतत् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। अर्थात्

यह सब जगत ब्रह्म है और यह आत्मा भी ब्रह्म है। इससे यह
होता है कि ओंकार, ब्रह्म और आत्मा, से सब एक ही पदार्थ है।
अतः ये परस्पर पर्याय शब्द हैं; ऐसा नहीं मानने से एक ही
के कथन में भारी विरोध पड़ेगा। अब यह शंका होती है कि
संसार रूप ओंकार से ब्रह्म तथा आत्मा की एकता कैसे है? इस
का समाधान तीन श्लोकों में करते हैं—ओंकार में अ, उ, म
ये तीन वर्ण हैं; तथा आत्मा भी जागृतादि भेद से तीन संज्ञा
है, जैसे—जागृत के अभिमानी होने से विश्व, स्वप्न के अ
नाय से तैजस और सुषुप्ति अवस्था के अभिमान करने से
यह विश्वरूप आत्मा जागृत अवस्था में पृथ्वी चरण, समुद्र
शय, आकाश धड़, वायु प्राण, दिशाएं श्रोत्र, सूर्य नेत्र और
शिर;* इन सात अङ्गों से युक्त हुआ तथा बहिर्मुख वृत्ति
होकर पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और
अन्तःकरण (मन, बुद्धि; चित, अहंकार) इन उन्नीस मुखों
बाहर के स्थूल भोगों को भोगता है स्वप्न अवस्था का अभि
तैजसरूप आत्मा पूर्वोक्त सात अङ्गों से युक्त हुआ अन्तर्मुख
होकर पूर्वोक्त उन्नीस मुखों से स्वप्न के सूक्ष्म भोगों को भ
है। सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञरूप आत्मा न तो
वृत्ति वाला, न अन्तर-वृत्ति वाला; न एक साथ (बाहरी-भी
तरक) दोनों वृत्ति वाला; न सात अङ्ग वाला, न उन्नीस मुख
न सूक्ष्म भोग वाला और न स्थूल भोग वाला होता है

* यद्यपि ये सात अङ्ग विराट के हैं, तथापि विश्व की
से एकता है; इसलिए ये विश्व के कहे गये।

चेतन स्वरूप एवं चेतन ही मुख वाला होकर आनन्द का भोक्ता है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, अन्तःकरणादि अपने कारण अविद्या में लय होकर उसका स्वरूप ही हो जाते हैं। जैसे— रात्रि में अनेक जाति के वृक्षों वाला बगीचा एक अन्धकार में ऐसा लय हो जाता है कि किसी भी वृक्ष का ज्ञान नहीं रहता; किन्तु केवल अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है। वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में अविद्या समस्त पदार्थों को अपने में लय करके केवल आप ही रह जाती है, तब चेतन स्वरूप आत्मा उस अविद्या का अनुभव करता हुआ अपने आनन्द स्वरूप को भी जानता है।

पूर्वोक्त आत्मा का पहला पाद जो विश्व है, वह ओंकार के पहले अक्षर का स्वरूप है, और दूसरा विश्व उकार स्वरूप एवं प्राज्ञ मकार स्वरूप है। मुमुक्षु पुरुष इस प्रकार का चिन्तन समाधि से पहले करे, क्योंकि यह व्यवस्था समाधि के पहले की ही है; उस समाधि के प्राप्त हो जाने पर तो आत्मा में विश्व, तैज, प्राज्ञ अथवा अकार, उकार, मकारादि भेद रह ही नहीं जाते। उस समय तो एक ही अद्वितीय आत्मसत्ता अपने आप में स्थित रहती है। सम्पूर्ण भेद अज्ञान अवस्था में मुमुक्षु ज्ञान प्राप्ति निमित्त कहे जाते हैं॥ ४९॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ५०॥

पदच्छेदः—विश्वम्, तु, अकारम्, पुरुषम् विलाप[illegible] उकारमध्ये, बहुधा, व्यवस्थितम् । ततः, मकारे, प्रविलाप्य, तैज[illegible] द्वितीय वर्णम्, प्रणवस्य, च, अन्तिमे ॥ ५० ॥

अन्वयः—	**अर्थ—**
तु	=फिर
बहुधा	=नाना प्रकार से
व्यवस्थितम्	=स्थित
अकारम्	=अकार रूप
विश्वम् पुरुषम्	=विश्व पुरुष को
द्वितीय वर्णे	=दूसरे वर्ण
उकारमध्ये	=उकार में
विलापयेत्	=लीन करे
च	=और
ततः	=फिर
द्वितीय वर्णम्	=दूसरे वर्ण
तैजसम्	=तैजस रूप
उकारम्	=(उकार को)
तस्य	=(उसके प्रणव के)
अन्तिमे	=अन्तिम वर्ण
मकारे	=मकार में
विलापयेत्	=लीन करे।

भावार्थ—पूर्व के श्लोक में कहा हुआ जो सात [illegible] तथा उन्नीस मुख वाला होने से वह नाना अवयव एवं रूप [illegible]

...सा जो ओंकार का पहला पद अकाररूप विश्वपुरुष है, उसको ...ओंकार के दूसरे वर्ण उकार रूप तैजस में लय करे अर्थात् ऐसा ...चिन्तन करे कि वह विश्वपुरुष ही स्वप्न अवस्था के अभिमानी ...ने से तैजस कहलाता है, इसलिए विश्व तैजस स्वरूप ही ...। फिर ओंकार के दूसरे वर्ण रूप तैजस को उसके तीसरे वर्ण ...काररूप प्राज्ञ में लीन करे अर्थात् ऐसा चिन्तन करे कि वह तैजस ...ी सुषुप्ति के अभिमानी होने से प्राज्ञ संज्ञा वाला होता है, अतएव ...जस प्राज्ञ स्वरूप ही है ॥ ५० ॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम् ।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ् मुक्त उपाधितोऽमलः ॥ ५१ ॥

पदच्छेदः—मकारम्, अपि आत्मनि, चिद्घने, परे, ...लापयेत्, प्राज्ञम, अपि, इह, कारणम्। सः, अहम्, परम्, ब्रह्म, ...दा, विमुक्तिमत्, विज्ञानदृङ्, मुक्तः, उपाधितः, अमलः, ॥ ५१ ॥

अन्वयः— अर्थ—

...नः =(फिर)
...ह =इस
...रणम् =कारणात्मा
...ाज्ञम् =प्राज्ञरूप
...कारम् =मकार को

अपि	=भी
चिद्घने	=चिद्घन
परे आत्मनि	=परमात्मा में
विलापयेत्	=लय करे;
च +	=(और)
इति +	=(ऐसी)
भावना +	=(भावना)
कुर्यात् +	=(करे, कि)
सः	=वह
सदा	=नित्य
विमुक्तिम्	=मुक्त
विज्ञानदृङ्	=विज्ञान स्वरूप
उपाधितः	=उपाधि से
मुक्तः	=रहित
अमलः	=निर्मल
परम् ब्रह्मम्	=परब्रह्म
अहम्	=मैं
अस्मि +	=(हूं)

भावार्थ—सूक्ष्मसृष्टि स्वप्न तथा स्थूल सृष्टि अवस्था की कारण अविद्या सुषुप्ति में सम्पूर्ण सूक्ष्म-स्थूल को अपने में लीन करके आत्मा के आश्रय रहती है, फिर कर्म-फल भोग के लिए उस आत्मा की सत्ता से अपने सूक्ष्मस्थूल सृष्टि को फैला देती है। क्योंकि आत्मा की

(हो)ना जड़ होने के कारण अविद्या स्वयं सृष्टि तथा लय नहीं कर (स)कती, अतएव उस अविद्या के सहित आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं। (इ)स रीति से जागृत तथा स्वप्नरूप प्रपञ्च का कारण जो प्राज्ञरूप (म)कार है, उसे चिद्घनरूप परमात्मा में लीन करे अर्थात् ऐसा (चि)न्तन करे कि जिस अविद्या के कल्पित सम्बन्ध से आत्मा प्राज्ञ (रू)प को प्राप्त हुआ है, वह अविद्या प्रतीतिमात्र मिथ्या है, क्योंकि श्रुति एक अद्वितीय आत्मा को ही सिद्ध करती है। इस प्रकार से जब अविद्या मिथ्या ही है, तो वह प्राज्ञ चिन्तन रूप परमात्मा से भिन्न नहीं है; बल्कि उसका स्वरूप ही है। जैसे—मैदान में रखे हुए जल सहित घड़ा के फूट जाने पर उसमें का सूर्य प्रतिबिम्ब, (व्)यापक किरणों (प्रकाश) वाला सूर्य स्वरूप ही हो जाता है। (वै)से ही अविद्या को मिथ्या समझ लेने पर प्राज्ञ रूप जीवात्मा पर-(म)ात्म स्वरूप ही हो जाता है। फिर ऐसी भावना करे कि—प्राज्ञ (रू)प मकार के लय करने से जो नित्यमुक्त विज्ञान स्वरूप उपाधि (र)हित निर्मल परब्रह्म बचा है, वह मैं हूँ ॥ ५१ ॥

परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि।
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
शिवः केवलोऽहम् शिवः केवलोऽहम्॥
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्दघन।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्दघन॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।

आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥ ५२ ॥

पदच्छेदः—एवम्, सदा, जातपरात्मभावनः, स्वानन्दतुष्टः, परिविस्मृतः, अखिलः । आस्ते, सः नित्यः, आत्मसुखप्रकाशकः, साक्षात्, विमुक्तः, अचलवारिसिन्धुवत्, ॥ ५२ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यः	=(जो)
एवम्	=इस प्रकार
सदा	=निरन्तर
जातपरात्मभावनः	=परमात्मभावना से उत्पन्न
स्वानन्दतुष्टः	=आत्मानन्द में सन्तुष्ट होकर
तथा +	=(तथा)
येषाम् +	=(जिसे)
अखिलः	=सम्पूर्ण
प्रपञ्चः +	=(प्रपञ्च)
परिविस्मृताः	=विस्मृत हो गया है,
सः	=वह
नित्यः	=नित्य
आत्मसुखप्रकाशकः	=आत्म-सुखका अनुभव करने
अचलवारिसिन्धुवत्	=निस्तरंग सिन्धु के समान
साक्षात्	=साक्षात्
विमुक्तः	=मुक्त स्वरूप होकर
आस्ते	=स्थित होता है।

भावार्थ—पूर्व श्लोक के कथनानुसार परमात्मा का अभेद भाव से निरन्तर चिन्तन करते-करते जब आत्मानन्द का समुद्र उमड़ पड़ता है, तो चहुँओर आनन्द-ही-आनन्द प्रतीत होने लगता है और उस आनन्द सागर में निमग्न हुआ पुरुष अपने शरीर सहित सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को भूल जाता है। वह नित्य आत्मानन्द का अनुभव करने वाला जीवनमुक्त निस्तरंग समुद्र के समान अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हुआ साक्षात् मुक्त स्वरूप होकर स्थित होता है ॥ ५२ ॥

एवं सदाऽभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्त सर्वेन्द्रिय गोचरस्य हि ।
विनिर्जिता शेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः ॥ ५३ ॥

पदच्छेदः—एवम्, सदा, अभ्यस्तसमाधियोगिनः, निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य, हि । विनिर्जिताः शेषरिपो, अहम्, सदा, दृश्यः, भवेयम्, जितषड्गुणात्मनः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम्	=इस प्रकार
सदा	=निरन्तर
अभ्यस्तसमाधियोगिनः	=जो समाधि योग के अभ्यास करने वाले हैं,
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य	=जिनके सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय निवृत्त हैं

च +	=(और)
विनिर्जिताशेषरिपोः	=जिन्होंने सम्पूर्ण शत्रुओं (क्रोधादि) को जीत लि
तेषाम् +	=(उन)
जितषड्गुणात्मनः	=छः इन्द्रियों (मन और प ज्ञानेन्द्रियां) को जीतने के लिए
हि	=निस्सन्देह
अहम्	=मैं
सदा	=निरन्तर
दृश्यः	=साक्षात्कार
भवेयम्	=होता हूँ।

भावार्थ—ज्ञान की सात भूमिकायें होती हैं, उनमें एक की प्राप्ति हो जाने पर पुरुष की दुर्गति नहीं होती, बल्कि की और भूमिकाओं में पहुँच कर मुक्त हो जाता है। यदि पूर्व संस्कार की प्रबलता रहती है, तब तो इसी जन्म में, नहीं तो के जन्मों में पूर्व अभ्यास के वशीभूत हुआ खिच जाता है। श्री कृष्णजी ने अपनी गीता में कहा है—"पूर्वाभ्यासेन ह्रियते ह्यवशोपि सः।" "अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति गतिम्।" अर्थात् हे अर्जुन! वह मुमुक्षु पुरुष पूर्वाभ्यास के से परबश हुआ दूसरे जन्म में भी आगे की भूमिकाओं की बलात्कार खिच जाता है। ऐसे ही हर एक जन्म में आगे की बढ़ते-बढ़ते अनेक जन्मों में ज्ञान-सिद्धि को पा कर परम

(परब्रह्म स्वरूप आत्मा) को प्राप्त हो जाता है और उस आनन्द को पाकर फिर उससे अधिक कोई लाभ नहीं मानता, जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—यंलब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

इस रामगीता के सातवें श्लोक के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन निष्काम एवं ईश्वरार्पण पूर्वक करने से हृदय शुद्ध होकर मोक्ष की उत्कट इच्छा से सम्पूर्ण कर्मों का विधिवत् त्याग करके सद् गुरु के शरण में जाता है, तो पूर्वोक्त ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पहली भूमिका समाप्त हो जाती है। फिर चौबीस से सत्ताइसवें तक गुरुमुख से महावाक्य अथवा अट्ठाइस से बयालीसवें तक आत्मा की उपाधियों तथा अध्यास का बाध या तैंतालीस से सैंतालीसवें तक आत्म-चिन्तन एवं अड़तालीस से एकावनवें श्लोक तक ओंकारोपासना का श्रवण करके मनन (निश्चय) कर चुकने पर दूसरी भूमिका पूरी हो जाती है। उसके बाद उस मनन किये हुये आत्म तत्त्व के अभ्यास में तत्पर होने पर तीसरी और उसका साक्षात्कार कर लेने पर चौथी भूमिका समाप्त हो जाती है। संसार के जन्म-मरण रूपी बन्धन से छूट कर मुक्ति पा जाने के लिये यही भूमिका पर्याप्त है। इस भूमिका में पहुँचा हुआ जीवन मुक्त पुरुष प्रारब्ध भोग को समाप्त करता हुआ अपने स्वरूप में स्थित रहता है, उसके लिये मोक्ष निमित्त कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता। उस चौथी भूमिका के बाद पांचवीं और छठीं ये दोनों भूमिकायें जीवन मुक्ति के सुख निमित्त हैं और सातवीं में जा कर तो पुरुष का शरीर एक-आध महीने से अधिक नहीं रहता, किन्तु छूट जाता है। फिर वह पुरुष विदेह मुक्त हुआ शरीर धारण नहीं करता। इसका वर्णन

श्रुति में भी किया है, जैसे-विमुक्तश्च विमुच्यते। अर्थात् जो
के बन्धन से मुक्त हुआ जीवन मुक्त पुरुष है, वह भी शरीर छोड़
फिर विदेह मुक्त होता है। यह सब वार्ता अज्ञानियों की दृष्टि
कही गयी है, उस ज्ञानी की दृष्टि से नहीं। क्योंकि ज्ञान हो जाने
माया तथा माया जनित प्रारब्ध भोग का अत्यन्त अभाव हो
है, जैसे श्रीमच्छंकराचार्य ने कहा है-देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रार
वस्थितः कुतः। अज्ञानिजन बोधार्थं प्रारब्धंवक्ति वैश्रुति॥ अ
(ज्ञान होने पर प्रपञ्च का बाध हो जाता है, अतः) देह के
प्रपञ्च होने पर उसके प्रारब्ध की स्थिति कैसे रह सकती? प्रा
का कथन तो श्रुति ने अज्ञानियों के बोध निमित्त किया है।

पूर्वोक्त ज्ञान की सात भूमिकाओं के क्रमशः ये नाम हैं-शुभे
सुविचार, तनु मानसा, असत्वापत्ति, पदार्थीभावनी, और तुरि
चौथी भूमिका के प्राप्त हो जाने के बाद भी जब पुरुष पांचवीं भूमि
में पहुँचता है, तब प्रारब्ध जनित अन्तःकरण की वासनाओं का
दृढ़ वैराग्य के द्वारा क्षय करके मनोनाश कर देता है अर्थात्
तो दृढ़ वैराग्य के कारण मन अनात्म पदार्थों का चिन्तन
करता और उधर मन-वाणी से परे आत्मा को ग्रहण नहीं
सकता, अतः बीच ही में नष्ट हो जाता है यानी मनोवृत्ति श
(लय) हो जाती है, तब आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा नि
रूप से प्रकाशता है, इसी आत्मानन्द के प्रकाश को तत्व
कहते हैं। इस प्रकार जब वासना क्षय मनोनाश एवम् तत्त्व
होता है, तब वह पुरुष छठीं भूमिका में पहुँच कर आनन्द-साग
डूब जाता है अर्थात् आनन्द के सिवा दूसरा कुछ नहीं भासत

इसी अवस्था का वर्णन पूर्व के बावनवें श्लोक में करके पुनः इस तिरानवें श्लोक में इसी की पुष्टि की जाती है। जो पूर्व श्लोक के कथनानुसार निरन्तर समाधि योग का अभ्यास करते हैं, जिनके सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय निवृत्त होगये हैं तथा जिन्होंने काम, क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लिया है, उन छहों (मन और पांच ज्ञान इन्द्रियां) को जीतने वाले महात्माओं को मुझे निर्गुण परमात्मा का आत्म रूप से निरन्तर साक्षात्कार होता है।

यद्यपि गुणातीत जीवन मुक्त पुरुष व्यवहार में रहता हुआ भी मुक्त ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण गुणमय व्यवहारों को अपने आत्मस्वरूप में कल्पित जानता है। अतएव सतोगुण के कार्य इन्द्रिय प्रकाशादि, रजोगुण के कार्य कर्मों में प्रवृत्ति इत्यादि और तमोगुण के कार्य मोहादि, न तो इनकी निवृत्ति में इच्छा करता और न प्रवृत्ति में द्वेष, जैसे श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है—प्रकाशंच प्रवृत्तिं च मोह मेव च. पांडव। न द्वेषि सम्प्रवृतानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ तथापि व्यावहारिक कार्यों में मन इन्द्रियों के वश में न होने से तथा शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होने से हृदय में काम, क्रोध, राग द्वेषादि का संचार होता रहता है. उसमें जीवन मुक्ति का सुख नहीं मिलता, अतः मन और इन्द्रियों को रोक कर काम. क्रोधादि शत्रुओं को अपने वश में करता हुआ निरन्तर समाधि योग के अभ्यास में तत्पर रहे॥ ५३॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५४॥

पदच्छेदः—ध्यात्वा, एवम्, आत्मानम्, अहर्निशम्, मुनिः, तिष्ठेत्, सदा, मुक्तसमस्तबन्धनः। प्रारब्धम्, अश्नन्, अभिमानवर्जितः, मया, एव, साक्षात्, प्रविलीयते, ततः ॥ ५४॥

अन्वयः—	अर्थ—
एवम्	=इस प्रकार
अहर्निशम्	=रातदिन
आत्मानम्	=आत्मा का
एव	=ही
ध्यात्वा	=चिन्तन करके
मुनिः	=मुनि
सदा	=सदा
मुक्तसमस्तबन्धनः	=सकल बन्धनों से रहित,हो
तथा +	=(तथा)
अभिमानवर्जितः	=अभिमान को छोड़ कर
प्रारब्धम्	=प्रारब्ध को
अश्नन्	=भोगता हुआ
तिष्ठेत्	=रहे।
ततः	=शरीर छूटने के बाद
सः +	=(वह)
मयि एव	=मुझमें ही
साक्षात्	=साक्षात्
प्रविलीयते	=मिल जाता है।

भावार्थ—पूर्व के श्लोकों में जीवनमुक्ति का वर्णन कर के अब इस श्लोक में विदेहमुक्ति का वर्णन करते हैं—पूर्व श्लोक के अनुसार रात दिन आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे। श्री कृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में मुनि का लक्षण इस प्रकार कहा है—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहःवीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। अर्थात्—जिसका मन दुःख में उद्विग्न नहीं है तथा जिसकी सुख में आकांक्षा नहीं है; जो काम, क्रोधादि से रहित एवं स्थिरबुद्धि वाला है, उसे मुनि कहते हैं। आत्म-चिन्तन करने वाला मुनि सम्पूर्ण बन्धनों से छूट जाता है, जैसे श्रुतिः—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ अर्थात् उस परावर (परमात्मा) को देख (साक्षात्कारकर) लेने में इस पुरुष के जो हृदय की ग्रन्थि है, (ज़ड़-चेतन का तादाम्य सम्बन्ध) वह छूट जाती है। वेदान्त शास्त्र जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक है अथवा भिन्नता का ? मैं ब्रह्म हूँ या नहीं ? यह संसार ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न ? ज्ञान और कर्म इन दोनों से मोक्ष होता है या केवल ज्ञान से ? इत्यादि सम्पूर्ण संशयों का अभाव हो जाता है तथा सकल संचित कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर भगवान राम कहते हैं कि— कर्ता-भोक्तापन के अभिमान को छोड़ कर प्रारब्ध-फल को भोगता रहे, इससे वह शरीर छोड़ कर मुझमें साक्षात् लीन हो जाता है। आत्म-चिन्तन करने वाला

ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप को निष्क्रिय समझता है, अतः इन्द्रियों के कर्मों को अपना नहीं मानता। इसलिये नित्य प्रति क्रियमाण कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता, जैसे श्री कृष्ण जी ने है—यस्य नाहं कृतो भावे बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ अर्थात् जिस पुरुष का 'मैं कर्ता' ऐसा भाव नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि पाप-पुण्य से लिपायमान नहीं होती, (अर्थात् मैं पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, ऐसी भावना न होती) वह (किस लिये मारेगा, परन्तु अदृष्टादि की प्रेरणा से अज्ञानियों की दृष्टि से) इन सम्पूर्ण लोकों को मार करके न तो मारता है और न उस हिंसाजन्य पाप को प्राप्त होता है। भी कहा है—सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोभिजायते। अर्थात् ज्ञानी पुरुष सब प्रकार से व्यवहार में वर्तता हुआ भी फिर नहीं लेता यानी मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस वर्तमान शरीर भोगने के लिये प्रारब्ध भोग का प्रारम्भ हो चुका है, वह तो हुये बाण के समान अपने वश के बाहर है। अतएव उसकी हेलना न करता हुआ उसे अन्तःकरण का भोग समझ कर करे। इस संसार में इस प्रकार से विचरने वाला जीवन मुक्त जीते-जी-तो परमात्मा से अभेद प्राप्त किया ही है, वरन् शरीर पर भी साक्षात् उसमें लीन हो जाना है; वह स्वर्ग, बैकुण्ठ, कैलाश, गोलोकादि में नहीं जाता, क्योंकि उसकी दृष्टि में ये सब मय मिथ्या हैं। जहां उपनिषदों में इन लोकों से लौटना नहीं लिखा वहां इनका ब्रह्म में ही अन्तर भाव है। वेदान्त शास्त्र दृष्टि सृष्टि

मानता है। अर्थात् जिसकी जैसी दृष्टि (भावना) है, उनके लिये वैसी ही सृष्टि है। ज्ञानी की दृष्टि में एक ब्रह्म तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता, वह जीवन पर्यन्त उस ब्रह्मात्मा का ही चिन्तन करता हुआ उसी में स्थित रहता है, अतएव वह शरीर छोड़कर उस ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। भगवान श्री कृष्ण जी ने भी कहा है—यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाविताः॥ अर्थात् हे कौन्तेय! पुरुष जिस जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह सर्वदा उसी भाव में भावित (तन्मय) हुआ उसीको प्राप्त होता है॥५४॥

आत्म-चिन्तन की आवश्यकता।

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम्॥५५॥

पदच्छेदः—आदौ, च, मध्ये, च, तथा, एव, च, अन्ततः, भवम्, विदित्वा, भयशोककारणम्। हित्वा, समस्तम्, विधिवाद-चोदितम्, भजेत्, स्वम्, आत्मानम्, अथ, अखिलात्मनाम्॥५५॥

अन्वयः—	अर्थ—
भवम्	=संसार को
आदौ	=आदि
च	=और
मध्ये	=मध्य
तथा	=तथा
अन्ततः	=अन्त में
एव	=भी
भय शोक कारणम्	=भय और शोक का कारण
विदित्वा	=जान करके
समस्तम्	=सम्पूर्ण
विधिवाद चोदितम्	=वेद विदित कर्मों को
हित्वा	=त्याग कर
अथ	=पुनः
अखिलात्मनाम्	=सबके अन्तरात्मा रूप
स्वम्	=अपने
आत्मानम्	=आत्मा को
भजेत्	=भजन करे।

भावार्थ—यह संसार आदि, (बाल्यावस्था) म... (युवावस्था) और अन्त (वृद्धावस्था) में भी भय तथा ... का ही कारण है, जैसे—बाल्यावस्था में बालक विशेष अज्ञानता ... कारण अपने हृदय का भाव पूरा किसी से कुछ कह नहीं स...

बल्कि मन-ही-मन कुछ शोक करता है तथा अपने से अधिक भोजन वस्त्रादि से सम्पन्न दूसरे लड़कों को देख कर मन-ही-मन कुढ़ा करता है एवं अपने से बड़े माता-पिता आचार्य और लड़कों से सर्वदा भयभीत रहा करता है, फिर नित्य प्रति नयी-नयी कामनाओं की कल्पना करता हुआ भी उन्हें पूरी नहीं कर पाता, इससे भी शोक-ग्रसित रहता है, अतएव बाल्यावस्था भय और शोक का कारण है।

युवावस्था में मनुष्य अपने तरुणाई के मद से प्राणियों का अत्यन्त तिरस्कार करता है, उससे संसार में उसके बहुत शत्रु हो जाते हैं, वे भय और शोक के ही हेतु होते हैं तथा इस अवस्था में पुरुष कामवश स्त्री में आशक्त होकर अपने माता पिता आदि गुरुजनों का अनादर करता है एवं धन के लिए चोरी, हिंसादि कुकर्म करता है, उससे सभ्य पुरुषों की सभा में घृणित दृष्टि से देखा जाता है और राजा के कर्मचारी पकड़ कर राजदण्ड देते हैं तथा शरीर छूटने के बाद भी वह रवरवादि नर्क में जाकर अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता है, इत्यादि। अतः युवावस्था शोक तथा भय का ही हेतु है।

वृद्धावस्था में तो शरीर तथा इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकता, अतएव उसे पुरुषार्थ हीन देख कर कुटुम्बी कुत्ता से भी अधिक अपमान करते हैं, न तो समय पर पानी देते, न अन्न। उसकी बातों पर हँसते तथा नाना प्रकार के कठोर बचन बोलते हैं, उस से उसका हृदय जला करता है। वह डांटने-फटकारने के भय से उनसे अपने हृदय की अभिलाषायें

प्रकट नहीं कर सकता और पूरा चल फिर न सकने के कारण दुःखित रहा करता है एवं उसे कमजोर जान कर अनेक प्रकार के रोग भी आकर ग्रसित कर लेते हैं। कोई-कोई तो वृद्धावस्था के असह्य दुःखों से व्याकुल हो कर आत्म-घात भी कर बैठते हैं। अतएव वृद्धावस्था भी भय और शोक का ही कारण है।

ये तीनों अवस्थाएं संसार में जन्म लेने से ही प्राप्त होती हैं और कर्म-फल को भोगने के लिये जन्म होता है तथा अज्ञान से कर्म होते हैं। इसलिये सम्पूर्ण वेद विहित कर्मों का परित्याग करके उस अज्ञान के विनाश निमित्त जो सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तरात्मा रूप अपना आत्मा है, उसका भजन (चिन्तन) करे॥ ५५॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५६॥

पदच्छेदः—आत्मनि, अभेदन, विभावयत्, इदम्, भवति, अभेदेन, मधा, आत्मना, तदा। यथा, जलम्, वारिनिधौ, यथा, पयः, क्षीरे, वियत्, व्योम्नि, अनिले, यथा, अनिलः॥ ५६॥

अन्वयः--	अर्थ--
यथा	=जैसे
वारिनिधौ	=समुद्र में
जलम्	=जल,

क्षीरे = दूध में

पयः = दूध,

व्योम्नि = आकाश में

वियत = आकाश

च + = (और)

यथा = जैसे

अनिले = वायु में

अनिलः = वायु

अभेदेन + = (अभेद भाव से)

भवति + = (स्थित होता है ।

तथा एव + = (वैसे ही)

यदा पुरुषः + = (जब पुरुष)

इदम् = इस जगत को

आत्मनि = अपने (आत्मा) में

अभेदेन = अभेदभाव से

विभावयत् = चिन्तन करता है,

तदा = तब

सः + = (वह)

मया = मेरे

आत्मना = आत्मा से

अभेदेन = अभेद होकर

भवति = स्थित होता है ।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि—हे लक्ष्मण! जिस प्रकार समुद्र में जल, दूध में दूध, महाकाश में घटाकाश और वायु में वायु मिल कर एक हो जाते हैं, अर्थात् न तो उस जल का समुद्र से भेद रह जाता, और न दूध से दूध का; वैसे ही न घटाकाश महाकाश से भिन्न रह जाता और न वायु में मिली हुई वायु उससे भिन्न रह जाती। उसी प्रकार जो पुरुष इस सम्पूर्ण प्रपञ्च-दृश्य को अपने आत्मा के साथ अभेद भाव से चिन्तन करता है अर्थात् वह यह जानता है कि—'आत्मैवेदं सर्वं' इस श्रुति के अनुसार यह सब जगत आत्मरूप ही है, तब वह मुझ परमात्मा से अभिन्न हो जाता है; जैसे श्री कृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ अर्थात् जो मुझको सर्वत्र देखता है और सब जगत को मुझमें (मुझसे अभेद) देखता है, उसके लिए न तो मैं परोक्ष (पृथक्) हूँ और न मेरे लिए वह परोक्ष (भिन्न) है॥ ५६॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥

पदच्छेदः—इत्थम्, यत्, इक्षेत, हि, लोकसंस्थितः, जगत्, मृषा, एव, इति, विभावयन्, मुनिः। निराकृतत्वात्, श्रुति

युक्तिमानतः, यथा, इन्दुभेदः दिशि, दिग्भ्रमादयः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
इदम् +	=(यह)
यत्	=जो
जगत्	=जगत है,
तत् +	=(वह)
श्रुतियुक्तिमानतः	=श्रुति, युक्ति और प्रमाण से
बाधतः	=बाध (मिथ्या कर देने पर
यथा	=जैसे
इन्दुभेदः	=चन्द्रभेद
च +	=(और)
दिशि	=दिशाओं में
दिग्भ्रमादयः	=दिग्भ्रमादि हो जाते हैं,
तथा एव +	=(वैसे ही)
मिथ्या एव	=मिथ्या ही हो जाता है ।
हि	=निस्सन्देह
इति	=ऐसी
विभावयन्	=भावना करता हुआ
लोकसंस्थितः	=लोक में स्थित
मुनिः	=मुनि
इत्थम्	=इसको
ईक्षेत्	=देखे ।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र के किसी कोने में अंगुली दबाने से चन्द्रमा दो दिखलाई देता है और दिशाओं का भ्रम हो जाने पर पूरब का पश्चिम, पश्चिम का पूरब, उत्तर का दक्षिण और दक्षिण का उत्तर इत्यादि उलटाही दिखलायी देता है। परन्तु देखने वाले को यह निश्चय रहता है कि यह सब मैं भ्रमसे देख रहा हूँ, वास्तव में चन्द्रमा एकही है, तथा सूर्योदय की ओर पूरब और अस्त की ओर पश्चिम एवं ध्रुवतारे की ओर उत्तर है, इत्यादि। उसी प्रकार यह जो नानात्व जगत् है, वह ब्रह्म में भ्रम से प्रतीत हो रहा है; मननशील पुरुष को चाहिये कि श्रुति, युक्ति और प्रमाण से इसका वाध (खण्डन) करके लोक (व्यवहार) में रहता हुआ भी इसे मिथ्या देखे। जगत के मिथ्यात्व में श्रुति प्रमाण ये हैं—मायामात्रमिदं द्वैतं, नेह नानास्तिकिञ्चन, नेति-नेति, इत्यादि। अर्थात् यह द्वैत (जगत) मायामात्र (मिथ्या) है, यह नानात्व (जगत) कुछ नहीं है, यह नहीं है; नहीं है, इत्यादि। पुनः युक्तियां ये हैं—आद्यावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा। अर्थात् जो पदार्थ आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्त्तमान (मध्य) में भी वैसाही (अभावरूप) है। इस युक्ति से यह सिद्ध हुआ कि यह जगत न तो सृष्टि के पहले था और न अन्त (प्रलय) में रह जायगा, इसलिये वर्त्तमान में भी नहीं है। जैसे स्वप्न अवस्था में क्षणमात्र में ही केश से भी सूक्ष्म कण्ठगत नाड़ी में अविद्या एक नयी सृष्टि (ब्रह्माण्ड) रच देती है। उस समय वह सृष्टि अनादि काल की सत्य प्रतीत होती है, परन्तु नींद के टूट जाने पर उस पुरुष से यह नहीं कहना पड़ता कि स्वप्न-सृष्टि मिथ्या है, वरन् वह स्वयं

कहता है कि अरे! मैंने क्षणमात्र में ही मिथ्या देश, काल, वस्तु इत्यादि नाना सृष्टियों का अनुभव किया, अब तो नींद के टूट जाने पर उनका पता नहीं' आश्चर्य है कि उस समय वे सत्यरूप से प्रतीत होती थीं। वैसे ही देश, काल तथा वस्तु से रहित उस निरावछिन्न परमात्मा में माया (भ्रम) वश अनादि काल से जगत की प्रतीति होती चली आ रही है। जब तक किसी भी वस्तु की उत्पत्ति एवं स्थिति के लिये पर्याप्त काल तथा देश न हों, तबतक वह वस्तु हो ही नहीं सकती। और यदि प्रतीत होती है, तो मिथ्या है। इस रीति से यह जगत् प्रतीतिमात्र मिथ्या है।

अब प्रमाणों के द्वारा जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—प्रमाण छः हैं, जैसे-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और उपलब्धि। जो प्रत्यक्ष नेत्र का विषय हो, उसे प्रत्यक्ष; प्रत्यक्ष विषय के द्वारा जो अनुमान किया जाय, वह अनुमान; किसी पदार्थ के सदृश पदार्थ को देख कर उसका ज्ञान किया जाय, वह उपमान जो शब्द के द्वारा जाना जाय, वह शब्द; जो देख कर या सुन कर जाना जाय, उसे अर्थापत्ति और जो अभाव के द्वारा जाना जाय, वह अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है, क्योंकि नामरूप का मिथ्यापना नित्यप्रति देखी जाती है, जैसे—मनुष्य, पशु, वृक्ष, इत्यादि किसी पदार्थ का रूप जैसा उत्पत्ति-काल में रहता है, वैसा तरुणाई में नहीं रह जाता और तरुणाई का वृद्धावस्था में नहीं रहता तथा मृत्यु (नाश) हो जाने पर तो उसका बिल्कुल अभाव हो जाता है। वैसेही इनका नाम भी छोटे पर बालक, ओधी और बछड़ा,

इत्यादि और तरुण होने पर युवा, गांछी इत्यादि तथा वृद्ध (पुराने) होने पर बुड्ढा, पेड़, इत्यादि एवं मृत्यु (नष्ट) हो जाने पर है कोई भी संज्ञा (नाम) नहीं रह जाती। पुनः जो पुरुष कौपीन मूंजी, मेखलादि पहने गुरुकुल में छात्रों के साथ आज ब्रह्मचारी कहलाता है; वही कल धोती, अंगूठी, इत्यादि धारण कर घर में स्त्री समेत गृहस्थ कहलाता है; फिर वही कल, वह बल्कल जटादि धारण किये हुए विपिन में वाणप्रस्थी हो जाता है; फिर वह पुरुष कषाय वस्त्र, दण्ड, कमण्डल आदि धारण किये हुआ सन्यासी नाम से पुकारा जाता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि नाम-रूप मिथ्या है; नाम-रूपके मिथ्या होने से जगत् मिथ्या है, क्योंकि नाम-रूप ही तो जगत् है। शास्त्र में कहा अतिभातिप्रियंरूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ अर्थात् जगत के हरएक पदार्थ में अस्ति, भाति प्रिय, रूप और नाम; ये पांच अंश हैं। इनमें से आदि के तीन अंश (अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय) ब्रह्मरूप और अन्त के दो (नाम रूप) जगत् रूप हैं। अस्ति, भाति, और प्रिय को ही क्रमशः सत्, चित्, और आनन्द कहते हैं।

यह जगत् अनुमान प्रमाण से भी मिथ्या है, जैसे—यत्र यत्र रूपत्वं तत्रतत्रानित्यत्वम्, यथा घटः। अर्थात् जहां जहां रूप है वहां वहां अनित्यता है, जैसे रूपवान् घट का नाश अवश्य होता है। इससे अनुमान होता है कि जगत भी अनित्य है, क्योंकि रूप वाला है। पुनः—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। अर्थात् उत्पन्न हुए का

मृत्यु (नाश) निश्चय है। इस स्मृति से भी यही अनुमान होता है कि यह जगत मिथ्या है क्योंकि यह उत्पतिशील है, जैसे—श्रुति तत्सृष्ट्वा तदनुप्रविशेत्। अर्थात् वह परमात्मा इस जगत् को रच कर उसमें प्रवेश कर गया।

अब उपमान प्रमाण से जगत की मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं—जगत में यह देखा जाता है कि नट (मदारी) के चित्र-विचित्रमय स्वांग केवल प्रतीतिमात्र होने से मिथ्या ही होते हैं; वैसे ही यह नाना स्वांगमय जगत मिथ्या ही है। इसकी विचित्रता देखिये! ग्रीष्मऋतु आ गयी; कड़ाके की धूप पड़ने लगी; अब तो वह असह्य होने लगी; जीव-जन्तु व्याकुल हो उठे; बस इतने ही में न मालूम कहां से काली-काली घटायें आगयीं? बिजली चमकने लगी तथा आकाश में गर्जना होने लगा; समस्त जीव-जन्तु देख रहे हैं कि ये जलद कब जल देंगे; कि लगे बून्द टपकने, कहना ही क्या है? ऐसो जोरों से वर्षा होने लगी कि नदी नाले भरने लगे, पथिक विश्राम लेने लगे, अब वसुन्धरा तृप्त हो गयी, तृण, लता, वृक्षादि हरियाले हो गये तथा उनमें फूल, फल आने लगे। फिर जगत अपना स्वांग बदलता है, अब वर्षा कम होने लगी; आकाश और नदी नालों का जल निर्मल होने लगा; पथिक चलने लगे, जाड़े की मौसिम धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी; और वर्षा बन्द हो गयी। बढ़ते-बढ़ते जाड़ा ऐसी बढ़ी कि अब शरीर कांपने लगा; भोजनअधिक होने लगा; रात बड़ी और दिन छोटे होने लगे; वस्त्रों की भरमार है, तभी अग्नि के समीप बैठना पड़ता है; प्राणी जाड़े

से व्याकुल हो रहे हैं। क्या जगत अब इसी स्वांग में रह जायगा
नहीं, नहीं अब तो फाल्गुण का समय आया; किरणमाली भग
सूर्य अपने किरणों को विशेष रूप से विकसित करने लगे; उ
फैलने लगी; धीरे-धीरे दिन भी बढ़ने लगे, रसालादि वृक्षों
बौरादि फूल तथा फल आने लगे, कोकिलादि पक्षियां अपनी
मीठी बोली बोलने लगीं तथा भौंरे पुष्पों पर गुञ्जार करने लगे
अब भोजन भी कम होने लगा तथा विशेष वस्त्र की भी आवश्य
कता नहीं रह गयी। धन्य है जगत, तूने एक वर्ष में ही कि
स्वांग बनाये; तू दिन में प्रकाश और रात में अन्धकार का स्वां
धारण करता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत्, तारे, पृथ्वी, ज
वायु. आकाश, पर्वत, वन नदी, इत्यादि ये तेरे अङ्ग हैं। इन अं
के द्वारा तू सदा नृत्य किया करता है; परन्तु विचार करने पर
शीघ्र ही अन्तर्धान (गुप्त) हो जाता है। अज्ञानी जन तुझे स
जान कर तुझमें आसक्त होते हैं, अतएव क्लेश में फंसते हैं अ
ज्ञानी तुझे मिथ्या जान कर तेरी उपेक्षा करते हैं. इसलिए वे सु
रहते हैं।

शब्द प्रमाण तो श्रुति के वाक्य ही हैं, वे बार बार इस ज
का निराकरण (खण्डन) किया करते हैं, जैसे—नेति नं
नेह नानास्ति किञ्चन, इत्यादि। फिर अर्थापत्ति प्रमाण से भी ज
मिथ्या है, क्योंकि गुरु के मुखारविन्द से 'यह जगत असत्,
तथा दुःख रूप है' इस प्रकार श्रवण किया फिर विचार करके दे
तो यह जगत असत्, जड़ एवं मिथ्यारूप से प्रतीत हुआ। सुषु

तथा समाधि अवस्था में इसका अत्यन्ताभाव हो जाता है, अतः अनुपलब्धि प्रमाण से भी यह मिथ्या ही है। इस रीति से श्रुति, युक्ति एवं प्रमाण से भी जगत का बाध हो गया ॥ ५७ ॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥ ५८ ॥

पदच्छेदः—यावत्, न, पश्येत्, अखिलम्, मत्, आत्मकम्, तावत्, मत्, आराधने, तत्परः, भवेत्। श्रद्धालुः, अत्यूर्जितः, भक्तिलक्षणः, यः तस्यः, दृश्यः अहम्, अहर्निशम्, हृदि ॥ ५८ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यावत्	=जबतक
अखिलम्	=सम्पूर्ण विश्व को
मत् आत्मकम्	=मेरा स्वरुप
न पश्येत्	=न देखे
तावत्	=तबतक
मत्	=मेरी
आराधने	=आराधना में
तत्परः	=तत्पर
भवेत्	=रहे
यः	=जो

श्रद्धालुः	=श्रद्धालु
च	=(और)
अत्यूर्जितः	=उत्कट
भक्ति लक्षणः	=भक्ति लक्षण वाला (भक्त)
तस्य	=उसके
हृदि	=हृदय में
अहम्	=मैं
अहर्निशम्	=रातदिन
दृश्यः	=दिखलायी देता हूं ।

भावार्थ—जो महावाक्य के विचार करने एवं लय-चिन्तन करने में असमर्थ है, उस कनिष्ठ अधिकारी के लिये भगवान आत्म-प्राप्ति का सुगम साधन बतलाते हैं—जब तक यह सम्पूर्ण विश्व मुझ निर्गुण सच्चिदानन्द का स्वरूप न दिखलायी देने लगे, तब तक मेरे सगुण स्वरूप शिव, राम, कृष्णादि के ध्यान, पूजनादि में लगा रहे। जो श्रद्धालु मेरे सगुण स्वरूप की भक्ति करता है, उस उत्कट भक्त के हृदय में मेरे सगुण विग्रह का रातदिन साक्षात्कार होता है, अर्थात् वह मुझे रातदिन हृदय में देखता है। मैं उसके हृदय में रह कर उसे बुद्धियोग (ब्रह्म विद्या) देता हूँ, उस बुद्धियोग (ज्ञान) से वह मुझ निर्गुण सच्चिदानन्द स्वरूप को अभेद भाव से प्राप्त (साक्षात्कार) कर लेता है। श्रीकृष्णजी ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं ते येन मामुपयान्ति ते ॥ अर्थात् जो भक्त मुझ सगुण स्वरूप की उपासना अनन्यचित्त से निरन्तर करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि

योग देता हूँ, उससे वे मुक्त निर्गुण परब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उसका अभेद भाव से ज्ञान कर लेते हैं अर्थात् उसका अभेद भाव से ज्ञान कर लेते हैं। भक्ति नव प्रकार की होती है जैसे—श्रवणं कीर्तनं विष्णु स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥ अर्थात् विष्णु भगवान की कथा का श्रवण, उनका कीर्तन, उनके नाम का स्मरण, उनके सम्बन्धी तीर्थों का सेवन, उनकी प्रतिमा का पूजन करना तथा उनकी वन्दना करनी और दास एवं सखा भाव से उनमें श्रद्धा करनी ॥ ५८ ॥

उपदेश का उपसंहार।

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यतेपातकराशिभिः क्षणात् ॥ ५९ ॥

पदच्छेदः—रहस्यम, एतत्, श्रुतिसार संग्रहम्, मया, विनिश्चित्य, तव, उदितम्, प्रिय। यः, तु, एतत्, आलोचयति, इह, बुद्धिमान्, सः मुच्यते, पातकराशिभिः, क्षणात् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
प्रिय	=हे प्रिय !
श्रुतिसार सङ्ग्रहम्	=श्रुतियों के सार संग्रह रूप
एतत्	=यह
रहस्य	=रहस्य
मया	=मेरे द्वारा
विनिश्चित्य	=निश्चय करके
तव	=तुम्हारे लिए
उदितम्	=कहा गया।
यः	=जो
बुद्धिमान्	=बुद्धिमान्
एतत्	=इसका
आलोचयति	=मनन करता है
सः	=वह
इह	=इस संसार में
क्षणात्	=तत्काल
पातकराशिभिः	=सम्पूर्ण पापों से
मुच्यते	=छूट जाता है।

भावार्थ—भगवान राम कहते हैं कि हे प्रिय लक्ष्मण सम्पूर्ण श्रुतियों (उपनिषदों) के सार का संग्रह करके यह गो रहस्य (आत्म-ज्ञान) मैंने निश्चय करके तुमसे कहा। जो बु मान पुरुष इसका मनन तथा निदिध्यास करेगा, वह सम्पूर्ण से मुक्त हो जायगा। श्रीकृष्ण जी ने भी अपने प्रिय भक्त अ

प्रति कहा है—अपि चेदसि सर्वेभ्यः पापेभ्य पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञान वेनैवव्रृजिनं संतरिष्यति ॥ अर्थात् हे अर्जुन! इस संसार में यदि सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करने वाला (पापी) है, तो इस ज्ञानरूपी नौका से शीघ्र ही सम्पूर्ण पापों से तर जायगा ॥ ५९ ॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥ ६० ॥

पदच्छेदः—भ्रातः, यत्, इदम्, परिदृश्यते, जगत्, माया एव, सर्वम्, परिहृत्य, चेतसा। मत्. भावनाभावित शुद्ध मानसः सुखी, भव, आनन्दमयः, निरामयः ॥ ६० ॥

अन्वयः—	**अर्थ**—
भ्रातः	=हे भाई
यत्	=जो
इदम्	=यह
जगत्	=जगत्
परिदृश्यते	=दिखलायी देता है,
तत्	=(वह)
सर्वम्	=सब
माया एव	=मायाही है।

एतत्	=(इसको)
चेतसा	=चित्त से
परिहृत्य	=निकाल कर
मत्	=मेरी
भावनाभावित शुद्ध मानसः	=भावना के द्वारा शुद्ध चित्त,
सुखी	=सुखी,
आनन्दमयः	=आनन्द स्वरूप
च	= और)
निरामयः	=क्लेश रहित
भव	=हो जा।

भावार्थ—हे भाई! जो यह नाना नामरूपात्मक ज... दिखलायी देता है, वह मायामात्र मिथ्या है। इसे चित से निकाल कर अर्थात् मिथ्या समझ कर मेरे सगुण स्वरूप के ध्यान द्वारा शुद्ध चित्त, (अर्थात् सांसारिक वासनाओं से रहित) सुखी (अर्थात् काम, क्रोधादि जनित दुःखों से रहित) आनन्द स्व... (अर्थात् अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का बोध) और क्ले... रहित (अर्थात्, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिमान... इन पाँच दुःखों के सहित) हो जा॥ ६०॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ ६१॥

पदच्छेदः—यः, सेवते, माम्, अगुणम्, गुणात्, परम्, हृदा, कदा, वा, यदि, वा, गुणात्मकम्। सः, अहम्, स्वपादाञ्चित-रेणुभिः, स्पृशन्, पुनाति, लोकत्रितयम्, यथा, रविः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—	अर्थ—
यः	=जो पुरुष
हृदि	=हृदय में
माम्	=मुझ
गुणात्परम्	=गुण रहित
अगुणम्	=निर्गुण को
वा	=अथवा
यदि वा	=यदि
मम +	=(मेरे)
गुणात्मकम्	=सगुण स्वरूप
सेवते	=भजता है,
सः	=वह
अहम्	=मैं हूँ। मेरा स्वरूप है)
सः +	=वह
स्वपादाङ्कितरेणुभिः	=अपने चरण रज से
स्पृशन्	=स्पर्श करता हुआ
यथा रविः	=सूर्य के समान
लोकत्रितयम्	=त्रिलोकी को
पुनाति	=पवित्र कर देता है।

भावार्थ—जो पुरुष अपने हृदय में 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्र
मेरे निर्गुण स्वरूप का चिन्तन करता है और कभी-कभी मेरे स
स्वरूप का भी अभेद भाव से ध्यान करता है; (क्योंकि वह जा
है कि मेरा शुद्ध निर्गुण स्वरूप ही अचिन्त्य शक्ति माया के
राम, कृष्णादि के रूप में दिखलायी देता है) वह मेरा ही रूप
अपने चरण-धूरी के स्पर्श से सूर्य के समान तीनों लोकों को प
कर देता है।

भगवान अभेद भाव से उपासना करने वाले ज्ञानी को अ
स्वरूप इसलिए कहते हैं कि उनका यह नियम ही है कि—ये
मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। अर्थात् हे अर्जुन! जो जिस
से मेरा भजन करते हैं, मैं भी उन्हें उसी भाव से भजता हूँ इस नि
के अनुसार जो उन्हें स्वामी भाव से भजते हैं उन्हें वे अपना
और जो अभेद भाव से भजते हैं (जानते) हैं, अपना रूप ही
हैं, श्रीमद्भागवद्गीता में कहा है—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृ
नोऽर्जुन। अर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १ ॥ तेषां ज्ञा
नित्ययुक्त ऐकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियोहि ज्ञानिनीत्योर्थमहंस
ममप्रियः ॥ २ ॥ उदाराः सर्वएवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थि
सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ३ ॥ अर्थात् हे भरत कुल
श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते
एक तो अति जो दुःख पड़ने पर; जैसे—गजेन्द्रादि; दूसरे अर्था
अर्थात् धन के लिये, जैसे—सुदामादि; तीसरे जिज्ञासु अर्थात्
जानने के लिए कि भगवान क्या हैं? और चौथे ज्ञानी, जो ह
से सम्पूर्ण वासनाओं का त्याग कर के मुझमें अपना आत्मा

कर एकी भाव से स्थित रहते हैं, जैसे—शुक, जड़भरत, दत्तात्रेय, वामदेवादि। इन चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी 'एक भक्तिः' अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, इस सिद्धान्त को श्रेष्ठ मान कर इसमें नित्ययुक्त (निरन्तर स्थित) रहता है; अतः वह मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसके लिए मैं प्रिय हूँ, क्योंकि अपना आत्मा किसी को भी अप्रिय नहीं होता। यों तो मेरे सभी भक्त उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही माना गया है क्योंकि वह शुद्ध चित्तवाला मुझमें एकी भाव से स्थित है ॥ १-२-३ ॥ इस ज्ञानी पुरुष के विषय में कहा है—कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। अपार संवित सुख सगरेऽस्मिन लीने करे ब्रह्मणि यस्य चेताः ॥ अर्थात् जिस ज्ञानी पुरुष का चित्त इस अनन्त सुख के सागर चेतन परब्रह्म में लीन हो गया; उसका कुल पवित्र हो गया और उसकी माता कृतार्थ हो गयी एवं जिस पृथ्वी पर वह पैर रखता है, वह पुण्यवती हो गयी। और भी कहा है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दन वनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्त वारि निवहाः पुण्याःसमस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुति शिरो वाराणसी मेदिनी
यस्मिन्संवित्सागरेपिसततं लीने परं ब्रह्मणि ॥ १ ॥

अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष सच्चिदानन्द परब्रह्मरूपी सागर में निरन्तर लीन रहता है, उसके लिये सम्पूर्ण जगत् नन्दन बन हो जाता है और एरण्ड, बबूर, आदि सभी वृक्ष कल्पतरु के समान सुख देते हैं; कूप, तालाव, बावली, आदि के जल गंगजल के तुल्य और उसके सभी शुभाशुभ कर्म पुण्यरूप हो जाते हैं; उसकी वाणी

संस्कृत भाषा हो या प्राकृतिक, वह वेद-ऋचा और सम्पूर्ण काशी के तुल्य हो जाती है ॥ १ ॥ भीष्म जी ने भी महाभारत युधिष्ठिर के प्रति कहा है—

स्नान्ते तेन समस्त तीर्थ सलिले दत्ता च सर्वाऽवनि-
र्यज्ञानां च कृताः सहस्रमखिलाः देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धताः स्वपितरास्त्रैलोक्य पूज्यप्यसौ
यस्य ब्रह्म विचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥ १

अर्थात् जिसका मन ब्रह्म के विचार में क्षणमात्र भी स्थिर हो गया, उसने सम्पूर्ण तीर्थों के जल में स्नान; सम्पूर्ण पृथ्वी का दान; हजारों यज्ञों का समूह; समस्त देवताओं का पूजन और इस संसार से अपने पितरों का उद्धार कर चुका तथा वह पुरुष त्रिलोकी में पूजनीय है ॥ ६१ ॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ॥ ६२

पदच्छेदः—विज्ञानम्, एतत्, अखिलम्, श्रुतिसारम् एकम्, वेदान्त वेद्य चरणेन, मया, एव, गीतम्। यः, श्रद्धया, परिपठेत् गुरुभक्तियुक्तः, मत्, रूपम् एति, यदि, मत्, वचनेषु, भक्तिः ॥

अन्वयः— अर्थ—

एतत्	=यह
एकम्	=अद्वितीय

विज्ञानम्	=विज्ञान
श्रुतिसारम्	=श्रुतियों की सार है
एतत् -।-	=(इसे)
वेदान्तवेदचरणेन	=वेदान्त वेद पाद
मया एव	=मैं नहीं
गीतम	=कहा
यः	=जो
गुरुभक्तियुक्तः	=गुरुभक्ति से युक्त हुआ
एतस्या -।-	=(इसका)
परिपठेत्	=पाठ करेगा
च -।-	=(और)
तस्य -।-	=(उसकी)
मत्	=मेरे
वचनेषु	=वचनों में
भक्तिः	=प्रीति होगीः (तो)
मत्	=मेरा
एव -।-	=(ही)
रूपम् -।-	=रूप
एति	=हो जायगा।

भावार्थ—यह अद्वितीय विज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) सम्पूर्ण श्रुतियों का सार है, क्योंकि जीव और ब्रह्म की एकता ही समस्त श्रुतियों का सिद्धान्त है। इस विज्ञान को वेदान्त के द्वारा जानने योग्य पादस्वरूप मैंने ही कहा। भगवान को पाद स्वरूप

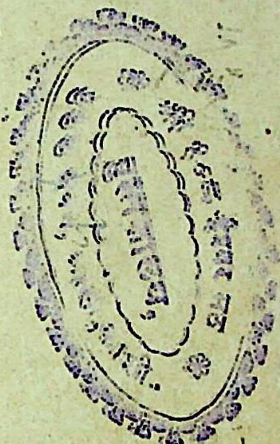
श्रुति ने कहा है, जैसे—पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं
न्दिवि: त्रिपादूर्ध्व उदैति पुरुषः पादोस्पेहाभवत्पुनः। अर्थात्
भगवान का एक पाद स्वरूप मायामय सोपाधिक हुआ प्राणियों
समूह भूत इस विश्वरूप से और शेष तीन पादरूप निरुपाधि
अमृत (शुद्ध मुक्त) स्वरूप से दिव्य (अलौकिक) धाम में है
पुरुष इस निरूपाधिक तीन पादरूप से ऊपर (सब से परे)
(प्रकाशित) है, वही फिर सोपाधिक रूप एक पाद से इस विश्व
आकार में होता है। भगवान के निर्गुण स्वरूप को ही धाम,
वैकुण्ठ, साकेत, कैलाश, इत्यादि नाम श्रुतियां में वर्णित हैं।
भगवान कहते हैं कि—जो गुरुभक्ति से युक्त पुरुष इस ग्रन्थ
(रामगीता) का पाठ करेगा और उसका यदि मेरे वचनों में
होगा, तो वह मेरा ही स्वरूप हो जायगा। इस ग्रन्थ में गुरु भक्ति
के लिए वारवार निर्देश किया गया है एवं और आचार्यों ने
अपने ग्रन्थों में गुरु की महती महिमा का वर्णन किया है जैसे—
अनेक जन्म संस्कारात्सद्गुरु सेव्यते बुधैः। सन्तुष्टो श्रीगुरु
आत्म रूपं प्रदर्शयेत् ॥ अर्थात् अनेक जन्मों के पुण्योदय से बुध
सद्गुरु की सेवा करते हैं तब वे गुरु देव प्रसन्न हो कर आत्म
स्वरूप का साक्षात्कार करा देते हैं। गोस्वामी तुलसी दास जी ने
कहा है—गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो बिरंचि शंकर स
होई॥ क्योंकि श्रुति युक्ति, प्रमाण, दृष्टान्तादि अनेक उपायों
द्वारा जीव के हृदयगत अनादि काल के अज्ञान को दूर करने में
मात्र सद्गुरु ही समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त भगवान
वचन जो यह रामगीता शास्त्र है, उसमें प्रेम रख कर गुरु द्वा
विचार करने से आत्म ज्ञान शीघ्र ही होता है। क्योंकि मनुष्यों

उपदेश में तो अनेक दोषों की सम्भावना भी हो सकती है, जैसे— रागद्वेष पूर्वक लोकों को बहकाने के लिए असैद्धान्तिक विषयों का उपदेश सुने हुए ज्ञान की विस्मृति या उसको उलटा समझ लेना अथवा उसमें संशय का हो जाना इत्यादि। परन्तु मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ भगवान राम के उपदेशों में इन दोषों की सम्भावना हो ही नहीं सकती, अतएव इसमें दोष बुद्धि करनी महापाप है। मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि इस रामगीता शास्त्र का पठन-पाठन, मनन आदि कर के रामरूप हो जायं ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्स्वमिना रामाश्रेण विरचिता श्रीदूमध्यात्म रामायणो-
त्तरकाण्डान्तर्गता पदच्छेदान्वयार्थ भावार्थसंयुता
श्री राम-गीता सम्पूर्णम् ।

मुद्रक—
राजित सिंह,
श्रीकृष्ण प्रेस, बुलानाला, काशी।

चित्तसम्बोधनम्

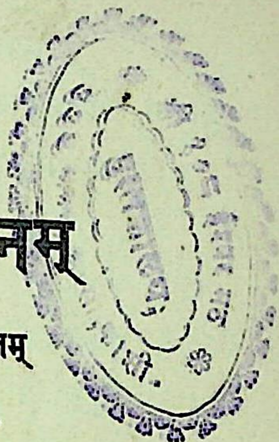




आत्मानन्दः







चित्तसम्बोधनम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

श्रीहिमगिरि–मूर्धन्य–सौम्य–काशी–निवासिना

श्रीमदात्मानन्दस्वामिना सम्प्रणीतम्

अनेकग्रन्थरचयित्रा हिन्दी वाचस्पतिना

दार्शनिकेन

पण्डित श्री शिवनारायण शर्मणा

अनूदितं संशोधितञ्च

कलकत्तानिवासिना—

श्रेष्ठिश्रीघासीरामजी गोयेनका महोदयेन

स्वीयधनव्ययेन मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् पञ्चशतसंख्यकम् (५००)

प्रथम संस्करण ४०००] [१९९६ वि. सं.

प्रकाशक—
श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका
गणेश भवन, कलकत्ता।

पुस्तक मिलनेका पता—
श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका
नं० ३७३, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता।
१९३९ ई०

मुद्रक—
दुलीचन्द परवार
जवाहर प्रेस
१६१।१ हरीसन रोड,
कलकत्ता।

मेरे दो शब्द

इस सृष्टिके आदि-अन्त-रहित प्रवाहमें मानव समाज ही एक ऐसा समाज है जो सृष्टि-निर्वाह के लिये जन्म-सिद्ध साधारण ज्ञान-प्राप्तिके अलावे अपने प्रयत्न और परिश्रमके द्वारा ज्ञान-विकाश की ओर आगे बढ़ता चला जा रहा है। ज्ञान-विकाशकी यह शक्ति सृष्टिमें मनुष्य को ही प्राप्त है। उसके ज्ञान-विकाश की थाह अथवा इयत्ता नहीं हैं, उसकी अगणित धाराएँ हैं और उनमें प्रत्येक धाराकी सीमा अलक्षित है।

कोई भी यह दावा नहीं कर सकता है कि वह किसी विषयके ज्ञानकी हद पर पहुंच गया अब आगे उसमें विकाश प्राप्त करनेका अवकाश नहीं है, अब शून्य ही शून्य है।

अपने ज्ञान-विकाशके अनुसार विचार-धाराएँ भी मानव समाजकी विभिन्न तथा अगणित हैं और तद-नुसार लोगोंकी प्रवृत्ति भी अलग अलग स्वभाव-सिद्ध है।

आज जो आदर्श प्रतिभा-सम्पन्न प्रभावशाली एवं प
श्रद्धेय व्यक्ति हैं वही किसी समय अन्य लोगों
समुज्वल ज्ञान-विकाश के आगे अमान्य और उपहासास्
हो जाते हैं। आज जिससे लोग प्रेम करते हैं कभी उसीं
द्वेष भी करने लग जाते हैं।

सृष्टिमें कुछ भी वस्तु तारतम्य या वैषम्यसे रि
नहीं है। महान् से महान् या अणु से अणु जो सृष्टि
अन्दर उपलब्ध होते हैं उनकी महत्ता या अणुता
सीमा को पार करनेवाली नहीं कही जा सकती है।

इस प्रकार के सार्वजनीन अटल तर्क और अनुभव
आधार पर जब कि—कला-कौशल, साहित्य-संगी
अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र आदि सांसारिक मनोरञ्जक औ
आकर्षक वस्तुओंके ज्ञानकी अन्तिम अवधि पर पहुँच
भी मनुष्यके लिये जीवन भर अथक पुरुषार्थ चालू रख
पर भी सुलभ और संभव नहीं है, तब संसारके
नीरस, शुष्क और दुर्ज्ञेय ब्रह्म-विवेक या आत्म-विचार
पराकाष्ठा पर पहुँचना मनुष्यके लिये कहाँ तक सं
हो सकता है। जो कहने और समझनेमें भी मह

कठिन प्रतीत होता है, जिसे समझनेके लिये उपयुक्त और पर्याप्त शब्द भी नहीं मिलते हैं। हमारे ऋषि-महर्षि गण शास्त्रोंमें अपने अपने गम्भीर विचार-विमर्शके द्वारा आखिर उस ब्रह्म या आत्माको अकथ्य, अचिन्त्य, अगम्य, शब्दातीत तथा स्वप्रकाश कह कर मौन तथा सन्तोष जब धारण कर लेते हैं तब उसके संबन्धके ज्ञान-विकाश या विचार-धाराकी असीमता और अनन्तता मानव समाजके लिये बिलकुल स्वाभाविक और अवश्यं-भावी हो जाती है, उस विषम स्थितिमें मनुष्यके ज्ञान-विकाश या विचार-धारामें मत-भेद होना अनिवार्य और प्रकृति-सिद्ध है।

इस विचार-धारामें किसी व्यक्तिकी किसी हद तक पहुँच होती है तो किसी की कुछ आगे हद तक पहुंचका प्रसार होने लगता है जैसे असीम और अगाध आकाशमें उड़नेवाले पक्षी गण आकाशकी अन्तिम सीमा पर नहीं पहुंचते हैं किन्तु अपनी अपनी शक्तिके अनुसार उड़ कर जहां तक जिसकी पहुँच होती है वहीं तक पहुंच कर लौट जाते हैं और वहींसे आकाशकी असीमता और अनन्तता

का अन्दाज लगा कर मौन और सन्तोष धारण क
बैठते हैं वैसे ही इस गहन विषयके विचार-विमर्शमें अ
तक लोगोंका अपना २ पुरुषार्थ चालू रहा है और
प्रत्येक पुरुषार्थ अपने २ स्वरूपमें सर्वथा रमणीय औ
प्रशंसनीय है।

ब्रह्म-ज्ञान या आध्यात्मिक-विकाशका अन्तिम व
निष्कर्ष भी केवल युक्तिवाद या तर्कके आधार पर
कैसे किया जा सकता है क्योंकि तर्क या युक्ति मान
कल्पित सृष्टिके अन्दर है, उसका तारतम्य या वैष
स्वाभाविक है, उसका सन्दिग्ध और भ्रान्त होना
अस्वाभाविक नहीं, आज वह स्थिर तथा मान्य है
कल वह दूसरोंके प्रबल युक्तिके आगे अस्थिर त
अमान्य हो जाता है। समयकी कोई निश्चित अव
नहीं है और पृथ्वी बहुत बड़ी है। आज जिस तर्कवा
का आविष्कार नहीं हुआ है उसका भी कभी हो
संभव है क्योंकि तर्क मनुष्यकी बुद्धि-शक्ति या ज्ञान-श
पर अवलम्बित है और उस ज्ञान शक्तिका आनन्त्य त
वैषम्य प्रत्यक्ष सिद्ध है।

इस प्रकारकी गवेषणासे यह निश्चित होता है कि अलौकिक विषय—ब्रह्म या आत्मा के संबन्धमें किसी प्रकारके ज्ञान या विचारका केवल तर्कवाद या युक्ति के आधार पर निर्णय कर सन्तोष कर लेना उपयुक्त और लाभ-प्रद नहीं हो सकेगा, उसके जरिये वास्तविक लक्ष्य से वञ्चित रहना और पतनोन्मुख होना अनिवार्य है अतः वास्तव ब्रह्म-विवेक या आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके उप-युक्त साधन हमारा वेद-शास्त्र या श्रुति-शास्त्र है जो मनुष्य-कल्पित नहीं होने से अभ्रान्त तथा निर्दुष्ट है।

जैसे अनादि कालसे यह विश्व-निर्माण चला आ रहा है वैसे ही उसके अन्दर मानव-सृष्टि और उसके स्वाभाविकताके अनुकूल विकाश-तारतम्य तथा उसके साधनका भी निर्माण अनादि कालसे ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक रहेगा, वही मानव समाजके ज्ञान-विकाशका साधन वेद-शास्त्र या श्रुति शास्त्र है।

किसी वस्तुका सच्चा स्वरूप एक ही रूपका रहता है उसके भिन्न-भिन्न रूप कल्पित रहते हैं और उसके सच्चे स्वरूपका ज्ञान ही उसका वास्तव ज्ञान कहलाता

है, वह ज्ञान एक ही प्रकारका होता है क्योंकि उस विषयका वास्तव स्वरूप एक ही है। यद्यपि उसके कहने और समझानेकी शैली अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु किसीमें विषयके स्वरूपका अपलाप और असमानता नहीं रहती है, उसी ज्ञानसे उस लक्ष्यका यथार्थ पता चलता है अतः वही ज्ञान सबके लिये उपादेय है और कल्पित ज्ञान सन्दिग्ध-भ्रमात्मक संभावित होनेसे उसके जरिये लक्ष्यकी प्राप्ति असंभव है। तर्कके आनन्त्यके आधार पर अगणित प्रकारके विभिन्न जो ज्ञान प्राप्त होते हैं वे सब कल्पित हैं।

रज्जुका जो स्वरूप है वह एक ही है, उसका वास्तविक ज्ञान रज्जुका प्रत्यक्ष करना भी एक ही है, उसे सर्प, दण्ड आदि की कल्पना अथवा धारणा करना भ्रमात्मक और रज्जुके स्वरूपसे वञ्चित रखने वाला अतएव वह हेय है।

आजतक जितने मनुष्य-कल्पित तर्क हुए हैं और उन तर्कोंके द्वारा जो कुछ नवीन आविष्कार हुआ है वे सब हमारे वेद-शास्त्रके बाहर नहीं हैं। उन सबकी झलक

वेदमें परिलक्षित हो रही है। भलें ही हम समुचित शिक्षाके अभावसे उनके उपयोग करनेके ज्ञानसे वञ्चित रहें, उन्हें कार्य-प्रणालीमें प्रात्यक्षिक रूपसे न ला सकें। वे सब वेद-शास्त्रके किसी एक साधारण भागमें पड़े हैं। यों तो हमारा वेद-शास्त्र विशालकलेवर है, समस्त उपलब्ध भी नहीं है फिर भी जो कुछ उपलब्ध है उसमें ही सब प्रकार के विषय, समस्त कला-कौशल सब प्रकारंके आविष्कार भरे पड़े हैं।

उसकी परम विशेषता और परम आदर्शता यह है कि उसमें मनुष्य-परिकल्पित तर्क और उसके द्वारा संपादित कार्य-पुञ्जके अलावे उस संघर्षकी निवृत्ति तथा शाश्वत, अनन्त, असीम आनन्द लाभ करनेका ज्ञान और उसके उपाय उसमें बतलाये गये हैं।

वेद या श्रुतिके अनुकूल जो ऋषि-महर्षिके उपदेश स्वरूप विधि-निषेधके प्रक्रियाबद्ध वचन हैं वे हमारे स्मृति शास्त्र हैं और आत्म-तत्त्व सम्बन्धके ज्ञान विकाश तथा उसके द्वारा प्राप्य अनन्त असीम सुखकी प्राप्ति और विश्वके अनिवार्य दुःखोंसे छुटकारा पानेका जो ऋषि-

महर्षिका उपदेश स्वरूप विचारा-धारा है वही हमार दर्शन शास्त्र है। उसकी महत्ताके संबन्धमें अन्य देशवाल का भी मतभेद नहीं है। इन सबका उपजीव्य या सहार वेद है, ये सब शास्त्र वेदके उपजीवक या आधीन हैं।

अल्पज्ञ मानव समाज अपने आप बहुत कम ज्ञान प्राप्ति कर सकता है। ज्ञानका अधिकांश विकाश अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों, साधु-महात्माओंके द्वारा वितरि ज्ञान-बोधक ग्रन्थोंसे ही होता है अतः वैसे आदर्श ग्रन्थों निर्माण मानव-समाजके ज्ञान विकाशको समुन्नत अवस्था निःसंदिग्ध ले जानेवाला सिद्ध हो चुका है।

यह ग्रन्थ-रत्न एक ऐसे ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय महात्मा निजी अनुभव सागरसे निःसृत हुआ है कि इसके प्रवच मात्रसे भी मनुष्यका कल्याण होना निश्चित है, य प्रक्रिया-ग्रन्थ नहीं है फिर भी प्रक्रियाके पदार्थसे रि नहीं है। इसमें पहले वैराग्य उसके बाद भक्ति औ भक्तिके पश्चात् ज्ञान प्रकरणका समावेश किया गया है पूर्व-पूर्व प्रकरण उत्तर-उत्तर प्रकरणका साधन माना गय है। सांसारिक विषयोंसे वैराग्य होने पर भगवानकी सर्व

भक्ति प्राप्त होती है और उसी भक्तिके द्वारा परम श्रेयस्कर ज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकारके प्रकरण-विन्यास करनेसे भक्तिकी सर्वोच्च महिमा तथा ग्रन्थ-प्रणेता महोदयका भगवानमें अविचल परम प्रेमका होना साबित होता है।

इस ग्रन्थके रचयिता हैं—श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ स्वामी श्री आत्मानन्दजी महाराज। ब्रह्म-निष्ठ तथा वेदान्त शास्त्रके पूर्ण विद्वान् संन्यासी होते हुए आप भगवान के अनन्य भक्त हैं। आप आदर्श विरक्त तथा परम दयालु व्यक्ति हैं। जैसे आपका त्याग ऊंचा है वैसे ही आपकी मिलनसार प्रवृत्ति भी परोपकार करनेमें अतिशय दक्ष है।

इस पुस्तकमें अनेक जगह एक ही विषय प्रायः दुहराया गया है यह पुनरुक्ति दूषण नहीं, किन्तु आलस्य दोष-निराकरण करने और अभ्यास-दाढ्र्यके लिये श्रुतिमें भी इस प्रकारके संसारके परे गहन विषयकी पुनरुक्ति भूषण ही मानी गयी है। इस ग्रन्थके अध्ययनसे साधा-रणसे साधारण जिज्ञासु लोगोंको भी संसारकी विन-

श्वरताका अनुभव होने लगता है और उससे ग्लानि हो जाती है। ब्रह्मविवेक स्वरूप लक्ष्य पर जानेके लिये भगवद्भक्ति रूपी निश्चित मार्ग पर मनुष्य आरूढ़ हो जाता है जिससे समस्त पाप और विक्षेपके लीन हो जानेसे वह निर्मल और प्रसन्नचित्त हो जाता है, पश्चात् वह अनायास ब्रह्मविवेक या आत्म-विकाशकी सीमा पर पहुंच जाता है। विद्यालय और महाविद्यालयके कितने अध्यापक और प्रिन्सपल महोदयके इस ग्रन्थके अनुवाद करनेकी अभिलाषा जताने पर भी आपने स्वयं कलकत्ता आकर इसके हिन्दी भाषामें अनुवाद करने और संशोधन करनेका समस्त भार मुझे दे कर अपनी जो असीम अनुकम्पा मेरे ऊपर दिखायी है उसका मैं चिरकृतज्ञ हूं।

स्वामीजीके इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थके हिन्दी भाषामें आद्यन्त अनुवाद करके मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूं तथा निर्विघ्न समाप्तिके लिये भक्तवत्सल श्री गणेश भगवानको अनेकानेक प्रणाम करता हूं।

यद्यपि अनुवाद करनेमें कहीं अक्षरार्थके ख्याल करने और कहीं भावार्थके ख्याल करनेमें अनुवादक पूर्ण स्वतन्त्र

है, यह उसके विचार पर निर्भर है, जहां पर जैसा वह उचित समझता है वहां पर वैसा ही विशद या संक्षेपमें मूल अर्थका अनुवाद करता है किन्तु इस पुस्तकमें प्रायः दो एक जगह छोड़ कर सर्वत्र अक्षरार्थका ही ख्याल किया गया है।

किसी भी पुस्तकके प्रकाशनमें मुद्रण आदि जन्य सर्वाङ्ग सुधार प्रायः अवशिष्ट ही रह जाता है, यह पुस्तक भी उससे रिक्त नहीं, तदर्थ शुद्धाशुद्ध पत्र तथा सहृदय पाठकोंकी कृपा-पूर्ण दृष्टि ही पर्याप्त हो सकती है।

अनुवादक—
पं० श्री शिवनारायण झा
दार्शनिक (मिथिला)
मो०—माउवेहट, पो०—पुतैइ
जि०—दरभंगा।

श्रीः

भूमिका



श्रीपरमेश्वरप्राप्त्युपायभूतात्मदर्शनोत्पिपादयिषया पूर्वाचार्याः सकललोकानुजिघृक्षया अमितविस्तृतान् अति-सङ्क्षिप्तांश्च ग्रन्थान् परश्शतान् यथाधिकारि निबबन्धुः। ते च ग्रन्थाः अनेकानसारसंसारसागरनिमग्नान् इव मुमुक्षून् उदधीधरन्। परन्त्विदानीं कुटिलकलौ कुतर्कनिष्पीतान्तःसाराणां मुकुलितान्तःकरणानां जनानां न पूर्वमिव तेषामुपयोग इति न परोक्षं प्रेक्षावताम्। अतएवेदानीन्तनानां परिनिष्ठितवाङ्मयेन स्वल्पेन समयानुसारेण हृदयग्राहितदुपदेशमिच्छतां गृहिणामपि चिरमनोरथं समपूपुरदिदं ग्रन्थरत्नम्। तपः पूर्णानुभवितुरुपदेशो यथा हृदयं प्रविश्य फलेन संयुनक्ति न तथा तदितर इति न केषामपि करपिहितमिव। अस्मिन् ग्रन्थरत्ने मनः संबोध्य निखिलमभिधित्सितं तत्त्वं समुपादिशद्ग्रन्थकारः। कल्पनाशीलं

मन एवानवच्छिन्नोदासीनपरमानन्दघनैकरसे चिदात्मनि निर्मलाकाशे कुहकमिव द्वैतजातं प्रकल्प्य पुरुषं भ्रमाद्य चिरं तातपीतीति सर्वानुभवसिद्धम्। तदेव दुःखमूलकल्पनानिविष्टत्साये प्रबोधनीयमिति सर्वथा समुचितस्तदधिकृत्य सदुपदेशः। सर्वस्य चिरायापेक्षितममूदृक्षं सङ्क्षिप्तोपदेशनिबन्धं श्रीमन्तोऽन्वितार्थनामानस्त्यागैकरसाः श्रीयुतात्मानन्दमहात्मानो निर्माय समधिकमन्वग्रहिषुः।

एतस्य महात्मनः श्रुतिसुखासेचकं सुचरितं शुश्रूषुकस्य सचेतसः शुभंयुहृदयं न स्यादित्यवधायानुभाविभव्याय च संक्षिप्य तदिह निरूपये प्रभूतोपचिकीर्षया।

अथास्यागरामण्डलमण्डनस्य महाभिजनस्य महात्मनो मायामयविश्वविनश्वरविविधविषयरसनेषु विरसं परमेश्वरविकश्वरपादपङ्कजपरागरसनेष्वतिरसिकञ्च जन्मनः प्रभृत्येव मनः स्वयमासीत्। बालक्रीडोचितकाल एव पूर्वजन्मोपार्जितसुकृतपरिपाकवशात् भगवद्भक्तिरसामृतोर्मिसिक्तसूक्तश्रवणादिषु चिरं चेतोऽन्वराङ्क्षीत्।

बालक्रीडोपनीतविविधप्रतिमासु प्रत्यभिज्ञाय प्रतिकृतिं पिनाकिपुण्डरीकाक्षयोः समादरेण विविक्तोचितदेशे समा-

नीय यथावगतपूजाप्रकारैर्भक्तिपूर्णप्रणतान्तःकरणेन चिरप्र-
जिहदसौ। सदाचारविनयमाधुर्यवात्सल्यसत्यशौचशान्ति-
क्षमादिनिखिलोपादेयगुणैः परिपूर्णोऽसाधारणोऽयं पुरुष-
धौरेयो भवितेति जनैः सुखेन समज्ञायि।

पित्रादिप्रेरणया ग्रामीणबालकविद्यामन्दिरेषु गुरूप-
दिष्टं पाठं बालकैरितरैः सह समभ्यस्य परीक्षावसरे
अभ्यासपरिपाकेन सद्व्यवहारेण च सर्वानत्यशेत। अन-
शिष्टसमये परमार्थविषयं स्वयं व्यचीचरत्। एवं क्रमेण
कियन्तं कालमतिवाह्य शनैः शनैः पराग्विषयेषु चेतोऽवि-
रजत। अथ परमार्थोपदेशजिघृक्षायै समुत्सुकमस्य चेत
किन्तु गुरोरपिज्ञानात् क्व गच्छामि कं पृच्छामि किं करो-
मीत्यादिचिन्तया भृशमन्तरन्वताप्सीत्। अनन्तरमेकदा
पवित्रतीर्थादिदिदृक्षया तत्र महात्मानो नूनं मिलिष्यन्ति
समुपदेक्ष्यन्ति च नो निस्ताराय सन्मार्गमित्याशया च
गोवर्द्धनगिरिमभिप्रतस्थे। तत्र महात्मानं श्रीगंगावक्स-
महोदयं सङ्गत्य प्रणतिप्रवणेन मूर्ध्ना प्रणम्य च सप्रश्रयम-
पृच्छत्। भगवन्नस्ति कश्चनोपायः संसारार्णवसन्तरणस्य!
यो भगवद्भक्तिप्रतिपत्तिपरश्च स्यात् प्राचीनपवित्रचरिता-

नुष्ठितोऽस्मत्सुकरश्च । समाकर्ण्यं चेदं सस्मेरमुखः स महात्मा अल्पवयसोऽनास्वादितसंसाररसस्यातएवानवाप्तै-तत्कटुरसविपाकस्येदृशः प्रश्नो नूनमावेदयति पूर्वापूर्वप्राग्र-हरतामिति गुरुप्रसीदता मनसाऽन्तः प्रशस्य समुदतीतरत् ।

अयि आयुष्मन् ? कौमारावस्थायामेव कथमीदृशः प्रश्नः ? इदानीमपरविद्याभ्यासप्रभवापूर्वप्रज्ञोपार्जितप्रभूत-सम्पदा पूरय पित्रोः प्रमोदम्, कुलञ्च समुत्कर्षं प्रापय, प्रतिष्ठापय च चिरम्, गार्हस्थ्याश्रमस्वीकारेण ऋणत्रयम-पाकुरु, मित्राणि सन्तोषय शत्रून्निर्मूलय, ततश्चरमे वयसि श्रावयिष्यामि ते समीहितमित्यवोचत् ।

अयञ्च तदुपदेशमङ्गीकृत्य यावत्सन्तानोदयं गृहस्था-श्रमेऽरंस्त । ततो विषयव्यावृत्तमनाः पूर्वाश्रमात्पुनरुपरम्य तमेव गुरुमुपससाद विनयेन व्यजिज्ञपच्च । इदानीं ब्रह्मविद्या-मनुशाधि मामनन्यगतिकं संसारदावानलसन्तप्तम् । स च महात्मा चरमे वयसि शिक्षणीयोऽसि कुटुम्बपालनमिदानीं कुरु इति प्रोवाच ।

भगवन् को जानीयात् कस्य वयः कदा चरमं भवेत् । एवमाशावतः पर्यन्ते शुभमनुतिष्ठासोर्मध्ये एवायुषः समाप्तौ

सर्वे शुभसङ्कल्पा दरिद्रमनोरथवदेकपदे लीयन्ते । तस्मा
"गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेदि" ति न्यायेनादाके
कृतिनः स्वसमुद्धाराय प्रयतन्ते । अतएव शुकवामदेवादयो
महर्षयो जन्मानन्तरमेव प्रवव्रजुरिति न्यवेदयत् । ए
श्रुत्वा प्रहृष्टान्तरात्मा महात्मा सदुपदेशं विधाय सञ्जात
दृढविषयवैराग्यभावनमेनं श्रीपूज्ययोगानन्दस्य महात्मन
स्सविधे प्राहिणोत् । स च महात्मा चित्तैकाग्र्योपयि
योगमुपदिदेश ।

एतेन दीक्षितः शिक्षितश्चायं ज्ञानपिपासुरुत्तरकाश
पूज्यपादतपोवनमहाराजेभ्यो ब्रह्मविद्यां समार्जिजत्
अद्यावधि च तानेव सेवमानोऽहर्निशं तदुपदेशदि
आत्मानन्द आत्मना आत्मनि रमते ।

विविधानवद्यविद्याविनयविवेकापनीताजेयविषयवास
सत्यशमदमादिसाधनोपनीतपरमार्थपरिशीलनप्रबुद्धशुद्धमा
नसः परमहंससरणीरपायणोदासीनादीनमानसोऽयं स्वा
मिप्रवर आत्मानन्दः स्वानुभूतमशेषक्लेशविश्लेषसाधनप

निखिललोकोपकृतये ग्रन्थे समुद्दङ्कय सर्वत्र प्रचिचारयिषया तममुद्रयत् । अनेन च लोको वहूपकृतः स्यादित्याशास्ते ।

महामहोपाध्यायः
पं० हरिहरकृपालु द्विवेदी
प्रधानाचार्यः

काशी
अक्षयतृतीया
१९९६

पण्डितपञ्चानन, विद्यारत्नाकर,
विद्यानिधि, पण्डितविभूषण,
तर्कालङ्कार विद्यासागर
इत्याद्युपाधिविभूषितः

प्रस्तावना

अहो ! खल्वीश्वरेच्छाया अकुण्ठता विचित्रा गतिः। अघटितमपि सुघटितमातनोति सा। ईश्वरेच्छा मूकं वाचालं करोति, पङ्गुञ्च पर्वतमधिरोहयति, कुचेलं कुबेरं विदधातीति नैतत्तिरोहितं विदुषां विचिन्तनशील नाम्। तथाच मामपि ग्रन्थकारमकरोदीश्वरेच्छेति कि श्चर्यन्तत्र। अहो ! क्वाहमल्पमतिरकृतकाव्यशास्त्रादिव्य सायः, क्व च महाशेमुषीसम्पन्नानां पण्डितप्रकाण्डाना महाऽभ्याससाध्या ग्रन्थकरणकला। तथाविधमतदर्हमपि जनं महत्तरं ग्रन्थकारपदमधिरोहयितुमीश्वर ऐच्छदिति नाम तत्राघटितता। अहो ! ईश्वरेच्छाया अघटितघट पटीयस्त्वम्।

अथातिसङ्क्षेपतोऽस्माकं ग्रन्थकृत्पदाधिरोहण कथ्यतेऽत्रपाठकानां पुरतः। यथाप्रतिभं सुरसरस्व त्यनुभवपराणि लघुतराणि वाक्यानि विलिख्य संग्रह व्यानीति मे मतिरुदभूत्। स्वान्तर्विनोद एव तत्र ना

कश्चन हेतुरासीन्मम । ततश्च तादृशानि कतिपयानि वाक्यानि विलिख्य सम्मत्यर्थं गुरुपादपरमपूज्यश्रीतपोवन-स्वामिपादानुपागच्छम् । ते च तानि दृष्ट्वा सुष्ठु सुप्रसन्ना अभवन् । अथ चैतादृशानि वाक्यानि पृथग् विषयनिर्देशे-नाधिकृतया विलिख्य संग्रहीतुं प्रयत्नमाधत्स्वेति सप्रमो-दाश्वाज्ञापितवन्तः । ततो मया वैराग्यविषयमधिकृत्य किञ्चित् किञ्चिदिव प्रतिदिनं तादृशानि वाक्यानि विलिखितुमारब्धानि । प्रतिदिनमेवविलिखितस्यांशस्य संस्करणसंशोधनादिकञ्च स्वामिचरणैस्तत्क्षणमेव कृत-मासीत् । तथाच तस्य प्रथमप्रकरणस्य परिपूर्तिरुत्तरकाश्यां श्रीविश्वनाथचरणसविध एव समभूद्यथाकालम् ।

श्रीस्वामिचरणाः प्रतिसंवत्सरं चातुर्मास्यकरणार्थं श्रीगङ्गोत्तरीधाम नियमतो व्रजन्त आसन् । ते खलु तं नियममनुरुन्धानाः सौम्यकाशीतः श्रीगङ्गोत्तरीं प्रति प्रस्थितवन्तः । अयं जनोऽपि बहुकालादारभ्य गङ्गोत्तरीं गन्तुं तत्र किञ्चिदनेहोऽतिवाहयितुं चाभिलाषुक आसीत् । महान्तं पुण्यपरिपाकमन्तरेण तादृशस्य पुण्यसङ्कल्पस्य पूर्तिर्न सम्भवत्येव । तथा च पूर्वसुकृतनिचयपरिपाकेना-

म्वायाः कृपया च गङ्गोत्तरीगमनायाहमपि निष्प्रतिबन्धतया समर्थोऽभवमस्मिन्नब्दे । अविलम्बितमेव गङ्गोत्तरीं गत्वा तस्याः सेवनं श्रीगुरुभगवतां सङ्गतिश्चान्तर्यामिणोऽनुग्रहेण कर्तुमारभेस्म । श्रीस्वामिपादानां सविध एवोत्तरकाश्यामुद्देशतोऽष्टवर्षेभ्य आरभ्य विविधानां वेदान्तग्रन्थानामध्ययनंकुर्वाणो यथाविधि वर्ते साम्प्रतम् । सटीकशाङ्करभाष्यसहितस्य बृहदारण्यकस्य श्रीब्रह्मसूत्रस्य च तेषां सविध एवाध्ययनंसम्यग्सम्पादितम् । अपिच संस्कृतभाषापरिशीलनादिकमपिविशेषतस्तेषां द्वारेणैव तत्र मया कृतमासीत् । अहोखलु विद्वज्जनानां सङ्गमाहात्म्यम् ।

यथोक्तम्—"काचः काञ्चनसंसर्गाद्ध धत्ते मारकतीं द्युतिम्,
तद्वत्सज्जनसंसर्गान्मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥" इति

एतादृशेन श्रीस्वामिनां सङ्गमाहात्म्येनातुलितकृपया च भागीरथ्या भक्तिज्ञानात्मकं विषयद्वयं विषयीकृत्यान्यदपि प्रकरणद्वयं गङ्गोत्तर्यां प्रतिदिनं किञ्चित् किञ्चिद् विलिख्य सम्पादयन्नासीदयं जनः ।

अथ पतितपाविनी पुराणप्रसिद्धा श्रीगङ्गोत्तरीभूमिश्चैतद्ग्रन्थविलेखने:ममातिमात्रमुपकारिण्यासीदिति विशेषं

वक्तव्यं प्रतिभाति । सर्वदा पवित्रतराणां भावानां समुत्पादनेऽस्या भूमेः सामर्थ्यमनितरसाधारणमित्यनुभवसिद्धोऽयमंशः । सत्यमुक्तं श्रीस्वामिपादैः श्रीगङ्गोत्तरीक्षेत्रमाहात्म्यप्रस्तावनायाम् :—

"अथ किंलक्षणकं पवित्रं क्षेत्रमित्याकाङ्क्षायामिदं वदामो यदकृच्छ्रेणैव पवित्रभावभावकत्वं तल्लक्षणमिति ।" इत्यतिचञ्चलाऽपवित्रा मनोगतिरपि स्वरसेनात्रातिनिश्चलातिपवित्रा च सम्पद्यते । आत्माभिमुख्यात्मरतिश्च भवत्यनायासेन । अनवरतमुपश्रूयमाणः श्रीगङ्गायाः प्रणवध्वनिः सर्वानप्यनात्मभावान् सहसा तत्र निरुणद्धि । किञ्च परिपूतममरदुर्लभममरसरितोऽमृतमयं जलमपि स्नानपानाभ्यां तदुपसेवमानस्य शारीरिकं मानसिकञ्च मालिन्यमशेषतोऽपमार्जयति सद्य एव । अहो ! ऋषिसङ्घजुष्टायाः श्रीभगीरथतपोभुवः श्रीगङ्गोत्तरधरण्या अध्यात्मभावप्रसारणमाहात्म्यम् ।

एवं तीर्थानामपि तीर्थस्य पुण्यभूमेः श्रीगङ्गोत्तर्या अध्यात्ममाहात्म्यमतितरामन्वग्रहीत् पुण्यभावप्रजननेनेमंजनमिति मन्ये धन्यमात्मानमिमं ग्रन्थञ्च । एवं क्रमशः कतिचिद्दिनेषु प्रकरणद्वयमप्यत्र गङ्गोत्तर्यां समाप्तिमगमत् । अथचैवं प्रकरणत्रयस्य प्रणयनानन्तरं केवलं बुद्धिविनोदाय सङ्कलितस्याप्यस्य यदि ग्रन्थरूपेण प्रकाशनं क्रियते तर्हि

मुमुक्षुजनानामवश्यं महानुपकारः कृतः स्यादिति बहु
महात्मनामादेशमनुसृत्यैवमस्य प्रकाशनार्थं प्रय
कृतो मया ।

अथ निखिलदर्शनतन्त्रस्वतन्त्रो वेदान्तशास्त्रनिष्ठ
विद्वत्संसदि लब्धप्रतिष्ठोमिथिलामलंकुर्वाणोऽनेकग्रन्
रचयिता, अनुवादशैलीनव्यभव्यतापादकः पं० श्री शिव
नारायण शर्मा ग्रन्थमशेषमिमं हिन्दीभाषायामनूद्य
सीयसंशोधनमपि स एवाकार्षीदिति तस्मै समोदं स
शुभाशंसया सहस्रशो धन्यवादाः प्रदीयन्ते । प्रकाशके
महोदयेभ्यश्च शुभाशीर्वचनमुपहृष्यामि ।

अत्रचाज्ञानेन वाऽनवधानतया वा यदि शाब्दि
मार्थिकं वा किमपि स्खलितं प्रयुक्तमुपलभ्यते, तर्हि
बालकरचनेति मत्वा—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

इति न्यायमनुसृत्य च विद्वांसस्तत् क्षन्तुमर्हन्तीति शम्।

साधुजन—

श्रीगङ्गोत्तरी
२०–८–३८

चरणचञ्चरीकस्य
स्वामिन आत्मानन्दस्य

श्रीः

वन्दे कुन्देन्दुधवलदन्तभिन्नान्तरायकम् ।
दानधारापतद्भृङ्गसङ्गतं कुञ्जराननम् ॥

इदानीं कलियुगावेशवशात् खिलीभूते वेदादिसच्छास्त्रप्रवाहे, कलुषीकृते च मनुजचेतसि, विरलीभूते च गुरुशिष्यपारम्पर्ये, कान्दिशीके च जनसमाजे, कामलोभाद्यभिभूते च शास्त्रचिन्तकचेतसि को वा कमुपदिशेत्, को वा किं शृणुयात्? शिष्यचित्तसंतापहारका गुरवो विरलाः, शिष्यवित्तापहारकास्तु बहवः। ये किल "निर्मूलितविषयाशा निस्त्रैगुण्यात्मरमणबद्धाशाः शारीभवदशाशाः शांता भुवि शेरते गलत्पाशाः" त एव हि परानुपदेष्टुमर्हाः भारतभूमेरयमखण्डितो महिमा यदेतादृशा गुरवो विरला अपि न सर्वथोच्छिन्नाः, नैतेषां समुत्सादो भारतभूमौ सम्भवति। यतः-"तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः। काश्यामपीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः॥" यस्य महिमा खलु ईश्वरमहिमानमप्यतिशेते, न तस्य समुत्सादः कथमपि भवितुमर्हति भारतेवर्षे।

श्रीमद्भिर्महाभागैरात्मानंदस्वामिभिर्विरचितं वैराग्य-भक्ति-ज्ञानोपदेशात्मकं चित्तसम्बोधनाख्यं निबन्धमालोक्य स एव विश्वासो दृढ़तरो जायते यत् तादृशा धरणीतल-पावना महान्तो नेदानीमपि विलुप्ताः। एतेषां महाभागा-नामलङ्कारभारविधुराऽपि हृदयहारिणी शब्दजालैरजटि-लाऽपि सुप्रसन्ना विषयवासितचेतसामपि चेतांसि प्रक्षालयन्ती केषां न बहुमता भारती। निबन्धेऽस्मिन् पाण्डित्यप्रख्यापनप्रयासलेशोऽपि नास्तीति महद्‌ गौरवं निबन्धॄणाम्। विकरालेऽस्मिन् कलिकालेऽविद्धकर्ण-बधिरा एव प्रायेण जनाः, के वा तादृशा दयालवो ये सदुपदेशामृतेन तान् श्रोत्रलाभफलं प्रापयेयुः को वा— "सर्वतः परिधावन्तं मनोमत्तमतङ्गजम्। ज्ञानाङ्कुशवशं नीत्वा पुनः पन्थानमानयेत् ॥" निबन्धमिमं निर्माय दयालुभिर्महाभागैर्महदुपकृतम्। एतस्य परिशीलनमजल-मान्तरं स्नानमिति निश्चयो मादृशानाम्। रहस्यमपरिज्ञाय साधनान्यनुतिष्ठतामपि फलं फल्गु यथा—"मत्स्यःस्नानपरः फणिः पवनभुङ्मेषस्तु पर्णाशन" इति न्यायेनानुतिष्ठ-तामपि शुभं कर्म न फलाय स्यादिति कर्मणां वैराग्ये तत्र

भक्तौ तस्याश्च ज्ञाने पर्यवसानं प्रतिपादयन्तो निबन्धारो महाभागाः सर्वेषामेव श्रद्धेया अकारणबान्धवाश्चेति विश्वासोऽस्माकम् ।

महामहोपाध्यायः
श्रीयोगेन्द्रनाथशर्मा
तर्कवेदान्तसांख्यतीर्थः
राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापकश्च (कलकत्ता)

श्रीः

देशकालपात्राण्येवानुसरन्ति सर्वाणि कार्याणि तत्रापि पात्रस्यैवातिप्रधानत्वे न कस्यापि सदसद्विवेकिनो विदुषो वैमत्यम्। पात्रवैकल्पप्रयुक्तमेव सिद्ध्यभावमाधुनिका अपि समुद्गिरन्ति देशोपकारकरणैकतानाः अद्यावधि ये ते यावन्तोऽपि निबन्धाः निःश्रेयससाधनोपयिकीभूता लभ्यन्ते, ते सर्वेऽपि कुटिलकरालकलिकालाजगरनिगीर्णानां नष्टचेतनानां जनानामिदानीन्तनानां बोधवैधुर्य्यादेव पात्राणां न साधयन्ति समीहितमिति सुचिरं सुनिपुणं विविच्यैव सूक्ष्मेक्षिकया सम्यङ्निरीक्ष्य च यावद्दुर्बोधव्यपायक्षमं षड्वर्गभीषणभुजङ्गमवनीभूतायामज्ञानान्धकारसमाच्छादितायामस्यां जगत्यां दीपस्थाने तडिद्दीप इव मणिस्थाने महामणिरिव परमकारुणिकेनात्मबोधैकरसेन शुभोदयेन श्रीयुतात्मानन्दमहोदयेन सङ्क्षिप्तमपि विस्तृतविवरणमिव सारल्यादनायासेन बोधसाधकं ग्रन्थरत्नं चित्तसम्बोधनं नाम निरमायि। यत्र खेलन्तोऽप्यनायासेन श्रुत्वैव तादृशदुर्ज्ञेयं दुर्निवारज्ञानप्रसरैरपि दुरधिगममुपनिषत्सारसर्वस्वभूतं विषयमधिगमिष्यन्तीति किम्बहुना।

पं० रघुनन्दन त्रिपाठी
व्याकरणोपाध्यायः। साहित्यतीर्थः
कल्याणपुरम्, गया

श्रीसाम्बशिवाय नमः ॥

॥ वाङ्मुखम् ॥

परमात्मा प्रतिसृष्टि लोकानुद्दिधीर्षुश्चतस्रो वेदसंहिता आविष्कुर्वन् विराजते ता अङ्गप्रत्यङ्गाद्युपबृंहिताश्च विदधाति। अत्र कारणं तस्य कारुण्यम्। महर्षिशाण्डिल्येन स्वसूत्रे समुक्तं "मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।" लौकिकविषयेषु प्राणिनां स्वाभाविकी प्रवृत्तिस्तत्र नास्ति शास्त्रापेक्षा। पारलौकिकचिन्ता च विरला। तत्र प्रायशो-मानवा न प्रसज्जन्ते। तदर्थं शास्त्रज्ञानमावश्यकम्। तच्च कठिनायाससाध्यम्। स्वल्पे लोकाः प्रयतितुं समर्थयन्ते। सरलेव सङ्क्षेपेण च रूपेण तच्चिन्तनं भवितुमर्हति। सर्वशास्त्रसारभूतं पद्धतित्रयं कर्मज्ञानभक्तिरूपं समीचीनं विभाति। भक्तिः कार्यादिसाध्यत्वात् कर्मान्तर्गता। अतोऽस्मिन् ग्रन्थे न तस्य पार्थक्येन विचारणा। भक्ति-ज्ञानवैराग्याणां वर्णनं माधुर्यप्रसादगुणशालि सुकुमार-मतीनामपि ग्रहणयोग्यमत्रास्ते।

एतद्ग्रन्थपठने प्रेक्षावतां मनुजानां चितमाकृष्टमिव

वशीभूतमिव जायते । ज्ञानवैराग्यप्रकरणे दुरूहे ऽ
प्रतिपादनशैल्या पाठकानां कृते सुखसम्वेद्यतां सम्पादयत
भक्तिकाण्डं मनोहरति कोविदकलापानाम् । जानी
वैयाकरणा यद्भक्तशब्दे भजधातोः कर्मणि "क्त" प्रत्यये
ऽस्ति । तस्यार्थो निष्पद्यते सेवित इति । नैव सेवक इ
वाच्यं भवति । यमौरसपुत्रादिवत् परमात्मा सेवते स
भक्तः, परब्रह्मप्राप्तभक्तिकाः स्वप्रयत्नलब्धभक्तिकाश्चोभयेऽ
तन्मूर्तयः । केऽपि भक्ताः नावमन्तव्याः । केवलं नामकी
नशीला अपि ब्रह्मवादिनो भवन्ति—"कस्य चारु ना
मनामहे ।" ऋग्वेदः "य एनं नाम्ना विदुः ब्रह्मवादिनो
भवन्ति" (तैत्तिरीयारण्यकम्) तदर्पणाखिलाचार
तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेतिनारदसूत्रोक्तभक्तिं दधाना
शरणप्रपन्ना इत्युच्यन्ते । तेषां सर्वं कृत्यजातं परमेश्वर
एव निष्पादयति । ते च जायन्तेऽङ्कस्थितबाला इव प्रमोद
मानाः । एतद्वृत्तं दर्शनशास्त्रानुशीलनलब्धानुभवे
ग्रन्थकारेण श्रीस्वामिनोपन्यस्तं यत् "भगवानपि भक्तस्य
भक्तः" ज्ञानप्रकरणं पुस्तकप्रणेतुर्महात्मनो वैदुष्यमुद्घोषयति
ईश्वरानुग्रहं विना कोऽपि तदवबोधं न कारयितुं

शक्नोति । एतत् प्रकरणं दर्शनप्रेमिभिरवश्यं पठनीयम् । श्रद्धाभाजनं भक्तप्रवरं स्वामिनं वन्दमानोऽपि न प्रहृष्यामि तत्कल्याणञ्चेश्वरतः प्रार्थयेऽहम् ।

महामहोपाध्यायः
पं० सकलनारायण शर्मा
काव्यव्याकरणसाङ्ख्यतीर्थः

Pandit Shivnarayan Jha, whom I know we[ll] has translated "Chitta Sambodhan" by Swa[mi] Atmanandji Maharaj. The translation is tr[ue] and good. Panditjee is a good scholar a[nd] knows philosophy very well. His translation, [I] trust would be accepted and valued. I have se[en] the introduction, which the Panditji is now writi[ng]. It is very felicitious readin g.

Camp Calcutta
3/6/39

Pt. Nilkantha Das M.A.
M. L. A. (Central)
Editor "Nav Bharat" Cuttack
(Puri)



श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका

कलकत्ता

शुद्धाशुद्ध पत्र



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
परिभ्रमतिभवान्	परिभ्रमति	२२	१
स्वरूपवान्	सुरूपवान्	२५	१
लोकपावनाः	लोकपाविन्यः	२८	४
विगतरामो	विगतरागो	३२	२
श्रीकृष्णवचनम्	श्रीकृष्णमुनिवचनम्	३४	१
गर्हाष्पदं	गर्हास्पदं	३५	१
सस	सास	४१	१
मप्युपद्यते	मप्युपपद्यते	५०	७
निर्वृत्तो	निवृत्तो	५४	४
दैहेन्द्रिय	देहेन्द्रिय	२५५	१





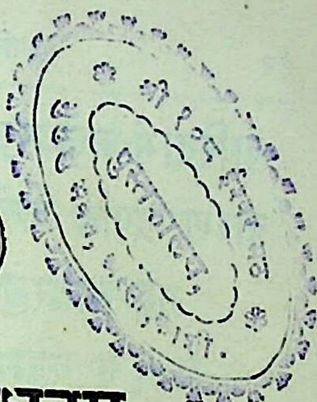
चित्तसम्बोधने—

विषय-सूची

वैराग्यप्रकरणम्—

भक्तिप्रकरणम्—

ज्ञानप्रकरणम्





* चित्तसंबोधनम् *

मङ्गलाचरणम् ।

स जयति सिन्धुरवदनो-
देवो यत्पादपङ्कजस्मरणम् ।
वासरमणिरिव तमसां-
राशिं नाशयति विघ्नानाम् ॥ १ ॥

जिनका मुख हाथीका है और जिनके चरण कमलके स्मरण करनेसे सारे विघ्न विलीन हो जाते हैं, जैसे सूर्यसे अन्धकार विलीन होते हैं, उन गणेश भगवानकी विजय है अर्थात् उनकी मैं वन्दना करता हूं ॥ १ ॥

वारिदाभं गले गङ्गावारिगौरं कलेवरे।
वारणाद्रिपतिं वन्दे वारणाजिनवाससम् ॥२॥

गङ्गे मातरनुस्मरामि सततम्
त्वन्मूर्त्तिमत्यद्भुतां-
देवीं दैवतदुर्लभाञ्च यमुना-
वागन्नपूर्णादिकम्।

जिनका कण्ठ मेघके समान काला है। शरीर गङ्गाजलके समान सफेद है। बाघम्बर धारण करनेवाले उन कैलासपति की मैं वन्दना करता हूं ॥ २ ॥

हे गङ्गे मातः! आपकी जो यमुना, सरस्वती और अन्नपूर्णा आदि देव-दुर्लभ, अति विचित्र अलौकिक मूर्तियां हैं, उन्हींका मैं सदैव चिन्तन करता रहता हूं ॥ ३ ॥

भक्तेनाथ भगीरथेन भगवत्-
पादैश्च पादार्चकै-
र्या नित्यं समुपाश्रिता विजयते
गङ्गोत्तरीसद्मनि ॥ ३ ॥

भगवत्पादपादाब्जद्वन्द्वं द्वन्द्वनिवर्हणम्।
सुरेश्वरादिसद्भृङ्गैरवलम्बितमाभजे ॥ ४ ॥

हे गंगे ! आपकी जिस मूर्तिकी आराधना भक्त भगीरथने की थी और आपके चरणोंकी पूजा करनेवाले पूज्यपाद श्री श्रीशंकराचार्यने जिस मूर्तिकी आराधना की थी, जो मूर्ति गङ्गोत्तरी में नित्य विराजमान है, उस मूर्तिकी विजय है अर्थात् उस मूर्तिकी मैं वन्दना करता हूं ॥३॥

संसारके दुःख-द्वन्द्वको हटानेवाले भगवान् श्रीशंकराचार्यके चरण कमलकी मैं वन्दना करता हूं, जिस चरण कमलकी आराधना सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य आदि महात्माओंने की है ॥ ४ ॥

दीक्षागुरुं नमस्कृत्य दत्तान् विद्यागुरूंस्तथा।
किञ्चिच्चर्चाङ्करिष्येऽहंकिञ्चिज्ज्ञोऽन्तस्सुखाय वै।

दीक्षा (मन्त्र) गुरु और सुयोग्य विद्या गुरुओंको प्रणाम करके मैं अल्पमति हो कर भी आन्तरिक सुख-प्राप्तिके लिये अपना कुछ विचार प्रगट करता हूं ॥ ५ ॥



श्री विश्वनाथाय नमः
ॐ श्रीगङ्गायै नमः

वैराग्यप्रकरणम्



"भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं-
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं-

विषय भोग करनेमें रोगका भय लगा रहता है। उच्चकुलकी प्राप्तिमें उसके पतनका डर लगा रहता है। धन होने पर राजाका भय होता है। मौन धारण करनेमें दीन बननेका डर रहता है। बल-प्राप्ति होने पर शत्रुओंका डर रहता है। सौन्दर्य आदि रूपमें भी बुढ़ापाका डर रहता है। शास्त्रमें भी विवादका भय है। गुणमें दुष्टों का और शरीरमें यमराजका भय है। संसारमें जितने पदार्थ हैं, सबमें भय लगा ही रहता है।

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।
"वैराग्यशतकम्"

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥
"शान्तिपर्व"

रे चित्त! कुत्र धावसि। वैराग्यं भज। चिंतां त्यज। विश्रान्तिं व्रज। सर्वे विषयाःसाति

मनुष्योंके लिये केवल वैराग्यमें कुछ भय नहीं है।
"वैराग्य शतक"।

तृष्णाके विलीन होने पर जो सुख प्राप्त होता है उसकी सोलहवीं कलाके बराबर भी ऐहलौकिक विषय-सुख और पारलौकिक महान् सुख भी नहीं है॥ "शान्ति पर्व"

अरे चित्त! तुम कहां दौड़ते फिरते हो। तुम वैराग्य धारण करो। चिन्ताको छोड़ो। विश्राम लो। सांसारिक पदार्थ मात्र न्यूनाधिक्यसे ग्रसित

शयाः सर्वे विषयाः क्षणभंगुराः सर्वे विषयाः दुःखप्रदा बन्धकाश्चेति नितरां निश्चिनु। विषगर्भितमोदकोपमास्त इति जानीहि। एवं विषयेषु दोषान् पश्य। दोषान् दृष्ट्वा तानशेषतस्त्यज। तत्र तृष्णामुत्पाटय। तृष्णायाः फलं दुःखमेवेति विजानीहि। तृष्णा न कदाऽपि सुखहेतुर्भवति। तस्माद्विषयगर्तेषु मा

है अर्थात् सांसारिक पदार्थ किसीसे छोटा और किसीसे बड़ा होता है, सबसे बड़ा नहीं हो सकता है। सारे पदार्थ क्षणिक हैं। स्थायी नहीं हैं। सब पदार्थ जीवके लिये दुःखप्रद और बन्धप्रद हैं यह अच्छी तरह जानो। जहरसे मिले हुए मोदककी तरह परिणाम में वे भयंकर हैं यह जानो। इस प्रकार विषयोंमें दोष दर्शन करो और दोष दर्शन करके उन विषयोंका सर्वथा परित्याग करो। विषयोंकी तृष्णा छोड़ो। तृष्णाका

पत। मोहनिद्रातो जागृहि, जागृहि। अव-
हितो भव। तृष्णाक्षय एव सुखहेतुरिति
विद्धि। वितृष्णस्य यत्सुखं तत्सुखं नरराजस्य
नास्ति तत्सुखं सुरराजस्य नास्ति किमधिकं
हिरण्यगर्भस्याऽपि नास्ति तस्माद्वितृष्णो
भव। विषयान् विषवत् परित्यज। त्यक्त्वा च
सुखी भव। उक्तं हि—

फल दुःख ही होता है यह जानो। तृष्णा कभी
सुखका कारण नहीं है इस लिये तुम विषयके
गड्ढे में मत गिरो। मोह-निद्रासे जागृत हो जाओ
सावधान हो जाओ। तृष्णाके नाश होनेसे ही
सुख प्राप्त होता है यह समझो। तृष्णा-रहित
पुरुषको जो सुख मिलता है वह सुख किसी राजा
को प्राप्त नहीं है, इन्द्रको भी नहीं है, कहां तक
कहें, ब्रह्माको भी वह सुख नहीं मिलता है इस
लिये तुम तृष्णाको छोड़ दो। विष की तरह विषयों
को छोड़ो। उन्हें छोड़ कर सुखी हो जाओ। जैसे
योगवाशिष्ठ में कहा गया है—

"विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ॥१॥
यान्येतानि दुःखानि दुर्जराण्युन्नतानि च ।
तृष्णावल्याः फलानीह तानि दुःखानि राघव !२
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा ।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ।"३इति
"वासिष्ठम्"

"नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति
नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।

लोग जिसे विष जानते हैं, वास्तवमें वह विष (जहर) नहीं है किन्तु सांसारिक जो धन, स्त्री, पुत्र आदि विषयोंका तारतम्य है वही विष है क्योंकि धन, स्त्री, पुत्र आदि विषय तो दूसरे जन्मोंको भी बिगाड़ देते हैं और विष सिर्फ एक इसी शरीरको विनष्ट करता है ॥१॥

हे राघव ! ये जो दुःख (आध्यात्मिक, आधि-दैविक , आधिभौतिक) प्रबलरूपसे जीवोंको

नात्यक्त्वा चाभयः शेते
त्यक्त्वा सर्वं सुखी भवेत् ॥" इति
"शान्तिपर्व"

रे मनः ! धनादिषु तृष्णां कृत्वा किमर्थं
भ्रष्टाविष्टवदितस्ततः परिभ्रमसि । रे मूढ़!

बराबर रहते हैं, इनका छटना दुष्कर हो जाता
है इसका कारण तृष्णाका प्रवाह है क्योंकि सां
दुःख तृष्णाके फलस्वरूप ही हैं ॥२॥

जीवोंको जितनी-जितनी किसी चीजकी तृष्
जैसे-जैसे उत्पन्न होती है वह उतनी-उतनी बो
गयी तृष्णा दुःखके बीजको उत्पन्न करती है॥३

बिना विषयके परित्यागसे जीव सुख प्रा
नहीं करता है। बिना त्यागसे परमात्माकी प्राि
नहीं होती है। बिना त्यागसे जीव निर्भय हो क
नहीं सोता है, किन्तु सब विषयोंके परित्याग कर
से ही जीव सुखी रह सकता है। "शांति पर्व"

धन आदि विषयोंमें तृष्णा धारण करके भ्र
की फेरीमें पड़ने की तरह तुम क्यों इधर उध

धनतृष्णां जहीहि। धनस्योपार्जने दुःखं धनस्य रक्षणे दुःखं नाशे दुःखं व्यये दुःखमिति धनं दुःखभाजनं विद्धि। धनं महापातकानां निदानमिति विद्धि। धनेन कामो जायते। धनेन क्रोधो जायते। धनेन महान् गर्वो जायते। धनेनैव लोभमोहादयोऽपि जायन्ते। अहो! धनस्य दौरा-

---

भटकते फिरते हो। अरे मूर्ख! धनकी तृष्णाको छोड़ो।

धनके उपार्जन करनेमें दुःख है, धनकी रक्षा करनेमें दुःख है, धनके विनाश होने पर दुःख होता है, धनके खर्च होने पर दुःख होता है। इस तरह धन सर्वथा दुःखका कारण है यह जानो।

महापातकोंका मूल कारण धन ही है यह जानो। धनसे कामनाएं (अभिलाषाएं) उत्पन्न होती हैं। धनसे क्रोध उत्पन्न होता है। धनसे

त्स्यम्। तादृशे धने त्वं किं शोभनं पश्यसि
तदुक्तम्—

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं-
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः,
सर्वत्रैषा विहिता नीतिः॥" इति
"द्वादशपञ्जरिका

महान् गर्व उत्पन्न होता है। धनसे ही लोभ, मो
आदि उत्पन्न होते हैं। आश्चर्य धनका बुरा प्रभा
है। ऐसे धनमें तुम क्या रमणीयता देखते हो
कहा गया है–

धनको नित्य अनर्थ जानो यह सत्य है कि
धनसे किञ्चित् भी सुख नहीं होता है। धनवानोंक
पुत्रसे भी भय लगा रहता है सब जगह यह
नियम हैं। "द्वादश पञ्जरिका"

हन्त ! हन्त ! धनमदरूपिणा महारोगेण समाक्रान्तस्य पुरुषस्य महतीं दुरवस्थां वर्णयति कश्चन कविः—

"बधिरयति कर्णविवरं-
वाचं मूकयति नयनमन्धयति ।
विकृतयति गात्रयष्टिं-
सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन् !" ॥ इति
"सुभाषितरत्नाकरः"

बड़े खेदकी बात है कि धन-मदरूपी महारोगसे ग्रसित मनुष्यकी कैसी बड़ी बुरी अवस्था होती है। उसका वर्णन किसी कविने किया है–

हे राजन् ! यह धनरूपी विचित्र रोग कर्णोंको बधिर बना देता है, वाणीको बन्द कर देता है, आंखोंको अन्ध कर देता है, शरीरको विकृत कर देता है। सारांश यह कि धनवान् पुरुष धन-मत्त हो कर किसीकी प्रार्थना या सदुपदेशको नहीं सुनते हैं क्योंकि धन उन्हें बधिर बना देता है और कुछ याचना करने पर चुप्पी साध लेता है

अहो शृणु ! धनिनो दौरवस्थ्यमन्
दपि । धनिनो हन्त राजतो भयं धनि
श्चोरतो भयं धनिनः पुत्रतो भयं धनिनं
बन्धुतो भयम् । हन्त ? हन्त ? सर्वेभ्यस्त
सर्वदा भयमेव भवति । अतश्च सुखेन निद्
तुमपि न लक्ष्मीवान् प्रभवति । अहो ! ध

क्योंकि धन उन्हें गूंगा बना देता है और
गरीबकी तरफ आंख उठा कर नहीं देखते हैं क्यों
धन उन्हें अन्धा कर देता है । कुछ याचना क
पर धनवानोंका चेहरा उतर जाता है क्योंकि
उनके शरीरको विकृत कर देता है ।

"सुभाषित रत्नाक

अजी ! धनवानोंकी और भी कैसी दु
अवस्था होती है यह सुनो । धनवानोंको राजा
भय है, चोरका भय है, पुत्रका भय है, बन्धु
भय है, सबका भय सदा उसे लगा ही रह
है इस लिये धनवान् पुरुष सुखसे सो भी न
सकता है । दरिद्र होना ही अच्छा है यह जानो

धन्यं दारिद्र्यमिति जानीहि। धन्याः खलु ते दरिद्राः ये निश्चिन्ता निर्भयं निद्रासुखमुपभुञ्जते। विविधचिन्ताव्याकुलतया निरयी जन्तुरिव कष्टतराणि क्लिष्टतराणि च दिनानि धनी कृच्छ्रेणातिवाहयति। तादृशे धनित्वेऽतिमात्रजुगुप्सिते त्वं किं शोभनं पश्यसि।

अथ च लक्ष्मीः कुलटेव पुरुषात्पुरुषान्तर-

वे निर्धन ही भाग्यवान् हैं जो निश्चिन्त हो कर निर्भयसे निद्रा-सुखका अनुभव करते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे व्याकुल होनेके कारण नारकीय जीवकी तरह धनवान् व्यक्ति अत्यन्त कष्टसे अत्यन्त क्लेशको सहन करते हुए बड़ी मुश्किल से दिनको बिताते हैं। ऐसे अत्यन्त निन्दनीय धनमें तुम क्या भलाई देखते हो?

लक्ष्मी कुलटा (वेश्या) की तरह एकको छोड़ कर दूसरे पुरुषके पीछे दौड़ती रहती है। वह बिजली और दीपशिखाकी तरह अत्यन्त चंचल

मनुधावति। सा तडिदिव दीपशिखेव चाती
चञ्चला। न तस्याः कश्चित् प्रियो भवति।
गौररण्ये तृणमिव नवं नवं प्रार्थयति पुरुषम्
एष तस्याः स्वभावः। तथाऽपि मूढास्त
स्थिरीकर्तुमिच्छन्ति। ममेति स्वकीयां कर्तु
मिच्छन्ति। ते सुरसरित्स्रोत ऊर्ध्वं प्रवाहयि
तुमिवेच्छन्ति। लक्ष्मीः न कस्या ऽपि कदाऽ
स्वकीया भवति, न दासी भवति। सर्वे
तस्या दासा भवन्ति।

है। उसका कोई भी प्रिय नहीं है। जिस प्रका
गाय बनमें नये-नये तृणकी खोज करती है उ
प्रकार लक्ष्मी भी नये-नये पुरुषको चाहती रह
है। यह लक्ष्मीका स्वभाव ही है तो भी मूढ़ लो
उसे स्थायी रूपसे रखना चाहते हैं। 'मेरी है' इ
प्रकार अपनाना चाहते हैं। वे लोग गंगाके प्रवा
को ऊपर बहाना चाहते हैं। लक्ष्मी किसीकी क
अपनी नहीं है। किसीकी दासी नहीं है, स
उसीके दास हैं।

तदुक्तं महाभारते—
"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्" ।
रे मूढ ! विचारं कुरु । विवेकी भव । धनाशां त्यक्त्वा स्वस्थः सुखी भव ।
एवं स्त्री-सुतादिष्वपि रतिं ममताञ्च परित्यज । नारी नरकाग्नीनामिन्धनमिति जानीहि । कामिनीशरीरे किं शोभनं परि-

---

महाभारतमें कहा गया है कि—
"मनुष्य धनका दास बन जाता है। धन मनुष्यका दास नहीं बनता है"। अरे मूढ़ ! विचार करो। विवेकी बनो। धनकी आशा छोड़ कर शान्त और सुखी बनो।
धनकी तरह स्त्री, पुत्र आदि विषयों में जो प्रेम और ममत्व है उसे छोड़ो। नरकरूपी अग्नि को प्रज्वलित करनेके लिये स्त्री, इन्धन (लकड़ी आदि जलावन) है यह जानो। स्त्री के शरीरमें

पश्यसि ? कामिनीशरीरं किं त्वं सुन्द
मुखदं सुधानिष्यन्दि परिपश्यसि ?। अहो
ते मोहमहिमा। सुन्दरञ्चेत् करनखमुखादी
कचकुचादीनि च पृथक्कृत्य तद्विलोकय
अस्पृश्यानि जुगुप्सितानि मांसास्थीनि त
त्वं विलोकयिष्यसि ।

"एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षित

क्या रमणीयता देखते हो ? स्त्री-शरीरको सु
सुखप्रद और अमृतवर्षी क्यों देखते हो ? आश्च
यह तुम्हारा मोहका माहात्म्य है ।

यदि स्त्री-शरीर तुम्हें सुन्दर प्रतीत होता
तो हस्त, नख और मुख आदि तथा केश (बा
स्तन आदि अवयवोंको उससे अलग करके दे
तो अस्पृश्य और घृणास्पद मांस, हड्डी ही दृ
गोचर करोगे ।

"एक ही पदार्थ (स्त्री-शरीर) तीन तर
देखा जाता है क्योंकि योगियों की दृष्टिमें मृत

कुणपः कामिनी मांसं योगिभिः कविभिः श्वभिः” ॥१॥ “लिङ्गपुराणम्”

इत्येतद्व्यासवचनमनुस्मर। कामकदर्थितदृष्टयो विण्मूत्रभाण्डमपि कामिनीशरीरं सुरुचिरं पश्यन्ति। काममदिरोन्मत्ताः कामिनीमनुधावन्ति। यथा कामुकास्तथा कामिन्योऽपि विण्मूत्रभाण्डं कामुकशरीरं

कवियोंकी दृष्टिमें कामिनी और कुत्तोंकी दृष्टिमें मांस-पिण्ड देखा जाता है” ॥ १ ॥ “लिङ्ग-पुराण”

व्यासजीके उक्त वचनका मनन करो। कामदेव से जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई है, ऐसे मनुष्य विष्ठा और मूत्रका बर्तन, जो स्त्री-शरीर है, उसे अत्यन्त मनोहर देखते हैं। कामके नशासे मतवाले हो कर स्त्रीके पीछे दौड़ते हैं। जिस प्रकार कामी पुरुष स्त्री के पीछे लगे रहते हैं, वैसे स्त्री भी बिष्ठा और मूत्रका भाण्ड जो पुरुषका शरीर है

सुरुचिरं पश्यन्ति कामुकमनुधावन्ति च।
एवं कामुककामिन्योः खरकराङ्कूयनन्यायेन
पारस्परिकः क्रीडनादिव्यवहारः। हन्त! अरे
चेतः त्वं विवेचनानिपुणमसि। विवेचय बाढम्
अहो! इह लोके मोहस्य मूलं नारी, पापस्य
मूलं नारी, दुःखस्य मूलं नारी। कलहस्य
मूलं नारी, मरणस्य मूलं नारी, परलोके तु
नरकस्य मूलं नारी। किमधिकोक्तेन। इह

उसे अत्यन्त मनोहर देखती है और उसके
पीछे दौड़ती है। जैसे गदहोंका एक दूसरों
खाज करनेका परस्पर व्यापार होता है। उसी
प्रकार स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रेम-व्यवहार बना
रहता है। खेद है--अरे मन! तुझे विवेक करने की
शक्ति है। तुम अच्छी तरह विचार करो। इस
संसारमें विचित्र मोहकी जड़ स्त्री है। दुःख
जड़ स्त्री है। कलहकी जड़ स्त्री है। परलोकमें
नरक की जड़ स्त्री है। कहां तक कहें, मर्त्य
लोक और पर-लोक दोनों जगह महान् अनर्थ

मुत्र च महानर्थपरम्परायाः एक मूलमियं नारी-ति निश्चिनु । न सुधानिष्यन्दि किन्तु विष-निष्यन्दि तन्मुखमिति निश्चिनु । नारीं राक्ष-सीमिव भयङ्करीं जानीहि । यथोक्तम्:—

"दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम् ।
सम्भोगाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी" ॥इति

"दत्तात्रेयसंहिता"

राशिकी जड़ एक मात्र स्त्री है, इसे निश्चय कर लो। उसका मुख अमृत-वर्षण नहीं करता है, किन्तु विषका वर्षण करता है, यह निश्चय करो। नारीको राक्षसी की तरह भयंकर जानो। जैसा कहा है—

"दर्शनसे नारी चित्तको हर लेती है। स्पर्शसे बलको हर लेती है। संभोग करनेसे शक्तिको हर लेती है। इस प्रकार प्रत्यक्षमें ही स्त्री राक्षसी है" ॥१॥ "दत्तात्रेय संहिता"

विवेकनिश्चयाभावात्तादृशललनालाल-नलम्पटो लोकः परिभ्रमति भवान्। विवेक-निश्चये कृते न तथा स्यात् कदाऽपि। विवेकी न स्वप्नेऽपि ललनायाः क्रीडामर्कटतां गच्छति। सर्वमपि पारतन्त्र्यं सर्वोऽपि संसारः स्त्रीमूलकः। स्त्रीत्यागेन समग्रः संसारः सन्त्यक्तः स्यात्। तथा च स्वतन्त्रः सुखी च भवति पुरुषः। कामोन्मत्तानेव पुरुषान्नारी नर्त्तयति, न कामदोषरहितान्। कामुक

विवेक-निश्चय नहीं होने से स्त्रीके प्रेमासक्त होकर मनुष्य भटकता है। विवेक निश्चय करने पर वैसा कभी नहीं हो सकता है। विवेकी पुरुषको स्वप्न में भी नारी 'बन्दर-नाच' नहीं नचा सकती है। सारी परतन्त्रता, सारे संसार का मूल स्त्री है। स्त्रीके त्याग करनेसे ही समस्त संसारका परित्याग हो जाता है। वह मनुष्य स्वतन्त्र और सुखी हो जाता है। काममत्त पुरुषोंको ही स्त्री नचाती है। काम-रहित पुरुषोंको

एव नारीमुखं सुधाकुम्भमिव शरत्सुधांशुकिरणमिव वा मानिनीचरणसेवनं परमपुरुषार्थत्वेन च पश्यति । अहो ! कामदुर्विलासः ।

अथ च ललनाचित्तमतिलोलं न कस्मिंश्चिदपि पुरुषेऽव्यभिचारितया रममाणं दृश्यते । त्वं तु मूर्खशिखामणिः "इयं मम प्रिया मय्येव प्रेम कुरुते, करिष्यते च नान्यत्रे" त्यभिमन्यसे ।

नहीं नचाती है । अमृतके घड़ेकी तरह और शरत् समयके चन्द्रमाकी किरणकी तरह स्त्रीके मुखको और उसके पाद-सेवनको कामी पुरुष ही परम पुरुषार्थ समझता है । आश्चर्य-जनक कामका बुरा असर होता है। स्त्रीका चित्त अत्यन्त चंचल होता है । उसका चित्त किसी पुरुषमें स्थायीरूपसे रमण नहीं करता है । तुम मूर्खराज हो, क्योंकि यह मेरी प्रिया मुझ से ही प्रेम करती है और भविष्यमें भी मुझसे ही करेगी, अन्य किसीसे नहीं, यह मान बैठे हो ।

"नस्त्रियामप्रियः कश्चित् प्रियोवाऽपि
विद्यते।"

इति हि मुनयो महान्तो गायन्ति।

स्त्रीजनेन वञ्चिताः प्राचीनाः पुरूरवः
प्रमुखा अर्वाचीना भर्तृहरिप्रभृतयश्च बहवो
महन्नैराश्यमनुतापञ्चोपगता इतिचेतिहास
प्रसिद्धम्। ततस्तस्मिन् विस्रम्भं कदापि मा
कार्षीः। न केवलं कामिनीपुत्रादयो बन्धु

"स्त्रियोंके लिये कोई भी पुरुष अप्रिय नहीं
और प्रिय भी कोई पुरुष नहीं है"। यह महात्म
ऋषियोंने कहा है।

स्त्री से ठगे गये पुरूरवा प्रभृति प्राचीन राजाग
और उनकी अपेक्षा नवीन भर्तृहरि आदि अनेक
राजाओंने भारी निराशा और पश्चात्ताप प्रा
किया है यह इतिहासमें प्रसिद्ध है। इस लिये स्त्री
विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। जब तक तु

वर्गश्च यावत् त्वं स्वरूपवान् गुणवानैश्वर्यवांश्च भवसि, तावत् त्वयि स्वप्रयोजनाय महत्प्रेम प्रकटयन्ति। स्वप्रयोजनाभावे तु मृतशरीरादिव त्वत्तस्ते सर्वे बिभ्यति। त्वां स्प्रष्टुमपि ते नेच्छन्ति। तव निकटेऽपि ते नाऽगच्छन्ति। पुत्रः पुत्री च भ्राता भगिनी च बन्धुर्मित्रादिश्च सर्वः स्वार्थरतः। स्वार्थ-

---

रूपवान्, गुणवान्, ऐश्वर्यशाली रहते हो तभी तक स्त्री-पुत्र आदि और बन्धु-बान्धव गण अपने स्वार्थ-सिद्धिके लिये तुम्हारे साथ बहुत ज्यादा प्रेम दिखाते हैं और स्वार्थ-सिद्धि नहीं होने पर तुमसे वे लोग डरने लग जाते हैं। जैसे मुर्देके पास जानेसे डरते हैं। तुझे छूने तक की भी इच्छा नहीं करते हैं। तुम्हारे पास भी वे नहीं आते हैं। पुत्र और पुत्री, भ्राता और बहन बन्धु और मित्र आदि सब स्वार्थमें रत रहते हैं।

भंग तु न पुत्रः पुत्रः न पुत्री पुत्री च न भ्राता भ्राता च न भगिनी भगिनी च न बान्धवा-द्विर्बान्धवादिश्च भवति । अहो ! स्वार्थवैभ-वविजृम्भणम् ।

तदुक्तम्:—

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारोरक्तः
पश्चाद्धावतिजर्जरदेहेवार्तांपृच्छतिकोपिनगेहे।

"चर्पटपञ्जरिका"

स्वार्थ-भंग होने पर पुत्र भी पुत्र नहीं होता है, पुत्री भी पुत्री नहीं होती है। भाई भी भाई नहीं होता है, बहन भी बहन नहीं होती है, बन्धुवर्ग भी बन्धुवर्ग नहीं होते हैं। स्वार्थका आश्चर्य प्रभाव है। जैसा कहा है—

जब तक धन-उपार्जन करनेकी शक्ति रहती तब तक अपना परिवार-वर्ग प्रेम करता है और पीछे वृद्ध शरीर होने पर घरमें कोई 'क्या हालत है' यह भी नहीं पूछता है ॥ १ ॥

"चर्पटपञ्जरिका"

तादृशे नारीजने, पुत्रपौत्रादिषु, बन्धुवर्गे चातिमात्रमनुरक्तः सन् तेषां क्षणमात्रवियोगमप्यसहमानो वर्तसे त्वम्। अहो! महदिदमाश्चर्यम्। तव मोहमाहात्म्याय भूयोभूयो नमस्कारः।

अथ चासुरी दैवीचेति नारी द्विविधा वर्तते। तत्रासुर्यैवोक्तरीत्या पुरुषस्य सर्वानर्थहेतुरिति विद्धि। दैवी तु पुरुषस्य मोक्षहेतुः,

ऐसे स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि बन्धुवर्गके प्रेममें सर्वथा मग्न हो कर क्षण मात्र भी उनका वियोग नहीं सहन करते हो, यह बड़ा आश्चर्य है। तुम्हारे मोहकी महिमाको बार-बार नमस्कार है।

आसुरी और दैवी दो प्रकारकी स्त्री होती है, जिसमें आसुरी स्त्री पुरुषके लिये समस्त अनर्थका कारण है यह पूर्व कथित रीति से जानो। दैवी स्त्री पुरुषकी मुक्तिका कारण बनती है

यथारुन्धतीचूडालाप्रभृतयो वसिष्ठशिखि
जप्रभृतीनाम् । तादृश्योदिव्यगुणसम्पन्न
नार्यो न केवलं न पुरुषानर्थहेतुः किन्तु सर्व
लोकपावनाः सर्वलोकवन्द्याश्चेति जानीहि
तादृशेभ्यो नारीजनेभ्यः शतशः प्रणामा
कुरु। न ते कथमपि दूषणार्हाः किन्तु सर्वथ
श्लाघनार्हा इति बुद्धयस्व। प्राक्कथितं सर्वमा

जैसे अरुन्धती वसिष्ठकी और चूड़ाला शिखिध्व
राजाकी मुक्तिका कारण बनी है, वैसे अन्य
दिव्य गुणोंसे सम्पन्न स्त्रियां पुरुषोंको अनर्थ
बचाती हैं यही नहीं, किन्तु वे समस्त लोगों
पवित्र करती हैं और सर्व-लोक-पूजित हो
हैं यह जानो। वैसी स्त्रियोंको सैकड़ों बार प्रणा
करो। वे स्त्रियां किसी प्रकारसे भी दूषणीय न
हैं, किन्तु प्रशंसनीय हैं यह जानो।

पूर्वमें जो स्त्रियोंका दोष वर्णन किया ग

नारीदूषणमासुर्यां न दैव्या इति सुष्ठु विद्धि।
अथान्यच्च शृणु भो भ्रातः! पुत्रादयः पित्रादीनां न कथमपि सुखहेतवो दृष्टाः। सर्वथा दुःखहेतवो दृष्टाः।
स्वस्याजन्मना जन्मना च पुत्रः पितरमनवरतमुद्वेजयति। ननु यत्किञ्चिद्वस्तु स्वस्याजन्ममात्रेणान्यस्य कस्यचित् क्लेशहेतुः कथं स्या-

---

है वह आसुरी स्त्रियोंका है, दैवी स्त्रियोंका नहीं, यह जानो।

हे भ्रातः! और भी सुनो। पुत्र प्रभृति पिता आदिके कभी सुखके कारण नहीं देखे गये हैं किन्तु सर्वथा दुःखके कारण देखे गए हैं। पुत्रके नहीं जन्म होने और जन्म होने पर भी पिताको सदाके लिये दुःख उपस्थित हो जाता है।

यदि कहो कि कोई भी वस्तु अपनी उत्पत्ति से पहले ही किसीको कैसे दुःख उपस्थित कर

दिति चेच्छ्रूयताम् । "हन्त ! हन्त ! एता-
वन्तः संवत्सरा अतीताः, न मे पुत्रमुखदर्शन-
सौख्यं सञ्जातमद्यावधि, हन्त ! हन्त ! हत-
भाग्योऽहं मम जीवितेन किं प्रयोजनं
मित्यादिभिर्बहुवचनैः पुत्रस्याजन्मना पुरु-
आत्मानं भर्त्सयन् विलपंश्च दृश्यते। अथ पुत्र-
स्वजन्मनाऽपि पितरं दुःखयत्येव। बाल्ये
रोगाद्यनर्थैरध्ययनवैमुख्यादिभिश्च यौवने च

सकती है तो सुनो। पुत्रके नहीं जन्म होनेसे
लोग अनेक प्रकारसे आत्मग्लानि और विला-
इस प्रकार करते देखे जाते हैं—हा ? महान् दुःख है
कि मेरे इतने वर्ष बीत गए, आज तक मुझे पुत्र-
के मुख देखनेका सुख नहीं मिला। हा ? मैं बड़ा ही
अभागा हूं। मेरे जीनेसे क्या प्रयोजन है इत्यादि
और पुत्रके जन्म होने पर पिताको दुःख ही बराबर
होता रहता है क्योंकि पुत्रकी बाल्य-अवस्थामें अनेक

परदारगमनादिभिर्दुश्चेष्टितैरकालमरणादि-भिश्च दुःखजनको जनकस्य पुत्रो दृष्टः। तस्मात्पुत्रादयः पितुः सुखकारणमिति बुद्धि-रहो! भ्रान्तिमात्रम्। इमां भ्रान्तिं निवर्तय। विचारपरो भव। पुत्रादिषु कलत्रे च बन्धु-बान्धवेषु चाऽसक्तो मा भूः। तेषु सर्वेषु वैराग्यमावह। वैराग्यजनितं महत्सुखमनुभव।

प्रकारके रोग आदिसे और उनके लिखाने-पढ़ानेके भार रहनेसे, युवा अवस्थामें पर-स्त्री आदिके कुसङ्गसे उनके चरित्र भ्रष्ट होने और अकाल मृत्यु आदि होनेसे पिताके लिए पुत्र सदैव दुःख-प्रद ही होता है अतः पुत्र आदिको सुख-प्रद समझना भ्रम है। उस भ्रमको हटाओ। बिचार करो। पुत्र आदिमें, स्त्रीमें, और बन्धु-बान्धवमें आसक्त मत होओ। उन सबसे वैराग्य धारण करो। अरे मन! स्त्रीमें पुत्र आदिसे जैसे वैराग्य

रे चित्त! यथा स्त्रीसुतादिषु तथाऽस्मिन् शरीरेऽपि विगतरागं भव। अस्मिन् कलेवरे किं शोभनं पश्यसि त्वम्। मांसास्थिसञ्चितमाधिव्याधिमन्दिरमिदं शोभनंचेदशोभनं किमस्ति वस्तुलोके। अशोभनानामप्यशोभनमिदं देहमिति जानीहि। एवं ज्ञात्वा तत्रासक्तिं परित्यज। यथोक्तमस्मद्गुरुभिर्दयालुभिः श्रीसौम्यकाशीशस्तोत्रे—

धारण करना है वैसे इस देहसे भी वैराग्य धारण कर लो। इस देहमें तुम क्या मनोहरता देखते हो। मांस हड्डियोंके पुञ्जरूप, आधि-व्याधिका घर यह शरीर यदि मनोहर कहलावे तो संसारमें बुरा पदार्थ क्या कहलावेगा। खराबसे खराब पदार्थ यह शरीर ही है यह जानो और ऐसा जान कर उससे आसक्ति छोड़ो। जैसे हमारे दयालु गुरु महाराजने "श्रीसौम्य काशीशस्तोत्र" में कहा है:—

"मैथुनोत्थमतिमात्रकच्चरं
चात्रमूत्रकुहराद्विनिर्गतम् ।
गात्रमेतदसृगास्थिसञ्चितं
तत्र किं कुरु रतिं त्रिलोचने ॥१॥"

अतिमात्रकुत्सितेऽप्यस्मिन्देहे देही महाविचक्षणोऽपि निसर्गतः प्रीतिमान् वर्तते । अहो ! अशुचौ शुचित्वसम्पादिकाया अविद्याया विलासकौशलम् ।

"स्त्री, पुरुषके मैथुन से यह शरीर उत्पन्न होता है । यह अत्यन्त अपवित्र है । मूत्रके द्वार (योनि) से यह निकलता है । शोणित, हड्डी का पुंज है ऐसे निन्दनीय शरीरमें क्या प्रेम करते हो, शङ्करजी में प्रेम करो ॥१॥"

इस शरीरके अत्यन्त निन्दनीय होनेपर महाबुद्धिमान् जीव भी इस शरीरमें जो नैसर्गिक प्रेम करता है यह अपवित्रको पवित्र जतानेवाली अविद्याका आश्चर्य प्रभाव है ।

देहगर्हापरमिदं शृणु श्रीकृष्णवचनम्—

"मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जाऽस्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपिसः॥"

इति "विष्णुपुराणम्"

"स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥"

इति "पद्मपुराणम्"

श्री व्यासजीने देहकी निन्दा विष्णुपुराण में इस प्रकार की है–

मांस, रक्त, (खून) पीव, विष्ठा, मूत्र, स्नायु, मज्जा और हड्डीका पुञ्जमय जो यह देह है ऐसे देहमें जिस मूढ़का प्रेम होता है, उसका नरकमें भी प्रेम होगा।"

"अपने देहकी बद्बूसे जिसे वैराग्य नहीं होता है उसे और किससे वैराग्य होगा॥"

(पद्मपुराण)

न केवलं विरामूत्रपात्रत्वादेवेदं गर्हास्पदं, किन्तु क्षणभंगुरत्वादपि । नलिनीदलगतं सलिलमिवात्यन्ततरलं जीवितम् ।

तदुक्तम्—

"चलपत्रान्तलग्नाम्बुबिन्दुवत्क्षणभंगुरम् ।
आयुस्त्यजत्यवेलायां कस्तत्र प्रत्ययस्तव ॥"

इति "अ० रा०"

यह शरीर विष्ठा और मूत्र के भाण्ड होनेसे ही निन्दनीय है इतना ही नहीं, किन्तु क्षणभङ्गुर होनेसे भी निन्दनीय है । कमलके पत्ते पर के जल की तरह यह जीवन अत्यन्त चञ्चल है । जैसा कहा है—

"हिलते हुए पत्ते के अग्रभागमें संलग्न जल-बिन्दुकी तरह क्षणमें ही विनाश होनेवाली यह आयु असमयमें ही छोड़ बैठती है ऐसे जीवनमें तुम्हारा क्या विश्वास है ॥" "अ० रा०"

कदा इदं पतिष्यतीति कोऽपि न जानाति। कायो न कस्याऽपि सुस्थायी दृष्टः सर्वे ब्रह्मादयः शैलसमुद्रादयश्च ये चेतनाचेतनेषु विशिष्टतमास्तेऽपिकालवशतां गच्छन्ति कालः सर्वं निगिरति। आयुः सर्वेषां जनिमतामामघटाम्बुवत् प्रतिक्षणं क्षरति। तः पुरत एव प्रतिदिनमनेकानि भूतानि सूर्य

कब इस देहका पतन हो जायगा यह कौन जानता है। शरीर किसीका भी स्थायी नहीं देखा गया है। चेतनमें सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मा आदि हैं और अचेतन में सर्व-श्रेष्ठ समुद्र आदि हैं वे सब भी कालके वशीभूत हो जाते हैं। काल सब को निगल जाता है जैसे कच्चे घड़ेसे पानी प्रति क्षण चूता रहता है वैसे ही उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रकी आयु प्रति-क्षण क्षीण होती रहती है। सूर्य-किरणके ताप लगनेसे जैसे हिम-पु

क्रिरणतापसम्पर्केण हिममालेव विलयमुपगच्छन्ति दृश्यन्ते त्वया। तथाऽपि त्वं कालवेगं न पश्यसि, आत्मानमहो! सुस्थिरं मन्यसे।

सत्यमुक्तं मुनिचरणैः—

"अहन्यहनि भूतानि प्रविशन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"

इति "महाभारतम्"

(ओस) बिलीन हो जाते हैं वैसे ही प्रति दिन अनेकानेक प्राणी तुम्हारे सामने ही बिलीन हो जाते हैं। तुम उन्हें देखते हो तो भी तुम कालके वेगको नहीं देखते हो, अपनेको स्थायी मानते हो। यह आश्चर्य है, महर्षियोंने ठीक ही कहा है--

"दिन प्रति दिन प्राणी मात्र यमपुरीमें जा रहे हैं सबके यह प्रत्यक्ष है, तो भी बचे हुए लोग यहां स्थायीरूपसे रहना चाहते हैं इससे बढ़ कर और क्या आश्चर्य होगा॥" "महाभारत"

अस्य कायस्य क्षणिकतां मत्वा, तत्र स्थिरताभिमानमुत्सृज। स्थिरताभिमानं महानर्थनिदानं जानीहि। तत्र सत्यत्वभ्रान्तिमपाकुरु। शैला अपि विशीर्यन्ते। धराऽपि वैधुर्यं याति। समुद्रा अपि शुष्यन्ति। तारका अपि शीर्यन्ते। सिद्धा अपि विनश्यन्ति। दानवा अपि दीर्यंते। ध्रुवोऽप्यध्रुवं जीवति।

इस शरीरकी क्षणभंगुरता को समझ कर उसके स्थायी होनेके अभिमानको छोड़ो। स्थायी होनेका जो अभिमान है वह महान् अनर्थका निदान (मूल कारण) है यह जानो। उसमें जो सत्यता का भ्रम है उसे दूर करो। पर्वत विलीन हो जाते हैं। पृथ्वी भी विलीन हो जाती है। समुद्र भी सुख जाते हैं। तारे भी नष्ट हो जाते हैं। सिद्ध गण भी प्रनष्ट हो जाते हैं। दानव भी विनष्ट हो जाते हैं। ध्रुव भी गायब हो जाते हैं। अमरगण

अमरा अपि म्रियन्ते । शक्रोप्याक्रम्यते वक्रैः । यमोऽपि नियम्यते । वायुरप्यवायुत्वमेति । सोमोऽपि व्योमतां याति । मार्त्तण्डोऽपि खण्डतामेति । अग्निरपि भग्नतामेति । परमेष्ठ्यपि नाशवान् भवति । अजो हरिरपि ह्रियते । भवोऽप्यभावमायाति । कालोऽपि सङ्काल्यते । नियतिश्चापि नीयते । अनन्तं

(देवगण) भी मृत्युको प्राप्त करते हैं। दुष्टोंके द्वारा इन्द्रका भी आक्रमण हो जाता है। यमराज भी शासित हो जाते हैं। वायु भी शक्ति-शून्य हो जाती है। चन्द्रमा भी शून्यभावको प्राप्त करते हैं। सूर्यका मण्डल भी खण्डित हो जाता है। अग्निदेव भी विलीन हो जाते हैं। ब्रह्माका भी विनाश हो जाता है। परमात्मा और विष्णु भी चले जाते हैं। शिव भी गायब हो जाते हैं। काल भी नहीं रहता है। भाग्य चक्र भी प्रनष्ट

खमप्यालीयते। स त्रिषु लोकेषु नास्ति योऽस्मिन्संसारे न बाध्यते। देवा दिवि, नरा भुवि, पाताले भोगिनश्चैते सर्वे जर्जरां दशां नीयन्ते। इति महाशक्तिसम्पन्ना महान्तो दिव्या अपि पदार्थाः कालवडवानलपातिन इति सर्वेषां कालग्रस्तता बहुवर्णिता भगवता वशिष्ठेन। तथाचेदहो ! अस्य शरीरस

होजाता है। अनन्त आकाश भी विलीन हो जाता है। त्रिलोकीमें ऐसा कोई भी नहीं है जो संसारमें नाशवान् न हो। स्वर्गलोकमें देवगण, मर्त्यलोकमें मनुष्यगण, पाताललोकमें सर्पगण, ये सबके सब दीन-हीन दशाको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार महान् शक्तिशाली जो बड़े २ अलौकिक पदार्थ हैं वे भी कालरूपी बड़वाग्निमें पड़ जाते हैं। सर्व प्राणियोंकी जो कालकी यह अधीनता है उसका वर्णन भगवान् वसिष्ठने अनेक प्रकारसे किया है। इस प्रकार विवेक करनेसे हो इस शरीरका

केैवास्था। उक्तं च—

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः
संयोगाविप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥"

इति "बृहदा० वार्तिकम्"

तथाचेदस्य स्थूलभूतानिचयरूपस्य सप्त-

कुछ भी भरोसा नहीं ज्ञात होता है। जैसा कहा गया है—

"जितने सञ्चय किये जाते हैं, सब परिणाममें विनाशशील हैं और जितनी उन्नति हैं सब परिणाममें विनश्वर हैं। संयोगके अन्तमें वियोग होना तथा जीवनके अन्तमें मरण होना निश्चित ही है॥ १॥"

"बृहदा० वार्तिक"

ऐसे प्राकृतिक अटल नियम रहनेके कारण मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से रचित, स्थूल भूतोंका पुञ्जस्वरूप जो यह देह है उसमें क्या

धातुकस्य देहस्य कैवास्था । एवं विवि-च्याऽस्मिन्नसारे करिकलभकर्णवच्चञ्चलतरे पुरीषपात्रे रतिं विहाय हरिपरायणो भव। सर्वेषु कनककान्तादिषु विषयेषु कलेवरे च विगततृष्णो भूत्वा निश्चिन्तो हरिं सततं चिन्तय। विषयमृगतृष्णिकापानार्थं तामनु-धावतः पुरुषस्य हरिस्मरणकथा कथं स्यात्!

विश्वास है। इस प्रकार बिचार करके हाथीके बच्चेके कर्ण की तरह चञ्चल, सार-रहित और विष्ठाके भाजन इस शरीरके प्रेमको छोड़ कर भगवानके आश्रय हो जाओ।

जितने कनक (सुवर्ण) कान्ता (स्त्री) आदि विषय हैं उनसे और शरीरसे भी तृष्णा-रहित हो कर निश्चिन्तभावसे भगवानका सदा चिन्तन करो। विषयरूपी मृग-तृष्णा पान करनेके लिये उसके पीछे दौड़नेवाले मनुष्य हरि-स्मरण

भोग्यत्यागेनाप्रकम्पो भूत्वा हरिचरणाम्बुजं भज। वैराग्यसुधासौधमधिरुह्य प्रोषितभर्तृका कान्तेव भर्तारं भगवन्तं ध्याय दिदृक्षस्व च।

अथ विद्यासौन्दर्यसत्कुलतादिष्वप्यापातरमणीयेषु रम्यताबुद्धिं त्यज। तन्निमित्तकं गर्वमाकार्षीः। अल्पज्ञ एवाखर्वगर्वगजारूढः

की कथा कैसे कर सकते हैं। भोग्य पदार्थों का त्याग करके हरिके चरण-कमलका भजन करो। जैसे विदेश-स्थितपतिवाली स्त्री अपने पतिका ध्यान और अनुचिन्तन करती है उसी प्रकार वैराग्यरूपी अमृतके महल पर चढ़ कर भगवान के ध्यान और दर्शन की इच्छा करो।

विद्या, सौन्दर्य, उच्च कुल आदि जो नैसर्गिक मनोहर विषय हैं उन सबसे प्रेमभाव हटा लो, और उसका अभिमान मत करो। अल्पज्ञ पुरुष ही महान् गर्वरूपी हस्ती पर चढ़ कर

पश्यन्नप्यपश्यन्निव विचेष्टते, नाधिकज्ञः तेष्वासक्तिरपि महतः क्लेशस्य बन्धस्य च कारणमिति विद्धि।

किञ्च वाङ्मनसोर्विग्लापनं विद्धि वाग्गुम्फानामधिकतरमध्ययनम्। वेद शास्त्रादिव्यसनमपि पुरुषं व्याकुलयति पुरुषं चञ्चलयति शोकगर्ते पातयाति च। तदुक्तं

देखते हुए भी नहीं देखनेकी तरह चेष्टा करता है किन्तु विवेकी पुरुष ऐसा नहीं करते हैं। उन विषयों में अनुराग करना भी महान् क्लेश और बन्धन का हेतु है यह जानो।

सदा पढ़ने के व्यसन-शील पुरुषोंका ज्यादा अध्ययन भी वाणी और मनका क्लेश-जनक ही होता है यह जानो क्योंकि वेद शास्त्र आदिका व्यसन भी पुरुषको व्याकुल तथा चञ्चल कर देता है और शोकके गड्ढे में गिरा देता है। यतिवर विद्यारण्य-

श्रीविद्यारण्यमुनिवरेण्यैः—

"वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥"

"इति पञ्चदशी"

मलिना चेयं शास्त्रवासना पाठबहु-
शास्त्राध्ययनानुष्ठानव्यसनैस्त्रिधा वर्तत इति

स्वामीने जैसा कहा है—

वेदके अभ्यास करनेके पहले केवल आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापत्रय से शोक उत्पन्न होता है और वेद शास्त्रके अभ्यास करने पर तो वेदके अभ्यास, विस्मृति, पराजय और उसके गर्व से शोक उत्पन्न होता है॥"

"पञ्चदशी"

यह शास्त्र-वासना शुद्ध और मलिनके भेद से दो प्रकारकी होती है। उनमें मलिन जो शास्त्र-वासना है वह भी तीन प्रकारकी होती है।

तैरेव विस्तरेण सदृष्टान्तमुपपादितमन्यत्र।

दुःखदोषानुदर्शनेन निरर्थकपदपदार्थस्मरणादिरसिकतां निरस्य हरिचरणस्मरणमधुमत्तो भव।

बिना अर्थ समझके पठन-मात्रका जो व्यसन है वह पाठ-व्यसन है। अर्थ समझ कर जो शास्त्र-पठन का व्यसन है वह शास्त्र-व्यसन है। शास्त्रमें कथित कर्म-कलापके अनुष्ठान करनेका जो व्यसन है वह अनुष्ठान-व्यसन है। इन त्रिविध व्यसनोंके भेदसे तीन प्रकारकी जो मलिन शास्त्र-वासना है उसका अन्य शास्त्रोंमें विद्यारण्यस्वामीने दृष्टान्त देकर सविस्तर वर्णन किया है।

उक्त मलिन शास्त्र–वासना में दुःखरूपी दोषोंको देख कर पद-पदार्थके विवेचन करनेका जो व्यर्थ प्रयास है उससे प्रेम हटा कर भगवान के चरण के स्मरणरूपी नशा पी कर मत्त हो जाओ।

अभिजनाभिमानमपि मा कार्षीः। ब्राह्मण्याद्यभिमानोऽपि मदहेतुर्बन्धहेतुर्दुःख-हेतुश्चेति विजानीहि। पूजाप्रतिष्ठारूपे महा-जालकेऽपि मा पत। मानस्तुतिप्रतिष्ठानां लिप्सा न कदापि कर्तव्या। स्वयं प्राप्तावपि श्रेयोविघातकत्वात् तत्रोपेक्षा कार्या।

तदुक्तम्—

अपने कुलका भी अभिमान मत करो। ब्राह्मण आदि जातिका जो अभिमान है वह भी मद और बन्धन का हेतु है यह जानो। पूजा (सत्कार) और प्रतिष्ठा (बड़ाई) रूपी महाजालमें भी मत फंसो। आदर, स्तुति और प्रतिष्ठाकी अभिलाषा कभी मत करो। बिना प्रयासके उपस्थित होने पर भी उनकी उपेक्षा करो क्योंकि वे कल्याण के मार्ग में बाधक हैं। जैसा कहा है—

"अभिमानः सुरापानं गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥"
इति

एवं सर्वेषु विषयेषु मायामयेषु मूढजनमनोरञ्जकेषु रागं त्यक्त्वा सुखी भव। सर्वेषामपि भयक्रोधलोभादीनां दोषाणामेकं बीजं राग इति विद्धि। ततश्च रागत्यागेन सर्व

"संमानको मद्यपान की तरह समझो। बड़प्पनको रौरव नरक की तरह भयानक समझो। प्रतिष्ठा को सूअर की विष्ठा की तरह समझो। इन तीनोंको छोड़ कर मनुष्य सुखी हो जाता है॥"

इस प्रकार विवेचन करके मूढ़ जनके मनोरञ्जक समस्त मायामय विषयों से राग हटा कर सुखी हो जाओ। भय, क्रोध, लोभ आदि समस्त दोषोंका बीज राग है यह जानो। इस लिये राग (विषय-आसक्ति) को छोड़नेसे ही उक्त समस्त

दोषाः सन्त्यक्ताः स्युः। प्रसादाविरोधिनां रागादिदोषाणां हाने तु त्वं सुप्रसन्नो गङ्गा-सलिलवन्निर्मलो भविष्यसि। आशादास्यं दूरतः परित्यज। उक्तं हि :—

"आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥"

इति 'बृहन्नारदपुराणम्'

दोष परित्यक्त हो जाते हैं। शान्ति-सुखके विरोधी राग आदिके विनाश होनेसे तुम सुप्रसन्न और गंगाजलके समान पवित्र हो जाओगे। आशाकी दासता को दूरसे ही त्यागो। जैसा कहा गया है–

"आशाके जो दास हैं वे सबके दास हैं और जिन्होंने आशा को ही अपना दास बना लिया है। अर्थात् आशा को छोड़ दिया है, सब लोग उनके दास बन जाते हैं॥"

"बृहन्नारदपुराण"

ननु विषयसेविनो विषयसेवातृष्णयाऽपि विषयभोगद्वारा वैषयिकं सुखमुपलभन्त एवेतिचेदिदं शृणु भाष्यकारवचनम् :—

"इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिर्या तत् सुखम्, न विषयविषया तृष्णा, दुःखमेव हि सा। न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यते ॥" इति

"गीताभाष्यम्"

यदि कहो कि विषयी पुरुषों को भी विषय-तृष्णा रहने से विषय का सुख तो प्राप्त होता ही है तो इसके समाधान में भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य के कथन को सुनो—

"इन्द्रियों की विषय-तृष्णा से जो निवृत्ति है वही सुख है, विषय की जो तृष्णा है वह सुख नहीं है, किन्तु दुःख ही है। तृष्णा के रहने पर सुख का लव-लेश नहीं रहता है। "गीताभाष्य"

"आशा तु परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।" इतिभाष्यकारवचनतात्पर्यम्। तथापि—"अहो चित्त! कथं भ्रान्तं प्रधावसि पिशाचवत्।"

अज्ञानेन विपत्समूहगर्भितेषु शब्दादिषु विषयेषु तृष्णया कुरङ्गादिवत्पञ्चत्वं मा गमः। तदुक्तम्—

'शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च,

आशा (कामना) परम दुःख है और निराशा परम सुख है यही भाष्यकार के कथन का तात्पर्य है। तो भी—"रे चित्त! तुम पिशाच की तरह क्यों दौड़ते हो।" समस्त विपत्तियों के अन्तस्तल वाले शब्द आदि विषयों में अज्ञान से तृष्णा करके हिरन आदिकी तरह मृत्यु को मत प्राप्त होओ। वैसा कहा गया है—

"शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये जो पांच

पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन—
भृङ्गा, नरः पञ्चभिराञ्चितः किम् ॥१॥"
"विवेकचूडामणिः"

रे चेतः ! त्वं तु विवेकाधिकारि विवेकं कुरु। उपभोगेन कामानां कामस्य शान्तिर्न कदापि भवति। सहस्रपरिमितान् वत्सरान्

विषय हैं उनमें क्रम से एक-एक विषय में लालच रहने के हेतु हिरन, हाथी, पतङ्ग, मछली, भ्रमर इन पांचोंकी मृत्यु होजाती है और मनुष्य की तो उक्त पांचों विषयों में लालच बनी रहती है फिर मनुष्य की क्या कथा कही जा सकती है ॥ १ ॥"

"विवेकचूड़ामणि"

रे मन ! तुझे तो विवेक करने का अधिकार है। विवेक करो। कामनाओं के उपभोग करने से काम की शान्ति कभी नहीं होती है। हजारों वर्ष-

कामानुपभुज्याऽपि ययातिर्न तृप्तिमगमत्।
"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

"भागवतम्"

इति हि ययातेर्वचनम्।

तस्माद्विवेकेन कामं त्यज। तृप्तिं भज।

तक कामनाओं के उपभोग करके भी 'ययाति' नाम के राजा को तृप्ति नहीं मिली।

"जिस प्रकार घृत की आहुति डालने से अग्नि बुझती नहीं है किन्तु और अधिक प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार कामनाओं के उपभोग से काम शान्त नहीं होता है किन्तु और अधिक बढ़ जाता है॥" "भागवत"

यह ययाति राजा का कथन है। इस लिये विवेक के द्वारा काम को छोड़ो। सन्तोष धारण

उपभोगेन कामस्तव वर्धिष्यते । विवेक-सामर्थ्यादेव त्वमैहिकमामुष्मिकञ्च विषयजातं हिरण्यगर्भपदपर्यन्तं सर्वं काकविष्ठावन्मनसा सन्त्यज्य निर्वृत्तो भव ।

ननु मनुजशरीरं तत्सम्बन्धि स्त्रीसुतादि च दुःखहेतुत्वेन त्याज्यमपि, देवादि-शरीरमतिपुण्यकर्मफलभूतं कथं दुःखहेतुः

करो । उपभोग करने से अभिलाषाएं और बढ़ेंगी। विवेक के प्राबल्य से ही इस लोक और परलोक के जो ब्रह्मलोक तक विषय-पुञ्ज हैं उन सब को काक-विष्ठा की तरह छोड़ कर निवृत्त हो जाओ।

मनुष्य-शरीर और उनके सम्बन्धी जो स्त्री, पुत्र आदि हैं वे सब दुःख के हेतु हैं अतः वे परि-त्याज्य हैं किन्तु देवता आदि के शरीर जो अत्यन्त पुण्य कर्म के फल रूप हैं वे कैसे दुःख के हेतु कहे

कथञ्च त्याज्यमिति मा शङ्किष्ठाः । पुण्यकर्म तत्फलभूतञ्च देवादिदेहं न सुखहेतुर्भवति कथमपि । सुखहेतुरित्येतद्भ्रान्तिमात्रम् । पुण्यसमूहपरिपाकेन स्वर्गलोके निवसतां सुराणामपि न दुःखविमोचनम् । तेषामपि तत्र दुःखमेव सातिशयत्वात्, रागद्वेषशोक-

---

जा सकते हैं और कैसे उसका परित्याग किया जा सकता है इस प्रकार की शंका का उत्थान नहीं करना चाहिये, क्योंकि पुण्य कर्म और उनके फल-भूत जो देवता आदि के शरीर हैं वे किसी प्रकार से भी सुखके हेतु नहीं हैं, उन्हें सुख के हेतु समझना भ्रम है । पुण्य-पुञ्ज के परिपाक से स्वर्गलोक में निवास करने पर भी देवगण की दुःखों से विमुक्ति नहीं होती है । उन्हें भी वहां दुःख होता ही है क्योंकि वहां पर भी तारतम्य है और वहां के सुख भी राग, द्वेष, शोक, मोह, भय आदि

मोहभयादिदोषदूषितत्वाच्च। तेषां तत्राधिकतरं सुखमपि विद्यत इतिचेन्न, तत्रत्यमपि सुखं मनुष्यलोकसुखवद्दुःखसम्मिश्रितत्वात् दुःखमेव विषसम्मिश्रितान्नवत्। तस्मात्पुण्यकर्म देवादिशरीरं वा नात्यन्तिकमुखसाधनमिति सुदृढं बोद्धव्यम्। ततश्चामरावत्या आधिपत्यं सत्यलोकस्य चाधिपत्यं

दोषों से दूषित हैं।

वहां पर उन्हें ज्यादा से ज्यादा सुख मिलता है यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मर्त्यलोक के सुख की तरह स्वर्ग के सुख भी दुःख से सम्मिलित रहने के कारण दुःख ही हैं। विष से सम्मिश्रित अन्न की तरह दुःख ही है इस लिये पुण्यकर्म या देव-शरीर मिलना ये सब भी सर्वथा दुःख के ही साधन हैं यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये। इस लिये स्वर्ग का राजा होना और

दुःखहेतुरिति श्रेयःपथविघातकमिति निश्चित्य तृणवत् परित्यज। सर्वं त्यक्त्वा त्यागाभिमानमपि त्यज। सर्वं त्यक्त्वा यदि वैराग्याभिमानोऽवशिष्यते, सर्वत्यागस्तर्हि न विशेषतः किमपि फलं तव सम्पादयिष्यति। "अहं विरक्तः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" इत्ययमभिमानोऽनार्यजुष्टः पिशाचवत् तव

मर्त्यलोक का राजा होना दोनों दुःख के हेतु हैं। वह कल्याण-मार्ग के विघातक हैं यह निश्चय करके तृणकी तरह उसे छोड़ दो और उन सबके परित्याग करने पर यदि उस त्याग का अभिमान भी अवशिष्ट रह जाय तो तुम्हारा सर्व-त्याग भी विशेष फल-जनक नहीं हो सकेगा।

"मैं विरक्त हूं, मेरे सदृश दूसरा कौन है" इस प्रकार का यह अभिमान आर्यजन से सेवित नहीं है, वह पिशाच की तरह तुम्हारे

निखिलमपि गुणजातमेकग्रासत आशु निगिरति। तस्माद्वैराग्यसम्पन्नोऽपि विनम्रो भव। वैराग्यसम्पन्मदमदिरां पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा मत्तोन्मत्तप्रमत्तदशां जुगुप्सितां मागाः। स्त्रीसुतधनादित्यागेऽपि तत्त्यागाभिमानस्य त्यागो न कर्तुं शक्यते त्यागिभिरित्यहो! चित्रं! चित्रं! मोहवैभववैचित्र्यम्।

निखिल गुणों को बहुत शीघ्र एक ही ग्रासमें निगल जायगा। अतः वैराग्य को प्राप्त करके भी विनीत बनो। वैराग्य के अभिमान रूपी नशाको बराबर पी कर मत्त, उन्मत्त तथा प्रमत्त अर्थात् क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़स्वरूप निन्दित अवस्था को मत प्राप्त करो।

स्त्री पुत्र धन आदि विषयों के परित्याग करने पर भी उनके त्याग का अभिमान त्यागियों का नहीं छूटता है यह कैसा विचित्र मोह का

अथाभिमानार्थं पूजाप्रतिष्ठार्थं वा पुत्रकलत्रादिकं विषयजातं ये परित्यजन्ति ते खलु तदनुरक्तेभ्यः प्राकृतेभ्योऽपि निकृष्टतरा इति बुद्ध्यस्व। विवेकवैराग्यभाक् त्वं दैवशरणः सन् चिन्ताविलापरहितो भव। भूतस्मृतिं दह। भाविचिन्तां जहि। भूतभावि-

---

प्रभाव है। जो कोई व्यक्ति अभिमान प्राप्त करने के लिये अथवा आदर और प्रतिष्ठा के लिये पुत्र, कलत्र आदि विषयों का परित्याग करते हैं वे तो विषय-आसक्त साधारण मनुष्यों से भी नीच हैं यह जानो। तुम विवेक और वैराग्य धारण करने की क्षमता रखते हो। प्रारब्ध का ख्याल करके चिन्ता और विकलता को छोड़ो। अतीत-स्मृति को दग्ध कर दो। भविष्य की चिन्ता का समुच्छेद कर दो।

चिन्ताभिस्त्वमात्मानं वृथा किमर्थं कद
यसि। यद्भूतं तद्भूतमेव यच्च भावि त
विष्यत्येव। तत्र का चिन्ता। यद्यदाग
तत्तदपेक्षस्व। यद्यद्गतं तत्तदुपेक्षस्व। त
खेदनं मोदनं वा मा कार्षीः सुखं मे भूयात्
दुःखं मे मा भूदिति चिन्तयात्मानं

भूत और भविष्य की चिन्ताओं से तु
अपनी आत्मा को व्यर्थ ही में क्यों दुःखित क
रहे हो? जो भूत (अतीत) है वह तो बीत
चुका है और जो होनेवाला है वह हो कर
रहेगा उस की क्या चिन्ता, जो उपस्थित होत
जाय उसका ग्रहण करते जाओ और बीते हु
को छोड़ते चलो। उसमें हर्ष, विषाद कुछ म
करो। मुझको सुख होता रहे, दुःख मुझे न
इस प्रकार की चिन्ता से अपने को दुःखित म

न्यथय। यथाप्रारब्धं सर्वं भवति भविष्यति च। यथाप्रारब्धमायुर्यातिगामिष्याति। भावि खराडनेन न खराड्यते। भावि मराडनेन न मराड्यते च। हरिणाऽपि हरेणाऽपि ललाटलिखिता लेखा परिमार्ष्टुं न शक्यते। अतो विधिर्बलवानिति निश्चिनु। अनुकूलं प्रतिकूलं वा विधिं विहन्तुं कः समर्थः। समृ-

---

करो। प्रारब्धके अनुसार सब कुछ होते रहते हैं और होते रहेंगे। प्रारब्ध-अनुसार आयु बीत जायगी। भावी पदार्थ (होनहार) टालने से नहीं टलता है और न तो रखने से रहता है। विष्णु और शिव भी ललाट में लिखित हिसाब को अर्थात् प्रारब्ध को नहीं हटा सकते हैं इसलिये विधि सर्वोपरि बलवान् है यह निश्चय जानो कौन विधि की अनुकूलता और प्रतिकूलता को हटाने की क्षमता रखता है। उन्नति अथवा

द्धिर्वा नाशो वा पुरुषस्य विधितन्त्र इति
समाधेहि ।

उक्तं हि :—

"अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥"

इति "पञ्चदशी"

"हा राम हा मे रघुवंशनाथ,

विनाश विधि (प्रारब्ध) के अधीन है यह मान
लो । कहा भी गया है—

"अनिवार्यरूपसे होनेवाले जो होनहार
(भावी) वस्तु हैं उनका यदि कुछ प्रतीकार
(हटनेका उपाय) होता तो नल, रामचन्द्र और
युधिष्ठिर कभी दुःखोंसे लिप्त नहीं होते ॥"

"पञ्चदशी"

दशरथजीका कथन है कि—"हा रामचन्द्र!
हा रघुवंशियोंके नाथ ! तुम सर्व-श्रेष्ठ परमात्मा

जातोऽसि मे त्वं परतः परात्मा।
तथाऽपि दुःखं न जहाति मां वै,
विधिर्बलीयानिति मे मनीषा ॥"
इति च "अ० रा०"

"रामे प्रव्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं, वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ॥ कारागारनिषेवणं च मरणं सञ्चित्य लङ्केश्वरे, सर्वः कालवशेन

मेरे पुत्र हुए तो भी दुःख मुझे नहीं छोड़ता है। इस लिये मेरी यही धारणा होती है कि विधि सर्वोपरि बलवान् है ॥" "अ० रा०"

"रामचन्द्रका वन गमन, बलिराजाका बन्धन, पाण्डवोंका बनवास, यादवोंका विनाश, राजा नलका राज्य से च्युत होना इन सब बातों को देखने से यही स्थिर होता है कि सब मनुष्य काल पा कर विनष्ट हो जाते हैं कौन किस को बचा

नश्यति नरः को वा परित्रायते ॥

इति च "भोजप्रबन्धः"

एवं समाधाय भूतभाविचिन्तां परित्यज्य वर्तमाने वर्तस्व। यथाकथञ्चित्कालं नय। अदृष्टेन यत्किञ्चिल्लभ्यते तत् खाद, चणकाः श्यामाकास्तण्डुलाः शाकाः पत्राणि वा।

यथोक्तं श्रीशङ्करभगवत्पूज्यपादैः—

सकता है ?" "भोज प्रबन्ध"

ऐसा विचार स्थिर करके भूत और भावी वस्तु की चिन्ता को छोड़ कर केवल वर्तमान वस्तु का ख्याल करो। जैसे तैसे काल काटो। जो कुछ प्रारब्धसे चना, चावल, शाक, पत्ते भोजन मिलें उन्हें खा लो। परम पूजनीय श्री शंकराचार्यने जैसा कहा है—

"क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां-
प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां
विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्॥"
इति "साधनपञ्चकम्"

न किञ्चिल्लभ्यते चेदुदकं पिब। यत्किञ्चिद्वस्त्रमात्रं जीर्णमशोभनं कच्चरं खण्डितं वा यदृच्छया लब्धं तेनैव शरीरमाच्छादय।

"क्षुधारूपी रोग की चिकित्सा भिक्षारूपी औषधके सेवन-द्वारा प्रतिदिन करो। स्वादिष्ट अन्न की याचना मत करो। जो विधि-वश (प्रारब्ध-अनुसार) प्राप्त हो उसीसे सन्तोष करो॥" "साधनपञ्चक"

यदि कुछ नहीं मिलता है तो जल मात्र पी कर रहो। जो कुछ फटा-पुराना ख़राब या मैला वस्त्र अनायास मिले उसीसे शरीर ढक लो अथवा

अथवा रथ्याचर्पटेन विरचितया कुकन्थया शीतबाधां बाधस्व । गद्धा वल्कलं दिग्वासो वा परिधेहि । अथचोटजः कुटीरो नदीपुलिनं श्मशानं वा वृक्षमूलं शून्यमन्दिरमारामो वा गुहा वा दैवेन यत्प्राप्तं तत्रैव कालं नय ।

उक्तं हि श्रीभर्तृहरिणाऽपि :—

"कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुन-

रास्ते पर पड़े हुए गूदड़ों को सी करके रचित कुत्सित गूदड़ से शीत-निवारण करो या वल्कल (भोजपत्र) पहनो अथवा नग्न ही रहो । पर्ण-गृह, कुटी, नदी-तट, श्मशान, बृक्ष-मूल, शून्यगृह, बगीचा अथवा कन्दरा जो कुछ भी देवाधीन प्राप्त हो उसीमें अपना काल बिताओ ।

श्री भर्तृहरि ने कहा भी है—

"सैकड़ों जगह फटे और जीर्णतम कौपीन

स्तादृशी । निश्चिन्तं सुखसाध्यभैद्यमशनं शय्या श्मशाने वने ।"

इति "वैराग्यशतकम्"

शोभनेनान्नेन वस्त्रेण निवासेन वाऽस्य कुणपस्यांराधनं मा कार्षीः। तदर्थं प्रयत्नवान्मा भूः। यदृच्छालाभसन्तुष्टो भव। शरीरनिर्वाहमेवं कुरु। गर्भे तव रक्षा येन

(पहनने का वस्त्र) और वैसी ही कन्था (ओढ़ने का वस्त्र) हो। बिना चिन्ता के अनायास मिलने वाली भिक्षा ही भोजन हो। श्मशान और वन जहां कहीं भी शय्या हो।" "वैराग्यशतक"

स्वादिष्ट अन्न से, सुन्दर वस्त्र से, उत्तम निवास से इस मुर्दा शरीर की आराधना मत करो। उसके लिये कुछ भी प्रयत्नशील मत बनो। अनायास जो कुछ प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहो। इसी प्रकार अपना शरीर-निर्वाह

कृता स परमात्मा इदानीमपि तव रक्षां करि-
ष्यति । यदा तव दन्ता नासन् तदा तव
हिताय यो दुग्धं मातुः स्तनयोररचयत्, यदा
तव दन्ता सञ्जातास्तदा त्वदर्थमन्नं यः प्राद-
दात्, यश्चेतनाचेतनेभ्यः सर्वेभ्योऽपि यद्यद-
पेक्षितं तत्तत् सर्वदा ददाति, स किं त्वामु-
पेक्षते । स एव तुभ्यमपि यद्यादिष्टं तत्तत्सर्वं

करो। जब तुम माता के गर्भ में थे उस समय
जिस परमात्मा ने तुम्हारी रक्षा की थी इस समय
भी वही तुम्हारी रक्षा करेंगे। जब तुम्हारे दांत
नहीं निकले थे तब तुम्हारे कल्याण के लिये जिस
परमात्मा ने माता के स्तन में दुग्ध का निर्माण
किया था और जब दांत निकले तब तुम्हें अन्न
प्रदान किया। जंगम-स्थावर सबके लिये जिस
वस्तु की जरूरत पड़ती है, उस २ वस्तु को जो सदा
पूरा करता है वह क्या तुम्हारी उपेक्षा करेगा? वही

मपि देयं दास्यति। किं वृथा हाहाकारेण विलपनेन। शरीरचिन्तां परित्यज्य भगवच्चरणशरणो भव।

"योगक्षेमं वहाम्यहम्"

इति हि भगवदुक्तिः।

आकर्ण्यतां वत्स! किञ्चिदन्यदपि। अहोरात्रगमनेनायुः क्षीयते। कालगते-

---

परमात्मा तुझे भी जिस २ वस्तु की अपेक्षा होगी उस सब को प्रदान करेगा। व्यर्थ हाहाकार कर के रोने से क्या होता है। शरीर की चिन्ता छोड़ कर भगवान के चरण की शरण लो। "भक्त का योग-क्षेम (शरीर-निर्वाह) मैं करता रहता हूं" यह भगवान का कथन है।

हे वत्स! और भी कुछ सुनो। दिन-रात के बीतने से आयु बीत रही है। बड़े शीघ्र वेग की

महतीं शीघ्रतां विचार्य त्वरस्व त्वम्। यदद्य-
कार्यं तदद्यैव कुरु। श्वः कर्तास्मीति मा वोचः।
विषयतृष्णासमुन्मूलनार्थं परिकरबन्धं कुर्याः।
विवेकेनेहलोकपरलोकतृष्णां छिन्धि। विवेक-
दार्ढ्येन वैराग्यं सम्पादय। विवेकदार्ढ्यं विना
न कदापि वैराग्योत्पत्तिः अनेकेषु दुर्घटविष-
मतीर्थेषु परिभ्रम्यताम्। तथा जटिलत्वमुरीक-

काल की गति को सोच कर तुम जल्दी करो।
जो आज करना है उसे आज ही करो। कल कर
लूंगा ऐसा मत कहो। विषयों की तृष्णा के परि-
त्याग का दृढ़ संकल्प कर लो। विवेक के द्वारा
इस लोक और परलोक की तृष्णा का उच्छेद कर
डालो। विवेककी दृढ़तासे वैराग्य सम्पादन करो।
विवेक की दृढ़ता हुए बिना कभी वैराग्य
नहीं हो सकता है। अनेक विषम और दुःसाध्य
तीर्थों में परिभ्रमण करो और जटा धारण करना

त्वादिवेषाः क्रियन्ताम् । काषायवासश्च धार्यताम् । भिक्षान्नमपि भुज्यताम् । तथाऽपि सुदृढं विवेकमन्तरेण न विषयवैतृष्ण्यमुत्पत्तुमर्हति । तस्माद्विवेकपरो भव । त्वं त्वचिरेण जीर्णो भविष्यसि । किन्तु तृष्णा विवेकमन्तरेण न कदाऽपि जीर्णा स्यात् ।

ननु विवेकदार्ढ्यं कथं सिद्ध्यति ? विष-

या समस्त मुण्डन करा लेना आदि जो महात्मा के वेष हैं उन्हें धारण करो । भगवा वस्त्र (गेरुआ-वस्त्र) धारण करो । भिक्षा से प्राप्त अन्न खाओ । तब भी दृढ़तर विवेक के बिना विषयों से वैराग्य नहीं हो सकता है । इस लिये विवेक करने में तत्पर हो जाओ । तुम तो शीघ्र ही जीर्ण हो जाओगे किन्तु तृष्णा विवेक के बिना जीर्ण कभी नहीं होती ।

यदि कहो कि विवेक की दृढ़ता कैसे हो ? क्योंकि विषय की रमणीयता का ज्ञान प्रबल

येषु रम्यत्वबुद्धिः सहजा बलवती च वर्तते तस्या निवृत्तिः कथं स्यादिति चेच्छृणु। पौनःपुन्येन दोषदर्शनात्मकं विचारं कुरु। भूयो भूयो विचारेण तस्य दार्ढ्यमवश्यं स्यादेव । विषयेषु रम्यता भ्रान्तिश्च ततो विनंक्ष्यति। तदर्थं पौरुषं कुरु। पुरुषार्थेन हि सर्वाणि कार्याणि सिद्ध्यन्ति। सुप्तस्य कण्ठीरवस्य मुखे मृगा न प्रविशन्ति। पुरु-

---

और नैसर्गिक रूप से भासित हो रहा है, उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है तो सुनो—विषयों में बार-बार दोष-दर्शन रूप विचार करो। बार-बार विचार करने से उसकी दृढ़ता अवश्य हो जायगी और तब विषयों की रमणीयता और भ्रान्ति विनष्ट हो जायगी। उसके लिये पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ के द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। सोते हुए सिंह के बच्चे के मुख

षार्थशून्या जना हन्त ! हन्त ! वृक्षपाषाण-सदृशाः कल्याणपथे चालितुं न कदाऽपि समर्था भवन्ति। तस्माद्व्यवसायी भव। शास्त्रानुमोदितं व्यवसायं कुरु सर्वदा।

तदुक्तम् :—

"सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन।
सम्यक् प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥१॥

में हिरन नहीं आ पड़ते हैं। बड़े खेद की बात है कि वृक्ष, पत्थर की तरह पुरुषार्थ-रहित मनुष्य कल्याण-मार्ग पर कभी नहीं चल सकते हैं इस लिये तुम पुरुषार्थी बनो। सदा शास्त्र-अनुकूल पुरुषार्थ करो। जैसा कहा गया है—

"हे राम ! इस संसार में अच्छी तरह पुरुषार्थ करने पर सबसे सब कुछ सदा प्राप्त किया जाता है ॥१॥"

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥२॥
संसारकुहरादस्मान्निर्गन्तव्यं स्वयं बलात्।
पौरुषं यत्नमाश्रित्य हरिणेवारिपञ्जरात्॥३॥
पौरुषेणान्नमाक्रम्य यथा दन्तेन चूर्ण्यते।

"शास्त्र-विरुद्ध और शास्त्रीय यह दो प्रकार के पुरुषार्थ कहे गये हैं, उनमें शास्त्र-विरुद्ध पुरुषार्थ करने से अनर्थ उत्पन्न होता है और शास्त्रीय पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है॥२॥"

"यत्न-पूर्वक पुरुषार्थ करके इस संसाररूपी गुफा से स्वयं साहस करके निकल जाना चाहिये, जैसे शत्रुओं के पिंजड़े से सिंह निकल जाता है॥३॥"

"जैसे दन्त पुरुषार्थ के द्वारा आक्रमण करके अन्न को चूर्ण-चूर्ण कर डालता है वैसे ही वीर

अन्यः पौरुषमाश्रित्य तथा शूरेण चूर्ण्यते॥४॥"

इति "वासिष्ठम्"

अपि च विविक्तदेशसेवी भव। जनसंसदि अरतिं कुरु। विविक्तदेशेषु च गङ्गासलिलसमीरणपवित्रितं हिमगिरिशिखरमुत्तमतमं, विद्धि। विविक्तदेशसेवनं तु वैराग्यमतिमात्रं विबर्द्धयति। तस्मादुत्तराखण्डागि-

---

पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा दूसरे को चूर्ण-चूर्ण कर डालता है॥४॥" "वासिष्ठ"

एकान्त देश का सेवन करो। मनुष्य की गोष्ठी में प्रेम मत करो। गङ्गाजल से सिक्त वायु से पवित्र हिमालय पर्वत की जो चोटी (शिखर) है, उसीको सबसे उत्तम एकान्त प्रदेश जानो। एकान्त प्रदेश के सेवन करने से प्रचुर मात्रा में वैराग्य की बृद्धि होती है। इस लिये उत्तराखण्ड पर्वत पर निवास करने का प्रेमी बनो।

रिकन्दरनिवासरसिको भव। गङ्गायाः, पवित्रपाथस्तवमालिन्यमचिरादुन्मूलयिष्यति। विषयरागविमर्दनेन त्वां शीघ्रमेवेश्वरोन्मुखं करिष्यति। रागद्वेषाकुलस्यास्य जगतः स्मृतिमुच्छेत्स्यति। जाह्नवीजलमेवसंसारतापतप्तानां संसारतापान्निवृत्तिमिच्छतामेकं शरणमस्मिन् कालेयकाल इति श्रद्धत्स्व। विष्णु-

---

गङ्गा की पवित्र धारा तुम्हारी मलिनता को शीघ्र ही विनष्ट कर देगी। विषयों के राग का उच्छेद करके तुम्हें शीघ्र ही ईश्वर की तरफ कर देगी। राग और द्वेष से पर्याकुल इस संसार की स्मृति का उच्छेद करेगी। सांसारिक तापों से जो परितप्त हैं और उन सांसारिक तापों से मुक्ति चाहते हैं उनके लिये इस कलि-काल में केवल गङ्गाजल ही शरण है यह विश्वास करो। यह गङ्गा विष्णु के चरणोदक हैं, इनका सेवन श्रद्धा से करो। गङ्गा का

पादोदकमिदं श्रद्धया भजस्व। गङ्गायाः सेवनमतिमात्रपुण्याधायीति गृहाण। साक्षात्परं ब्रह्मैव गङ्गेति निश्चित्य तामुपास्स्व।

तदुक्तम्ः—

"गङ्गोपसेवनं नान्यद्भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धये।
कालेयकाले तद्दोषदूषितालसचेतसाम् ॥१॥
गङ्गायादर्शनं पुण्यं गङ्गायामवगाहनम्।

सेवन अत्यन्त पुण्य-जनक है यह समझो। गङ्गा साक्षात् पर ब्रह्म ही है ऐसा निश्चय करके उसकी आराधना करो। वैसा कहा गया है—

"कलि-काल में कलि के दोषों से दूषित होने से पुरुषार्थ-रहित चित्त वाले मनुष्यों के भोग और मोक्ष सम्पादन के लिये गङ्गा के सेवन करने के सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है ॥१॥"

गङ्गा का दर्शन करना, गंगा में स्नान करना, गंगा किनारे निवास करना और गंगा के नाम

गङ्गातीरनिवासश्च गङ्गानामजपार्चनम् ॥२॥
ब्रह्मैव परमं साक्षाद्द्रवरूपेण धावति ।
पुमर्थकरणार्थं कौ गङ्गेति शुभसंज्ञया ॥३॥"
इति "श्री गङ्गोत्तरीक्षेत्रमाहात्म्यम्"

रे चित्त ! दुर्दम ! तादृशे विविक्ते देशे स्थित्वा वैराग्यमूर्त्तेर्नचिकेतस आख्यायिका-मनुचिन्तय । नचिकेतःप्रभृतीनां वैराग्यनि-

---

का जप, पूजन करना ये सब पुण्यप्रद हैं ॥२॥"

पुरुषार्थ-सम्पादन के लिये 'गंगा' इस शुभ नाम के द्वारा साक्षात् परब्रह्म ही जल-धारा रूप से पृथिवी पर दौड़ रहा है ॥"

"श्री गंगोत्तरीक्षेत्र माहात्म्य"

अरे दुःसाध्य चित्त ! वैसे एकान्त प्रदेश में रह कर वैराग्य के स्वरूपभूत नचिकेता की कथा का चिन्तन करो, क्योंकि नचिकेता आदि वैराग्य

धीनां चरितानुचिन्तनेन तव वैराग्यांकुरः शीघ्रमेवबृद्धिमेष्यति।

पंचवर्षो नाचिकेतोनामा ऋषिपुत्रः पितृ-शापेन यमराजधानीं गतः। तत्र गत्वा यमेन नानाविधैः शोभनैर्विषयैः प्रलोभितो-ऽपि स तान् न परिजग्राह। स ऋषिबालो-महाह्रदइव न किंचिदपि विचचाल। विषयान्

की खान हैं उनके चरित्र के अनुचिन्तन करने से तुम्हारा वैराग्यका अङ्कुर शीघ्र ही बढ़ जायगा।

नचिकेता नाम का पांच वर्ष का एक ऋषि-कुमार अपने पिता के श्राप से यमराज की राज-धानी में प्राप्त हुआ। वहां जानेसे यमराज ने अनेक प्रकार से रमणीय विषयों के द्वारा उसे प्रलोभन दिये किन्तु उसने उन्हें स्वीकार नहीं किया। वह ऋषि-बालक गम्भीर जलाशय की तरह कुछ भी विचलित नहीं हुआ। उसने विषयों को तृण की तरह

तृणवत् परितत्याज ।

"शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥"
"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या

त्याग दिया । यमराज ने यहां तक उससे कहा-

"हे नचिकेता ! तुम मुझसे सैकड़ों वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रों को मांगो और अनेकों पशु, हाथी, घोड़े, सुवर्ण, विस्तृत पृथिवी मांग लो तथा जितने वर्ष जीने की इच्छा करते हो वैसी आयु मांग लो।

मर्त्यलोकमें जो जो विषय दुर्लभ हैं उन सब विषयों को अपनी इच्छा के अनुसार तुम मुझ से मांग लो । रथ और वाद्य-सहित तथा मनुष्यों से

नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभीर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व।
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥"

इति बहुभिः प्रलोभनैः प्रलोभितेनाऽपि नचिकेतसा धैर्येण विवेकेन चेत्थं प्रत्याख्यातम्।

"श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।

अप्राप्य ऐसी ये सुन्दर स्त्रियां हैं। हे नचिकेता! इन स्त्रियों को मैं तुम्हें प्रदान करता हूं, मुझ से दी गयी इन स्त्रियों से तुम अपनी परिचर्या कराओ। उपर्युक्त वस्तुएं तुम मांग लो किन्तु मृत्यु के विषय में कुछ भी प्रश्न मत करो।"

इस प्रकार यमराज के अनेकों प्रलोभन देने पर भी नचिकेता ने धैर्य और विवेक से इस प्रकार जबाव दिया कि—

"हे यमराज! नहीं रहने वाले ये विषय

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्य-गीते ॥"
"नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ॥ इति
"कठ उ०"

एतादृशमहच्चरितानुचिन्तनेन सम्यग्वि-
षयदोषानुदर्शनेन चोच्छ्रितां सुदृढां वैराग्य-

भी मनुष्य के समस्त इन्द्रियों के तेज को और इस थोड़े से जीवन को निःशेष रूप से हर लेते हैं इस लिये ये आपके घोड़े और नृत्य-गीत आप ही को रहें ॥"

"धन से मनुष्य को सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता है।" "कठ उ०"

इस प्रकार के महात्मा पुरुष के चरित्र के अनुचिन्तन करने से और विवेक के द्वारा विषयों में दोष-दर्शन करने से उन्नत और सुदृढ़ वैराग्य की

भूमिमधिरुह्य तत्र तेन तत्सहचरैः शमदमा-
दिभिश्च नितरां मोदस्व। वैराग्यकञ्चुकेन
विषयशराक्रमणादात्मानं रक्षय। वैराग्यश-
स्त्रेणेमं संसारवृक्षं छिन्धि। जन्मजरामरण-
शोकाद्यनेकानर्थात्मकः, कदलीस्तम्भवन्निः-
सारस्तृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो, बुद्धीन्द्रिय-

भूमिका पर आरूढ़ हो कर वहां उस वैराग्य और उसके सहचर शम, दम आदि साधनों से तुम प्रसन्न रहो। वैराग्यरूपी कवच पहन कर विषय रूपी बाण के आघात से अपनी रक्षा करो। वैराग्यरूपी शस्त्र से इस संसाररूपी वृक्ष का छेदन करो।

जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अनर्थ रूप जो यह संसार वृक्ष है, तृष्णारूपी जल से सिंचन होने से जो बढ़ा हुआ है और जिस के बुद्धि, इन्द्रिय और विषय बाल अंकुर

विषयप्रवालांऽकुरो, यज्ञदानतपश्चाद्यनेक-क्रियासुपुष्पः, सुखदुःखवेदनाऽनेकरसः, प्राण्युपजीव्यानन्तफलः, कष्टरुदितहाहामुञ्च-मुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारव एष संसारवृक्षो विवेकविज्ञानतीक्ष्णीकृतेन वैतृष्ण्यशस्त्रेण सत्वरमुच्छिद्यताम्। तत्र मा विलम्बं कुरु।

हैं। यज्ञ, दान, तप आदि अनेक कर्म-कलाप रूपी सुन्दर पुष्प हैं। सुख, दुःख, वेदना रूपी अनेक प्रकार के रस हैं। प्राणी को जिलाने वाले अनन्त फल हैं। हा! हा! छोड़ो, छोड़ो इस प्रकार कष्ट से रोदन आदि का जहां कोलाहल हो रहा है और जो केले के खम्भे की तरह असार है ऐसे संसाररूपी वृक्ष को विवेक और विज्ञान के द्वारा तीक्ष्ण किये गये तृष्णा के परित्यागरूपी शस्त्र से शीघ्र काट डालो। उसमें बिलम्ब मत करो।

रे चेतः ? सर्वश्रेयसां वैराग्यमेव मूल-
कारणमिति ज्ञात्वा वैराग्यमूलद्रविणं भव ।
ततश्च भगवत्पादपद्मपरिमार्गणतत्परं भव ।
भगवच्चरणाम्भोजभजनैकजीवनं भव ।
"दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका-
दुराशिकायै रचितोऽयमञ्जलिः ।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो-

रे मन ! समस्त कल्याण का मूल कारण वैराग्य ही है यह जान कर वैराग्यरूपी मूल धनी हो जाओ और तब भगवान के चरण-कमल की खोज करने के लिये कमर कस लो। भगवान के चरण-कमल के भजन में ही लीन हो जाओ।

"नीच धनवान व्यक्ति के द्वार के बाहर में अपमान कराने वाली इस दुष्ट आशा को अञ्जलि-बद्ध प्रणाम है अर्थात् उस दुराशा से अब कुछ

धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥"

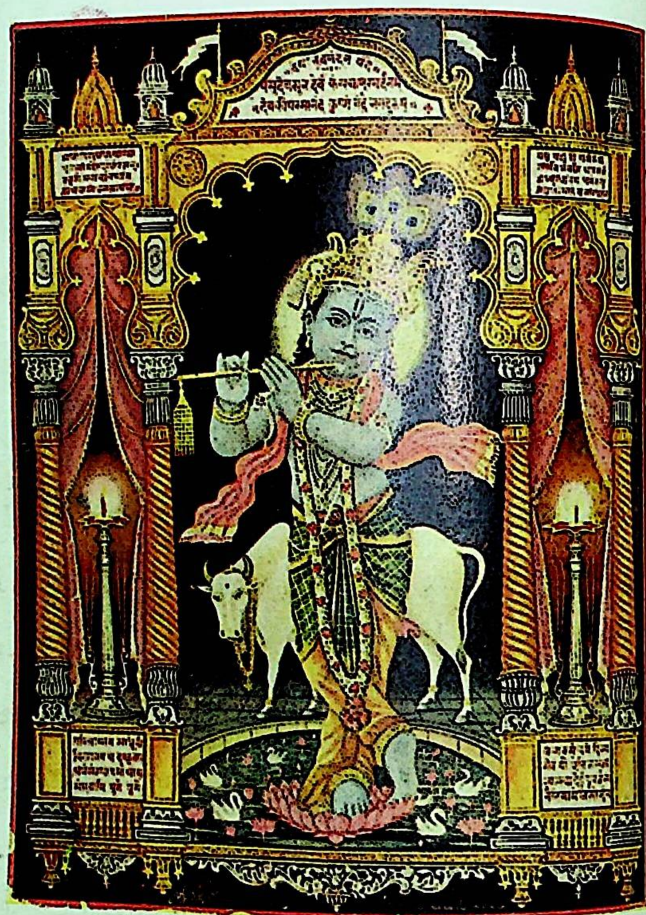
"वैराग्यपञ्चकम्"

इति वैराग्यप्रकरणं समाप्तम्

प्रयोजन नहीं है क्योंकि अर्जुन के रथ के भूषण स्वरूप, स्याम वर्ण श्री कृष्णरूपी अविनाशी धन हम लोगों को विद्यमान है।"६ 'वैराग्यपञ्चक"

॥ इति वैराग्यप्रकरण समाप्त ॥





श्रीनन्दनन्दन

THE GITA PRESS, GORAKHPUR. No. 1025

श्री गणेशाय नमः

अथ भक्तिप्रकरणम्

" वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥"

जिनके हाथ में बांसुरी विराजमान है, जो नवीन मेघ के समान शोभायमान हैं, जो पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं, जिनके अधर-ओष्ठ बिम्ब फल के समान लाल हैं जिनका मुख पूर्ण चन्द्र की तरह सुन्दर है और जिनकी आंखें कमल के समान हैं उन कृष्ण भगवान के सिवाय और किसी तत्त्व को मैं नहीं जानता अर्थात् वही कृष्ण भगवान मेरे उपास्य देव हैं।

रे चित्त ! त्वं विवेकवदसि । त्वं वैराग्यवदसि । हरिचरणौ नितरां स्मर । हरिचरणौ नितरां शरणीकुरु । मर्कटबन्धुतां हित्वा सुस्थिरं भव । हरिचरणभजनैकनिष्ठं भव। हरिभक्तिरेव परमपुरुषार्थैकसाधनमिति विद्धि । भक्तिः सर्वमङ्गलानां सर्वसिद्धीनां च परमं कारणमिति विद्धि ।

अरे चित्त ! तुझे विचार करने की शक्ति है। धन, पुत्र आदि विषयों से तुझे वैराग्य करने की शक्ति है। तुम सर्वात्मना भगवान के चरणों के आश्रय में आ जाओ। बन्दर की तरह जो तुम्हारा चंचल स्वभाव है उसे छोड़ कर स्थिर हो जाओ। तुम भगवान के चरण का ही एकमात्र भजन करो।

भगवान की जो भक्ति है वही परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है यह जानो। भगवान की भक्ति सम्पूर्ण मंगल और सारी सिद्धियों का

यथोक्तम्—
"लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः ॥"

भक्तेन भक्त्याऽप्राप्यं नास्ति किञ्चिद्वस्तु लोके । भगवानपि भक्तस्य भक्तो भवति । भक्तपरवशः सन् भक्तकैङ्कर्ये नितरां बद्धपरिकरो वर्तते भगवान् । अर्जुनसारथ्यादिकं तु भगवतो भक्तपारवश्यद्योतकं प्रसिद्धतरमितिहासादिषु ।

निदान है यह जानो । जैसा कहा गया है---

"उनको सर्व प्रकार के लाभ प्राप्त हैं, उन्हें विजय प्राप्त है और उनको किसी प्रकार का अशुभ नहीं हो सकता है जिनके हृदय में भगवान् हैं क्योंकि भगवान् मंगल के भण्डार हैं ॥"

भगवान् भक्त के अधीन हैं इस बात को भगवान ने अर्जुन के सारथि बन कर प्रमाणित कर दिया यह इतिहास आदि में प्रसिद्ध है ।

किञ्च भक्तिरनायासेनानुष्ठातुं योग्या। तस्याः सरणिः सुगमतरा प्रशस्ततरा च। योगादिमार्गास्तु क्लिष्टतराः। तत्र चलितुं केचिच्छक्नुवन्ति विरलाः। न तथा भक्तिमार्गः। अत एव भक्तिरहस्यवेदिना सूत्रितं श्रीनारदेन :—

"अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ" इति

कर्मध्यानज्ञानमार्गास्तु महद्भिरधिकारि·

भगवान की भक्ति बिना परिश्रम से ही की जा सकती है इस लिये भक्ति-मार्ग अत्यन्त सरल और सर्वथा मान्य है। योग-मार्ग या अन्य मार्ग अत्यन्त कठिन है। उन पर कोई विरले ही पुरुष आरूढ़ हो सकते हैं। इस लिये भक्ति-मार्ग के रहस्य को जानने वाले श्री नारदजी ने कहा है—

"अन्य उपायों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग में सुलभता है।" कर्म-मार्ग, ध्यान-मार्ग और ज्ञान·

भिरधिगन्तुमनुष्ठातुं च शक्या इति न ते सर्वेषां सुलभतराः भक्तिसाधनं तु साधारणै-रपि सम्यगनुष्ठातुं शक्यत इति महनीयोऽयं पन्थाः वर्णाश्रमवयोऽवस्थाव्यवस्थाभेदमन्त-रेणैव सर्वैः सर्वदा कर्तुं योग्या भक्तिरिति महदिदं वैलक्षण्यं भक्तेः। न तत्र कर्कशो-

---

मार्ग के अधिकारी सुयोग्य पुरुष ही हो सकते हैं इस लिये सब के लिये वे सुलभ नहीं हैं।

भक्ति का जो साधन है वह साधारण जन से भी प्राप्त किया जा सकता है इस लिये यह मार्ग प्रशंसनीय है।

भगवान की भक्ति के लिये किसी वर्ण विशेषकी आवश्यकता नहीं, किसी आश्रम की आवश्यकता नहीं, किसी अवस्था की आवश्यकता नहीं। सब वर्ण के लोग सब आश्रम वाले सब अवस्था वाले सदैव भगवान की भक्ति कर सकते हैं यही भक्ति की विशेषता है। उसमें वर्ण-अव-

वर्णनियमः। नाश्रमनियमः । न वयोनियमः नचावस्थानियमः । स्त्री,शूद्रश्चाण्डालः, पुल्कसो, म्लेच्छो, यवनो, हूणोऽन्यो वा यः कश्चित् बालो वा स्थविरो वा, यक्षो वा राक्षसो वा सर्वेऽपि भगवद्भक्तावधिकारिण इति, भगवन्नामजपगुणश्रवणकीर्तनध्याना- दीनां भजनकर्मणां न तान्प्रति प्रतिषेध

स्था का कठोर नियम नहीं है। आश्रम का भी नियम नहीं है। बाल्य, यौवन आदि वय का नि- यम नहीं है। किसी परिस्थिति का भी नियम नहीं है।

स्त्री, शूद्र, चाण्डाल, पुल्कस, म्लेच्छ, यवन, हूण य ।अन्य भी किसी जातिका बालक, वृद्ध, यक्ष या राक्षस सब कोई भगवद्भक्ति के अधि- कारी हो सकते हैं। भगवान के नामका जप, गुण-श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि जो भजन-कर्म

इत्यहो भक्तेर्महत्सौलभ्यम्। न केवलं गुह-शबरीप्रभृतयः पौराणिकाः,कबीरदास रैदास-प्रभृतय आधुनिकाश्चाप्रशस्तयोनयो मनुष्याः किन्तु जटायुगजेन्द्रप्रभृतयस्तिर्यग्जातयोऽपि भगवद्भक्तिपरा भगवन्तमीयुरिति सुविदितं पुराणेतिहासवेदिनाम्।

तदुक्तम् :—

हैं उनमें उनका भी प्रवेश हो सकता है। यह भक्ति की महती सुलभता है।

पुराणों में तथा कथित गुह, शबरी आदि और आधुनिक भक्त कबीरदास, रैदास प्रभृति नीच जाति के मनुष्य ही नहीं, किन्तु जटायु, गजेन्द्र आदि पशु-पक्षी तक भी भगवद्भक्ति-परायण होने से भगवान को प्राप्त कर चुके हैं यह पुराण, इतिहास जानने वालों को भली भांति विदित है। जैसा कहा है–

"दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा ब्रजौकसः।
खगामृगाःपापजीवाःसन्ति ह्यच्युततांगताः॥
इति "भागवतम्"

'स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियान्तिपरांगतिम्।'

इति भगवानपि योषापुरुषभेदमन्तरेण सर्वेषामपि यदि भक्ताश्चेत्परमां गतिमुपदि·

"ब्रज (गोकुल) में निवास करने वाले, दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, पक्षी, मृग आदि पापी जीव गण भी भक्ति के द्वारा भगवान के स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं।" "भागवत"

"स्त्री, वैश्य और शूद्र ये सब भी भगवान के भजन से उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं।" इस प्रकार श्री भगवान भी स्त्री-पुरुष के भेद के बिना ही सबके लिये, यदि वे भक्त हों परम कल्याण का कथन करते हैं।

शाति। किञ्च कर्मादिष्विव न तत्र देशकालादिनियमापेक्षा, न च बाह्यपदार्थापेक्षा, न च हिंसादिदोषा इति भक्तेरन्यतो महानुत्कर्षः।

उक्तं हि भगवता भाष्यकारेण :—

"हिंसाद्रव्यान्तरपुरुषान्तरदेशकालादिनियमानपेक्षत्वमाधिक्ये कारणम्॥"

"विष्णुसहस्रनामभाष्यम्"

और भी भगवान की भक्ति में कर्म आदि की तरह देश, काल, पात्र की व्यवस्था नहीं रखी गई है। बाह्य उपकरण की जरूरत नहीं है और उसमें यज्ञ आदि की तरह हिंसा आदि दोष नहीं होते यह अन्य मार्गों से भक्ति की विशेषता है। भगवान भाष्यकार ने कहा है–

"अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की यह विशेषता है कि उसमें हिंसा, द्रव्यान्तर का परिग्रह, देश, काल आदि के नियम की अपेक्षा नहीं है।" "विष्णुसहस्रनामभाष्य"

अथ भगवतो नामोच्चारणं, गुणमाहा-त्म्यश्रवणञ्च केन वा पुरुषेण न कर्तुं शक्यते? यमनियमादि शमदमादि साधनसम्पद्राहितः कनिष्ठतमोऽपि साधकः सर्वमेव तद्भजनादिकं कर्तुं प्रभवतीत्यहो ! भक्तिपथस्यान्यत्सौल-भ्यम्। व्याधावस्थः श्रीवाल्मीकिमहर्षिर्मुनि-जनद्रोही दुराचारमूर्त्तिरासीत्। रामनामोच्चारणं

भगवान के नामोच्चारण, उनके गुण के माहा-त्म्य का श्रवण यह किस पुरुष से नहीं किया जा सकता है? यम, नियम तथा शम, दम आदि साधन-रहित साधारण जिज्ञासु जन भी भगवान के सर्व प्रकार के भजन को कर सकता है यह भक्ति-मार्ग की दूसरी सुलभता है।

महर्षि वाल्मीकि जो प्रथम व्याध थे। ऋषियों के विरोधी थे, दुराचार की मूर्त्ति थे और 'राम-नाम' उच्चारण करने के अधिकारी तक भी नहीं

कर्तुमपि स समर्थो नासीत्। भगवन्नामोच्चारणासमर्थः सोऽपि न नैराश्यं गमितः। महान्तो मुनयोऽतिनीचाधिकारिणस्तस्यापि भगवद्भजनं सुलभमकार्षुः। "मरा-मरा" इत्येतन्नामजापेन स भगवन्तं भजितुमारेभे। दृश्यतां भक्तियोगस्य सौलभ्यम्। को वा न समर्थः स्याद् भक्तिमार्गगमने?

थे किन्तु वह भी भक्ति-मार्ग में विफल मनोरथ नहीं हुए। महर्षियों ने उन्हें निकृष्ट अधिकारी जान कर उनके लिये भी श्री भगवद्भजन का मार्ग सुलभ कर दिया। उस व्याध वाल्मीकि ने 'मरा-मरा' इस प्रकार उलटा 'राम-नाम' जप के द्वारा श्री भगवान का भजन आरम्भ किया। यह भक्ति-योग की सुलभता को देखो। अथवा भक्ति-मार्ग पर चलने में कौन नहीं समर्थ है? अरे

अतो रे चेतस्त्वमपि सुलभं सुगममिमं भक्तिमार्गमवलम्ब्य भगवन्तं भज। भगवत्प्रेमरसास्वादनेन जीवितं चरितार्थी कुरु। भक्तिरेव मुक्तिसाधनमिति जानीहि। ऐकान्तिकभक्तेरुदय एव पुरुषार्थस्य परिसमाप्तिरिति विद्धि। भक्तिशिखरमधिरूढस्य भग-

चित्त! इस लिये तुम भी सुलभ और सुगम इस भक्ति-मार्ग का अवलम्बन कर के भगवान का भजन करो। भगवान के प्रेम-रसास्वादन से अपने जीवन को सफल करो। भक्ति ही मुक्ति का साधन है यह जानो।

निश्चयात्मक रूप से भक्ति-भावना के प्रादुर्भाव होने से ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है अर्थात् समस्त पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं यह जानो। जो पुरुष भक्ति की अन्तिम सीमा पर आरूढ़ है, जिसका चित्त भगवान के चरण में

त्वत्पदसमार्पितचित्तस्य न संसाराद्भयं, न यमाद्भयं, न यमकिङ्कराद्भयम् । निर्भयपदाधिरोहिणी परमात्मभाक्तिरिति नितरान्निश्चिनु । तदुक्तम् :—

"एतावानेव लोकेस्मिन्पुसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

इति ।

तल्लीन है उसको संसार का भय नहीं, यम का भय नहीं और यमदूत का भी भय नहीं है । भगवान की भक्ति करना ही अभय पद पर आरूढ़ होना है यह तुम निश्चय जानो । जैसा कहा गया है–

"मर्त्य-लोक में मनुष्यों के लिये यही कल्याण का मार्ग है कि भगवान की उत्कट भक्ति कर के अपने मन को भगवान में निश्चल भाव से लगा दे ।"

"सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्,
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥"

इति च "श्रीमद्भागवतम्"

भक्त्या भगवान् सुष्ठु शीघ्रं प्रसीदति।
भक्त्या भगवान् त्वरितमपुनर्भवं सायुज्यपदं

"जिनका मन भगवान के गुण-प्रेमी हो कर भगवान के चरण-कमलों में एक बार भी लग गया है, वे निष्पाप हो कर यमराज और फांस रखने वाले यमदूतों को स्वप्न में भी नहीं देखते हैं।"

"श्रीमद्भागवत"

भक्ति के द्वारा भगवान जल्दी और अच्छी तरह प्रसन्न होते हैं। भक्ति करने से भगवान अपने उस सायुज्य पद का प्रदान करते हैं कि

प्रयच्छति। यथा भक्त्या भगवान् प्रसीदति, न तथा द्रव्यदानेन तपसा त्यागेन वा अन्येन केनाचित् कर्मणा वा। जातिवयोविद्यादयोऽपि न खलु भगवतः प्रसादकारणम्। आचरणमपि न परमात्मनोऽनुग्रहकारणम्। ऐकान्तिकी भक्तिरेव भगवतस्तोषकारणमिति व्यासादीनां

जिसके प्राप्त होने से पुनर्जन्म नहीं होता है। भगवान् भक्ति से जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे न तो किसी धन आदि द्रव्य के दान करनेसे, न तपस्या से, न किसी प्रकार के त्याग से और न तो किसी प्रकार के कर्म करने से प्रसन्न होते हैं। जाति, वय और विद्या आदि कुछ भी भगवान की प्रसन्नता के कारण नहीं हो सकते हैं। सदाचार पालन से भी भगवान की कृपा प्राप्त नहीं होती है। निश्चयात्मक रूप से की गयी भक्ति ही भगवान के संतोष का कारण है ऐसा व्यास

प्रतिश्रववचनम् ।

उक्तं हि :—

"न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥"

इति "भागवतम्"

"व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो-
विद्या गजेन्द्रस्य का ।

आदि महर्षियों का प्रतिज्ञा-वचन है। जैसा कहा गया है—

"दान, तप, यज्ञ, शौच और व्रत ये सब भगवान को प्रसन्न नहीं कर सकते हैं, केवल निष्कपट भाव से की गयी भक्ति ही भगवान को प्रसन्न कर सकती है और सब बिडम्बना मात्र है।" "भागवत"

"व्याध का क्या सदाचार था ? ध्रुव की क्या उम्र थी ? गजेन्द्र की कौन-सी विद्या थी ?

कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं,
किं तत्सुदाम्नो धनम् ॥
वंशः को विदुरस्य यादवपते-
रुग्रस्य किं पौरुषम् ।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै-
र्भक्तिप्रियो माधवः ॥"
इति च ।

विशेषतोऽस्मिन् कराले कलिकाले ताप-

कुब्जा के कौन से नाम-रूप अच्छे थे ? सुदामा का धन क्या था ? विदुर का कौन सा वंश था ? यादव वंश के महाराज उग्रसेन का क्या पौरुष था ? किसी को कुछ भी गुण नहीं था, किन्तु भगवान् तो भक्ति से प्रसन्न होते हैं। गुणों से प्रसन्न नहीं होते हैं क्योंकि भगवान भक्ति के प्रेमी हैं।"

विशेष करके इस कराल कलि-काल में

त्रयतप्तानामनन्या गतिः परमात्मभक्तिरेव। वर्णाश्रममर्यादा वैधुर्यमुपगता। शरीरमनसोर्बलञ्च दुर्बलतां गतम्। यमनियमादयस्तु क्वापि दूरतः पलायिताः। वेदशास्त्रप्रामाण्यश्रद्धा च सुतरां प्रक्षीणतां गता। तथाविधे विषमिते दोषदूषिते काले हन्त! हन्त! वैदिकानामग्निहोत्रादिकर्मणां का नाम कथा?

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापों से परितप्त प्राणियों के लिये दूसरी कोई गति नहीं है। भगवान की भक्ति ही एकमात्र गति है। जिस कलि-काल में वर्णाश्रम की मर्यादा शिथिल पड़ी है, शारीरिक तथा मानसिक बल ढीला पड़ गया है। यम, नियम आदि सर्व साधन भी दूर भागे हुए हैं। वेद और शास्त्र की श्रद्धा भी बिलकुल क्षीण है, ऐसे विष-पूर्ण, दोष-दूषित काल में अहा! अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों की

प्राणायामप्रत्याहारादीनां का नाम वार्ता? अतः परमात्मसंविधाधिगमने भगवद्भजनमेव मुख्योपाय इदानींतने काले। ततो रे चेतस्त्वमन्यत् सर्वमुज्झित्वा भगवन्नामोच्चारणकीर्तनस्मरणादिषु भजनक्रियासु नितरां प्रवर्तस्व। कलिसर्पदर्पहरणे हरिभजनमहामन्त्र एव समर्थो नान्यत् किमपीति जानीहि।

कौन सी कथा है? प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगाभ्यास की कौन सी वार्ता है? अतः भगवान की शरण में प्राप्त हो कर इस काल में भगवान का भजन करना ही प्रधान साधन है।

अरे चित्त! तू अन्य सब को छोड़ कर भगवान के नामोच्चारण, कीर्तन, स्मरण आदि भजन क्रिया में तल्लीन हो जा। कलियुगरूपी सर्प के गर्व को हटाने के लिये भगवान की भक्तिरूपी महामंत्र ही सामर्थ्यवान् है और दूसरा कोई भी सामर्थ्य-

तदुक्तम् :—

"सत्यादित्रियुगे बोधो विरागो मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी ॥"

इति "पद्मपुराणम्"

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥"

इति च "बृहन्नारदीयपुराणम्"

वान् नहीं है यह जानो। जैसा कहा गया है—

"सत्ययुग, त्रेता और द्वापर इन युगों में ज्ञान और वैराग्य मोक्ष के साधन माने गये हैं किन्तु कलियुग में केवल भक्ति ही ब्रह्म को प्राप्त करा देने वाली है यानी मोक्ष का साधन है।"

"पद्मपुराण"

"हरि के नाम, हरि के नाम, केवल हरि के नाम ही कल्याण के साधन हैं। दूसरी गति कलियुग में नहीं है, नहीं है, नहीं है।"

"बृहन्नारदीय पुराण"

"ध्यानं तपः सत्ययुगे त्रेतायां यज्ञकर्म च ।
द्वापरे पूजनं दानं हरेर्नाम कलौ युगे ॥"

इति च

अथ भक्तिः किं लक्षणेति चेच्छृणु। परमात्मनि परमप्रेमरूपा भक्तिः । "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इति हि शाण्डिल्यसूत्रम् ।

"सत्ययुग में समाधि और तपश्चर्या मोक्ष के साधन हैं, त्रेता में यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, द्वापर में पूजन, दान और कलियुग में भगवान का नाम ही साधन है ।"

अब भक्ति किसको कहते हैं यह सुनो । भगवान में जो परम प्रेम करना है अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा, भगवान में तल्लीन रहना ही भक्ति है ।"

"भगवान में किया गया जो सर्वोत्कृष्ट अनुराग है वही भक्ति है यह शाण्डिल्य मुनि

परमात्मनि क्रियमाणो यो निरतिशयोऽनु-राग: सा भक्तिरिति सूत्रार्थः । यथा विष-यिणां विषयेषु गाढगाढं निरन्तरञ्च प्रेम तथा आनन्दघने परमेश्वरेऽविनाशिनि यत्प्रेम सा भक्तिरिति निष्कृष्टोऽर्थः ।

"द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥"

इति च "भक्तिरसायने"

के सूत्र का अर्थ है । जिस प्रकार विषयी पुरुषों का स्त्री, धन, पुत्र आदि विषयों में प्रगाढ़, निरन्तर प्रेम रहता है उसी प्रकार जो नित्य, आनन्द-राशि भगवान में प्रेम करना है वही भक्ति है यह भावार्थ है ।"

"अपने धार्मिक कर्मों को भगवान में सम-र्पण कर देने से द्रवीभूत चित्त की जो धारा-प्रवाह (निरन्तर) भगवान की भावना होने लगती है उसे भक्ति कहते हैं ।" "भक्तिरसायन"

भगवद्गुणश्रवणेन द्रवावस्थां गतस्य चित्तस्य ईश्वरविषयिकाऽविच्छिन्ना वृत्तिर्भक्तिरित्युच्यते "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।"

इति च "श्रीमद्भागवते"

कनिष्ठेषु योऽनुरागः सा दया, समा-

"भगवान के गुण श्रवण से चित्त द्रवीभूत हो कर उसकी जो अनुपल भगवान में स्थिति होती है वही भक्ति है।"

"जिस प्रकार गंगा-जल की स्वाभाविक गति समुद्र की ओर होती है उसी प्रकार मेरे गुण के श्रवणमात्र से सर्वव्यापक मुझ में जो निरवच्छिन्न मानसिक एकाकार गति है वही भक्ति है।"

"श्रीमद्भागवत"

अपने से छोटे में जो प्रेम है वह दया है, अपने समान व्यक्ति में जो प्रेम है वह स्नेह है,

नेषु योऽनुरागः स स्नेहः, श्रेष्ठेषु योऽनुरागः सा भक्तिरिति च प्रसिद्धतरं शास्त्रे लोके च। ईश्वरानुरागस्तु साधुसङ्गमेन तद्द्वारा पापनाशनेन, विषयवैराग्येण, सङ्गत्यागेन, भगवद्गुणमाहात्म्यश्रवणेन च समुत्पद्यते। "तत्तु विषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च" इति च नारदीयं सूत्रम्। साधुसङ्गम एव सर्वेषां श्रेयसां निदा-

---

अपने से श्रेष्ठ में जो प्रेम है वह भक्ति है यह शास्त्र और लोक दोनों में प्रसिद्ध है।

ईश्वर में जो प्रेम होता है वह साधुओं की संगति से पाप नाश होने पर विषयों के वैराग्य से, सङ्ग-त्याग से, भगवान के गुण के माहात्म्य के श्रवण करने से उत्पन्न होता है। "वह प्रेम विषय के परित्याग से और सङ्ग के त्याग से उत्पन्न होता है" यह नारद का सूत्र है। साधु-सङ्गति ही समस्त कल्याणों का मूल कारण है। पापी

नम्। साधुसङ्गमेन पापी खलु निष्पापो भवति। अपवित्रः पवित्रो भवति। अविरक्तोऽपि विरक्तो भवति। ईश्वरविमुखश्चेश्वराभिमुखो-भवति। साधुसङ्गतिः सद्य एव पापतापादिकं सर्वमपहरति। सज्जनसम्पर्कोऽतिमात्रनिकृष्टमप्युत्कृष्टयति। साधूनामनुग्रहादेव ईश्वरगुणश्रवणम्, ईश्वरप्रेम च समुपजायते।

पुरुष भी सत्संग के द्वारा पाप से रहित हो जाता है। अपवित्र पुरुष पवित्र हो जाता है। जो विरक्त नहीं है वह भी विरक्त अर्थात् संसार से उदासीन हो जाता है। जो भगवद्भक्त नहीं है वह भी भगवद्भक्त हो जाता है। सत्संग तो मनुष्यों के पाप-ताप को अविलम्ब विनष्ट कर देता है। सत्संग तो नीच पुरुष को उत्कृष्ट (महान्) बना देता है। ईश्वर के गुण का श्रवण करना और ईश्वर में प्रेम करना ये दोनों बातें

तस्मात् श्रेयःप्रार्थिभिः साधवः सदा समुप-
गन्तव्याः। तथाचोक्तम्:—

"नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः,
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथवाङ् मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं,
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १ ॥

महात्माओं की कृपा से ही होती हैं इस लिये कल्याण चाहने वाले पुरुषों को सत्संग सदा करना चाहिये। वैसा कहा भी गया है—

"अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारा, पृथिवी, जल, आकाश, वायु और वाणी, मन इन सबकी आराधना करने से पाप नष्ट नहीं होते हैं क्योंकि ये सब भेद-ज्ञान करने वाले हैं, किन्तु महात्माओं के क्षणमात्र की सच्ची सेवा करने से समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥"

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥२॥
गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्वं साधुसमागमः ॥३॥
इति "श्रीमद्भागवतम्'

गंगा आदि जलमय तीर्थ और मृत्तिका तथा प्रस्तरमय देवगण भी महात्माओं के समान पवित्र करने वाले नहीं हैं क्योंकि तीर्थ और देवगण तो मनुष्य को देर से पवित्र करते हैं और महात्मा लोग तो दर्शनमात्र से ही पवित्र करते हैं ॥२॥

गंगाजी पाप को विनष्ट करती है। चन्द्रमा ताप (गर्मी) को नष्ट करता है। कल्प वृक्ष दरिद्रता को हरता है और महात्मा लोगों का समागम तो पाप, ताप, दीनता सबको विनष्ट कर देता है ॥ ३ ॥" "श्रीमद्भागवत"

"महानुभावसम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारणम्,
अशुच्यपि पयः प्राप्य गङ्गां याति पवित्रताम्।"
इति च "बृहदारण्यकवार्तिकम्"
सन्तो हि सन्त्यकारणकृपासिन्धवः।
ते निसर्गत एव स्वाश्रितान् रक्षयन्ति विस्तृता विटपिन इव। यथा मत्स्यमहिला दर्शनेन,

महात्माओं के संग किस की उन्नति के हेतु नहीं बने हैं? अर्थात् महात्मा लोगों के संग करने से सबकी उन्नति होती है जैसे अपवित्र जल भी गंगा में मिल कर पवित्र हो जाता है॥

"बृहदारण्यक वार्त्तिक"

महात्मा लोग बिना मतलब के ही दया के समुद्र होते हैं। चारों तरफ फैले हुए वृक्ष जैसे अपने आश्रित की रक्षा करते हैं वैसे ही महात्मा लोग भी अपने शरणागत व्यक्ति की रक्षा करते हैं। जैसे मछली केवल दर्शन से, कछुवी केवल

कूर्मसहधर्मिणी ध्यानेन, पक्षिपक्ष्मलाक्षी च संस्पर्शनात्मीयं शिशुं पालयति, तथा सज्जनोऽपि स्वसमाश्रितं पापतापाकुलं दीनजनं दर्शनस्पर्शनादिभिरुपदेशेन च रक्षयति स्नेहवात्सल्यचेतसा । तथाविधानां निसर्गदया-

---

ध्यान से, चिड़िया केवल स्पर्श करके अपने बच्चों को पालती हैं अर्थात् माता मछली की अपने बच्चे पर दृष्टि डालते रहने से ही उसका बच्चा सुरक्षित रहता है । मादा कच्छप अपने अण्डे का ध्यान करती रहती है उसीसे उसका बच्चा पलता है । चिड़िया अपने अण्डे का सेवन करके स्पर्श करती रहती है उसीसे उसका बच्चा पल जाता है । वैसे सज्जन पुरुष भी पाप, ताप से व्याकुल अपने आश्रित दीन व्यक्ति को प्रेम-पूर्वक अपना दर्शन देकर चरणके स्पर्श-दान आदि और अपने उपदेश के द्वारा रक्षा करते हैं ।

निधीनां सङ्गतिः परम्परया भक्तिकारणमिति विद्धि।

साधुसमागमो महानुग्रहकारीति श्री नारदस्य चरित्रमपि महदुदाहरणम्। नारदमुनिस्तु पुरातने जन्मनि कस्याश्चन दास्यास्तनूजः प्रावृट्काले चातुर्मास्यव्रतमनुतिष्ठतां महात्मनां शुश्रूषणे प्रवृत्त आसीत्। दान्ते शान्तेऽचपले बाले समदर्शिनां योगिनां तेषां

वैसे अकृत्रिम दया की खान महापुरुष की संगति से क्रमशः भक्ति उत्पन्न हो जाती है यह तुम जानो।

साधु-महात्मा का संग महान् अनुग्रहकारी है इसका दृष्टान्त नारद का चरित्र है। नारद ऋषि पूर्वजन्म में किसी दासी के पुत्र थे। वह वर्षा ऋतु में चौमासे का व्रत करने वाले महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा में लगे हुए थे। साहसी और शान्त उस धीर बालक के ऊपर उन सम-

कृपादृष्टिः सम्पतिता। तेषामेव शुश्रूषणेन सङ्गमेन च क्रमशस्तस्य चेतो विशुद्धिमगात्। भगवति धर्मे च रुचिः सञ्जाता। तैः कीर्त्यमाना वासुदेवकथाः स महत्या श्रद्धया शृएवन्नासीत्। तथाच क्रमेण तस्य पुएयश्लोके भगवति रतिश्चाभवत्। तथाचान्तरे जन्मनि महामुनिजनपूज्यमत्युत्तमं भगवद्भक्तपदं प्रापत्

दर्शी महात्माओं की कृपा-दृष्टि हो गयी, उन की शुश्रूषा से और संग से धीरे धीरे उसका मन शुद्ध हो गया। ईश्वर और धर्म में उसकी रुचि होने लगी। उन लोगों के द्वारा जो भगवान की कथा का प्रवचन होता था उसको वह बड़ी श्रद्धा से सुनता रहता था उससे पुण्यश्लोक भगवान में उसकी रुचि धीरे धीरे बढ़ने लगी। जिससे नारदजी ने दूसरे जन्म में महर्षि जन-दुर्लभ जो भगवान की भक्ति है उसे प्राप्त किया

नारद इति पुराणवेदिनां नाविदितम् । अहो! साधुसङ्गममाहात्म्यम् । साधुसङ्गमः किं न कुरुते कल्याणम् ।

तस्मान्महात्मनां सङ्गम एव न केवलं भक्तेरपि तु सर्वेषां श्रेयसां मूलकारणमिति निश्चितोऽर्थः ।

"प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः ।

यह पुराण जानने वालों को विदित है । महात्मा के संग करने की आश्चर्य महिमा है । साधुओं के संग करने से कौन सा कल्याण नहीं हो सकता है इस लिये महात्माओं के संग केवल भक्ति का ही हेतु नहीं है किन्तु समस्त कल्याण का मूल कारण है यह निश्चित बात है ।

"पहले महात्माओं की सेवा करनी चाहिये, तब महात्माओं का दया-पात्र बनना चाहिये, तब

श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥"
"ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः ।"

इति च भक्त्युदये प्रथमकारणत्वेन महतां सेवैव निरूपिता श्रीमधुसूदनस्वामिभिः ।

"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ॥"

उनके धर्मों में श्रद्धा होनी चाहिये तब भगवान का गुण-श्रवण करना चहिये ॥"

"इसके बाद भगवान के प्रेमाङ्कुर की उत्पत्ति होती है ।"

इस प्रकार भक्ति के उत्पन्न होने में महात्माओं की सेवा ही आदि कारण है यह श्री मधुसूदन स्वामी ने कहा है—

"महात्माओं की सेवा मुक्ति का द्वार है और स्त्री में आसक्त पुरुषों का संग करना नरक का द्वार है ।"

इति च महतां सेवा भक्तिहेतुत्वेन कीर्तिता श्रीमद्भागवते ।

सत्सङ्गत्यादीनां बहुप्रकाराणां भक्तिसाधनानां परम्परयाऽनुष्ठानप्रकारोऽध्यात्मरामायणे च सम्यक् प्रदर्शितः ।

"पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥१॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में महात्माओं की सेवा भक्ति का हेतु कही गयी है ।

महात्माओं की संगति आदि जो अनेक प्रकार के भक्ति के साधन हैं उनके क्रम से अनुष्ठान करने की रीति भी अध्यात्म रामायण में अच्छी तरह दिखायी गयी है—

"पुरुष हो अथवा स्त्री हो किसी की भी जाति, नाम, आश्रम आदि की विशेषता मेरे भजन का कारण नहीं है किन्तु भक्ति ही कारण है ॥ १ ॥

यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहंशक्योमद्भक्तिविमुखैः सदा ॥२॥
तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्धृदयेऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥३॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।४।

जो पुरुष मेरी (भगवान की) भक्ति से विमुख हैं वे यज्ञ, दान, तपस्या से अथवा वेद के अध्ययन करने से भी मेरा दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥ २ ॥

हे सुन्दरि ! इस लिये मैं संक्षेप में भक्ति का साधन कहता हूं। भक्ति का पहला साधन महात्माओं का संग करना ही है ॥ ३ ॥

दूसरा साधन मेरी कथा का आलाप करना है, तीसरा साधन मेरे गुण का कथन करना है। मेरे द्वारा कथित वचनों का व्याख्यान करना चौथा

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ।५॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ।६॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।

साधन है ॥ ४ ॥

हे कल्याणि ! ईश्वर-बुद्धि से निष्कपटभाव से सदा आचार्य की आराधना करना और धर्मात्मा बनना यम आदि तथा नियम आदि धारण करना पञ्चम साधन है ॥ ५ ॥

मेरे पूजन में निष्ठा (श्रद्धाभाव) नित्य रखना छठा साधन कहा गया है । मेरे अंग-सहित मन्त्र का उपासक बनना सातवां साधन है ॥६॥

मेरे भक्तों का ज्यादा सत्कार करना, सर्व प्राणियों में ईश्वर-बुद्धि रखना तथा

बाह्यार्थेषु विरागत्वं शमादिसहितं तथा ।७।
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ?
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ।८।
स्त्रियो वा पुरुषस्याऽपि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः संजायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ? ॥९॥
भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा ।

बाह्य विषयों में वैराग्य रखना और शम आदि साधन-सम्पन्न होना आठवां साधन है ॥७॥

हे कल्याणि ! मेरे तत्त्व का विचार करना नवां साधन है इस तरह नौ प्रकार की जो भक्ति है वह जिस किसी का भी साधन हो सकता है ॥ ८ ॥

हे शुभ लक्ष्मणे ! स्त्री हो या पुरुष हो अथवा पशु-पक्षी हो सब को प्रेमरूप मेरी भक्ति उत्पन्न हो सकती है ॥९॥

भक्ति के उत्पन्न होते ही उस समय मेरे

ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ॥१०॥
स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम्।
प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु ॥११॥
भवेत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहंत्वामुपस्थितः॥

तत्त्वका अनुभव होने लगता है। अनुभव में मेरे स्वरूप के आने पर उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥१०॥

इस लिये मोक्ष का हेतु भक्ति है यह सब तरह से निश्चित है और पहला साधन अर्थात् महात्मों की संगति जिसको प्राप्त है उसको धीरे-धीरे सब साधन प्राप्त हो जाते हैं ॥११॥

तब उसकी भक्ति तो मुक्ति स्वरूप ही बन जाती है यह सर्वथा निश्चित है। जिससे तुम मेरी भक्ति रखती हो अतः मैं तुम्हारे पास आ गया हूं ॥१२॥

इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः ।"

इति ।

नवविधा परमात्मनो भक्तिः प्रकारान्तरेण श्रीमद्भागवतेऽपि कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते ।

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥"

इति ।

मेरे दर्शन से तुम को इस संसार से मोक्ष प्राप्त होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।"

भगवान की नवधा भक्ति का उपदेश श्रीमद्भागवत में दूसरे प्रकार से किया गया है—

"भगवान के चरित्र का श्रवण करना, भगवान का कीर्तन करना, स्मरण करना, पाद-वन्दन करना, पूजन करना, स्तुति करना, दास बनना, सख्यभाव रखना और आत्म-समर्पण कर देना यही नवधा भक्ति कही गयी है ॥"

तत्रैवान्यत्राऽपि भक्तेः कारणानीत्थं परम्परया निरूपितानि ।

"भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ !
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥१॥
श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठायान्तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम २

भागवत में अन्य स्थान पर भक्ति के क्रमिक कारण इस प्रकार कहे गये हैं—

"हे निष्पाप ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैंने भक्ति-योग का वर्णन पहले ही कर दिया है फिर भी मेरी (भगवान की) भक्ति के मुख्य कारण को बतलाता हूं ॥१॥

मेरी अमृतरूपी कथा में श्रद्धा रखना, सदा मेरा कीर्तन करना, निष्ठा-पूर्वक मेरी पूजा में स्तुतियों के द्वारा मेरी स्तुति करना ॥ २ ॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥३॥
मदर्थे त्व(ष्व)ङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥४॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थे यद् व्रतं तपः ॥५॥

मेरे सत्कार में आदर रखना, समस्त शरीर से मेरा अभिवादन करना, मेरे भक्तों की मुझ से भी ज्यादा पूजा करना, समस्त प्राणियों में ईश्वर-बुद्धि रखना ॥३॥

मेरे लिये शारीरिक चेष्टा करना, वचन से मेरे गुण का कीर्तन करना, ईश्वर में अपने मन को अर्पण कर देना और सर्व काम का परित्याग करना ॥४॥

मेरे लिये धन, भोग और सुख सब का परित्याग कर देना। यज्ञ, दान, हवन, जप, तप और

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयिसंजायतेभक्तिःकोन्योऽर्थोस्यावशिष्यते।६।
इति।

अतो रे मनः ! प्रथमतः सत्संगं कुरु। दुःसंगञ्च दूरतः परित्यज। यथा सत्संग उन्नतिकारणं तथा दुःसंगोऽवनतिकारणमिति जानीहि। दुर्जनानां भगवद्विमुखानां संगेन

जो कुछ भी व्रत हों मेरे लिये करना ॥५॥

हे उद्धव ! मुझ में आत्म-समर्पण करने वाले मनुष्यों के उक्त धर्मों के रहने से मुझ परमात्मा में भक्ति उत्पन्न हो जाती है उसका दूसरा कोई भी पुरुषार्थ बांकी नहीं रह जाता है ॥६॥

इस लिये रे मन ! पहले तुम सत्संग करो। दूर से ही नीच व्यक्ति या नीच वस्तु का संग छोड़ो। जैसे सत्संग उन्नति का कारण है वैसे नीच-संग भी अधोगति का कारण है यह जानो। भगवान से विमुख जो दुष्ट जन हैं उनके संग

भगवद्वैमुख्यं तेषां संगत्यागेन सतां संगेन च भगवदाभिमुख्यं च भवति । कुसंगो न केवलं भगवद्भक्तेः । किन्तु लौकिकानां सर्वेषामपि श्रेयसां प्रतिबन्धक इति विद्धि ।

उक्तं हि :—

"अतःसङ्गः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि ।

करने से भगवान से विमुखता (अरुचि) हो जाती है और उन नीच व्यक्तियों के सङ्ग-परित्याग करने से तथा सज्जन पुरुषों के सङ्ग करने से भगवान में रुचि हो जाती है। कुसङ्ग केवल भगवद्भक्ति का ही प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु लौकिक समस्त कल्याणों का भी प्रतिबन्धक है यह जानो।

जैसा कहा गया है—

"इस लिये दुष्ट पुरुषों का सङ्ग सदा त्याग करना चाहिये क्योंकि दुष्ट-संग करने वाला मनुष्य अपने अभिलषित वस्तु से च्युत हो जाता है जैसे

दुःसङ्गी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका ॥"

इति "अ० रा०"

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥"

इति च "वैराग्यशतकम्"

तस्मात्कुसंगं दूरतस्त्यक्त्वा सर्वदा सत्संग-निरतो भव। ततश्च भगवद्गुणमाहात्म्यं

यह राजकन्या अपने स्वार्थ से च्युत हो गयी है।"

"अ० रा०"

"जंगली लोगों के साथ पर्वतों के दुर्गम प्रदेशों में भ्रमण करना अच्छा है किन्तु इन्द्र के महल में भी दुष्ट जन का सम्पर्क अच्छा नहीं है।"

"वैराग्यशतक"

इस लिये कुसंग का सर्वथा त्याग करके सदा सत्सङ्ग में रत हो जाओ और तब भगवान के गुण-माहात्म्य को सुनो। सुन कर उसमें

शृणु, तत्र श्रद्धां विधेहि। भगवद्गुणान् सततं कीर्तय। भगवतः पवित्रनामान्यविरतं जप। भगवत्तत्त्वं स्मर। तच्चरणपंकजे प्रचुरप्रमोदेन परिचर। तस्य पूजनवन्दनादिके निरतो भव सर्वदा। एवं भगवतो निरतिशयां निष्कलङ्काञ्च भक्तिं सम्पादय। सेवकभावेन भगवन्तमित्थं जानीहि—अहं संसारी,

---

श्रद्धा करो। भगवान के गुणों का सदा कीर्तन करो। भगवान के पवित्र नामों का सदा जप करते रहो। भगवान के तत्त्व का स्मरण करो। खूब प्रसन्नता के साथ भगवान के चरण-कमलों की परिचर्या करो। भगवान के पूजन, स्तुति आदि में सदा तत्पर रहो। इस प्रकार भगवान की असीम निष्कलङ्क भक्ति का सम्पादन करो।

सेवकभाव से भगवान को इस प्रकार जानो कि "मैं संसारी जीव हूं, मैं सुखी, दुःखी, अल्पज्ञ,

सुखी, दुःखी, अल्पज्ञः, परतन्त्रः, कर्त्ता, भोक्ताऽस्मि। त्वन्तु सर्वज्ञः, स्वतन्त्रोऽकर्त्ता, अभोक्ताऽसंसारी। सच्चिदानन्दघनः सर्वनियामकः करुणानिधिरसि। अतो दास्यभावेन तं सर्वेश्वरं स्वामिनमनवरतमित्थं प्रार्थय। दीनस्वरेण दीननाथं दयानिधिमिदं याचस्व।

परतन्त्र और कर्म-कर्त्ता तथा फल-भोक्ता हूं और आप तो सर्वज्ञ, स्वतन्त्र हैं। आप कर्म-कर्त्ता भी नहीं हैं और फल-भोक्ता भी नहीं हैं। आप संसारी नहीं हैं। आप तो सत्-चित्त-आनन्द मय हैं, सबके अपने अपने कर्मानुसार आप शासक हैं, आप दया के समुद्र हैं।" इस प्रकार सबके ईश्वर उस स्वामी की सदा दासभाव से प्रार्थना करो। उस दयानिधि दीनजन के स्वामी से दीन स्वर से इस प्रकार याचना करो कि

हे परमात्मन्! हे भक्तप्रिय! करुणाकर! देवाधिदेव! सर्वाभीष्टप्रद! पापहारिन्! हे विश्वम्भर! इयन्तमेवार्थं त्वामहं याचे यद्भवच्चरणसरोजे मम जन्मनि जन्मनि भवत्प्रसादाद्भक्तिरस्तु। कान्ताकनकाद्यासक्तानां यथा तेष्वभंगुरा प्रीतिस्तथा तव मञ्जुलचरणयोर्मेऽस्तु सदा। उक्तं हि :—

हे परमात्मन्! हे भक्तप्रिय! हे करुणाकर! हे देवताओं के भी देवता! हे सर्व अभिलषित पदार्थों के देने वाले! हे पाप-मोचन! हे विश्वम्भर! मैं आप से केवल यही याचना करता हूं कि आप की दया से मेरे प्रत्येक जन्म में आपके चरण-कमल में मेरी भक्ति हो। कान्ता (स्त्री) कनक (सुवर्ण) आदि पदार्थों में आसक्त पुरुषों का जैसे उनमें स्थायी प्रेम रहता है वैसे ही आपके सुन्दर चरणों में सदा मेरी प्रीति बनी रहे। क्योंकि कहा गया है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु॥"
इति विष्णुपुराणम्

हे हृदयगुहावासिन्! त्वच्चरणाम्भोजभक्तिरसायनं ये पिबन्ति, ते संसारे न मुह्यन्ति। हे प्रभो! मम यज्ञदानादिकरणेनामुष्मिकवित्तसम्पादनेऽथवैहिकवित्तसम्पादने

'अविवेकी पुरुषों की जो अटल प्रीति विषयों में रहती है वह प्रीति आपके स्मरण करते हुए मेरे हृदय से न हटे॥" "विष्णुपुराण"

हे प्राणियों के हृदयरूपी गुहा में रहने वाले! जो प्राणी आपके चरण-कमल की भक्तिरूपी रसायन (महौषध) का पान करते हैं वे संसार में मोहित नहीं होते हैं।

हे प्रभो! यज्ञ, दान आदि साधनों के द्वारा पारलौकिक धन के सम्पादन करने में अथवा

कामोपभोगे यशसि वा प्रवृत्तिर्माऽस्तु। यद्य-
द्भव्यं पूर्वकर्मानुरूपं तत्तद्भवतु नाम। तत्र
किमर्थो ऽव्यवसायः ? ऽव्यवसायस्तु ममास्तु
नितरां तव चरणस्मरणकर्मणि। मम निवासः
स्वर्गे वा नरके वा भुवि वा पाताले वा भवतु।
देवत्वं नरत्वं कीटत्वं पशुत्वं वा मम भवतु।

ऐहिलौकिक धन-सम्पादन करने में, कामनाओं के उपभोग में या यश में मेरी अभिरुचि न रहे। पूर्व जन्म के अनुसार जो होनहार है वह होवे। क्यों उसमें प्रयत्न करना है। मेरा प्रयत्न तो आपके चरणों के स्मरण करने में बना रहे।

स्वर्ग में या नरक में मेरा निवास हो, मर्त्य-लोक में अथवा पाताल में हो। देव, मनुष्य, कीट-पतङ्ग, पशु जो कुछ भी मैं बनूं किन्तु प्रत्येक

तत्तल्लोकेषु तत्तच्छरीरेषु सर्वेष्वपि यदि त्वच्च-
रणाम्भोजभक्तिर्निश्चला मम हृदि स्यात्,
तर्हि लोकभेदेन शरीरभेदेन वा किं भवेत्।
तथा चोक्तं भगवत्पादैः—
"नरत्वं देवत्वं नगवनमृगत्वं मशकता,
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादिजननम्।
सदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरी-

लोक में प्रत्येक शरीर में भी यदि आप के चरण-कमलों की निश्चल भक्ति मेरे हृदय में बनी रहे तो किसी लोक में निवास करने से या किसी शरीर के होने से ही क्या हानि हो सकती है। परम पूज्य श्री शङ्कराचार्य ने भी वैसा कहा है-

मनुष्यत्व या देवत्व प्राप्त हो अथवा पर्वत के जंगलों का मृगत्व ही क्यों न हो या मच्छर, पशु, कीट हों अथवा पक्षी आदि की योनि ही क्यों न मिले किन्तु आपके चरण-कमल के स्मरण करने

विहारासक्तं चेद्धृदयमिह किन्तेन वपुषा ॥"

इति "शिवानन्दलहरी"

तिरस्कृत्य सर्वचिन्तनं, त्वच्चरणौ मरणेऽपि जन्मजन्मान्तरेष्वप्यहं चिन्तयेयमिति-तदर्थमनुग्रहं कुरु। सामर्थ्यं देहि। मम वृत्तिः परमात्मन्यपारकरुणासिन्धौ त्वय्येव रमताम्। भगवच्चरणस्मरणाऽमृतेन तुल्यमपरं सुखतर-

---

से उत्पन्न जो असीम आनन्द है उसकी लहर में विहार करने के लिये यदि हृदय लव-लीन हो तो उस शरीर से क्या हानि है ?" 'शिवानन्दलहरी'

समस्त वस्तुओं का चिन्तन छोड़ कर केवल आपके चरणों का मैं मृत्यु-काल में और जन्म-जन्मान्तर में भी चिन्तन करूं ऐसा आप अनुग्रह करें। हे प्रभो ! शक्ति प्रदान करो। अपार करुणा के सिन्धुरूप आप ही में मेरी वृत्ति रमण करे। भगवान के चरण के स्मरणरूपी अमृत के समान

महं किञ्चिदपि न जाने । ततो विषयध्यानतो मां निवर्तय ।

यत उक्तम्:—

"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥"

इति "श्रीमद्भागवतम्"

अहो ! विषयध्यानं तद्भोगश्चातिमात्र-

मैं अन्य किसी को भी महान् सुख-कर नहीं जानता हूं इस लिये विषयों के ध्यान से मुझे निवृत्त करो । क्योंकि कहा गया है-

"विषयों के ध्यानं करने से चित्त विषयों में आसक्त होता है और मेरे ध्यान करने से चित्त मुझ भगवान ही में लीन हो जाता है ॥"

"श्रीमद्भागवत"

यह कैसा आश्चर्य है कि विषयों का चिन्तन और विषय-भोग अत्यन्त दुःख के हेतु हैं यह

दुःखहेतुरिति जानन्नपि ततो निवर्तितुमहं न प्रभवामि। पापप्रेरणया तत्र पुनःपुनः प्रवृत्तिर्मम जायते। हन्त! हन्तैवमघनिधेर्मोघयत्नस्य मोघाऽशास्य मोघज्ञानस्य मम, हे पाप हारिन्! त्वत्कृपैव शरणं, नान्या गतिः। अतो हे गोविन्द! हे प्रभो! विषयवासनाकालुष्यान्मां सर्वतः सर्वदा पाहि।

जानता हुआ भी मैं उनसे निवृत्त नहीं होता हूं। पापों की प्रेरणा से उन विषयों में बार-बार मेरी प्रवृत्ति होती है। बड़े खेद की बात है कि मैं पाप की खान हूं, मेरा प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी आशा व्यर्थ है, मेरा ज्ञान व्यर्थ है। हे पाप-मोचन! आप की दया ही शरण है। अन्य गति नहीं है, इस लिये हे गोविन्द! हे प्रभो! विषयों की वासनारूपी पाप से सदा और सर्वथा मेरी रक्षा करें। हे वाञ्छित पदार्थ देने वाले! हे

हे कामद ! करुणानिधे ! भवद्दासोपरि करुणादृष्टिः सर्वदा भवतु ! द्वन्द्वसमीराहतानां पुत्रकलत्राभारकर्शितानां भवसागरगतानां नराणां शरणं त्वमेव पोतरूपेण भवसि भवेऽस्मिन् । अपराधशतसंख्याप्तं भीमभवार्णवे पतितमगतिं शरणागतं संसारदावानलतापतप्तं मां प्रभो ! अव । संसारदुःखघाति-

---

करुणानिधे ! आपके इस दास पर करुणा दृष्टि सदा बनी रहे । सांसारिक दुःख-द्वन्द्वरूपी वायु से आहत और पुत्र-कलत्र के भार से खिन्न तथा संसाररूपी समुद्र में पड़े हुए मनुष्यों को नौका स्थानीय आप ही इस जगत में शरण हैं ।

हे प्रभो ! मैंने सैकड़ों अपराध कर डाला है। मैं संसाररूपी भयानक समुद्र में गिरा हूं । मेरा कोई सहारा नहीं है । मैं संसाररूपी दावानल के परिताप से तप्त हूं । मैं आप के शरणागत हूं।

मातनुष्व । एतं भवसिन्धुं कथं तरेयम् ? का वा मे गतिः ? कतमो मेऽस्त्युपायः ? हे हरे ! अहं न जाने किञ्चित् । त्वमेव मां रक्ष, त्वमेव मे शरणं, त्वामेवाहमाश्रयामि । अव माम् । अव माम् ।

"इतः परन्त्वच्चरणारविन्दयोः,
स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये ।

मेरी रक्षा करें । संसार की यातनाओं को हटाओ। इस संसार-समुद्र को कैसे पार करूंगा ! कौन मेरा सहारा होगा ! कौन सा मेरा उद्योग है ! हे भगवान् ! मैं कुछ भी नहीं जानता हूं । आप ही शरण हैं । मैं आप ही के आश्रय में हूं । मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये ।

"संसार से निवृत्ति पाने के लिये अब से आप के चरण-कमलों की स्मृति सदा मेरी बनी रहे ।

त्वन्नामसङ्कीर्तनमेव वाणी,
करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम् ॥
कथामृतं पातु करद्वयं ते,
पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात् ।
शिरश्च ते पादयुगप्रणामं,
करोतु नित्यं भवदीयमेवम् ॥"

इति "अ० रा०"

यद्विराधेन सर्वदा सर्वेन्द्रियैस्तव सेवनं

मेरी वाणी केवल आपके नाम का सम्यक् कीर्तन करे, मेरे कर्ण आपकी कथारूपी अमृत का केवल पान करते रहें। मेरे दोनों हस्त केवल आपके चरण-कमलों के पूजन करते रहें और मेरा मस्तक भी आपके दोनों चरणों को ही नित्य प्रणाम करता रहे ॥"

इति "अ० रा०"

हे करुणासिन्धु ! विराध ने समस्त इन्द्रियों

सम्प्रार्थितं तन्मह्यमपि दयया देहि। हे करुणासिन्धो ! कारुण्यपूर्णदृष्ट्या निरीक्ष्य अभीतिं देहि। हे प्रभो ! सन्तप्तं भवतापदाव-दहनज्वालाभिर्मां रक्षय। हे नतलोकबन्धो ! कारुण्यसिन्धो ! भवाब्धौ पतितमात्मीय-कटाक्षपातेन मां भीतं प्रपन्नं मृत्योः परि-

---

द्वारा आपकी जिस सार्वदिक सेवा की याचना की थी वही आपकी सेवा मुझे भी प्राप्त हो। करुणा-पूर्ण दृष्टि से देख कर आप अभय प्रदान करें। हे प्रभो ! संसार के तापरूपी दावानल (वन की आग) की ज्वालाओं से मेरी रक्षा करें। हे भक्त-बन्धु ! हे करुणा-सिन्धु ! संसाररूपी समुद्र में गिर चुका हूं, मैं त्रस्त और आपकी शरणागत हूं, अपनी किञ्चित् दृष्टि-पात के द्वारा मृत्यु से मेरी रक्षा करें क्योंकि मैं किसी अन्य को

पाहि। शरण्यमन्यद्यदहं न जाने।

मनसा यन्मया चिन्तितं वचसा यदुक्तं करचरणादिभिर्यद्विचेष्टितम्, निशासु दिवसेषु च यत्कृतं, तत्सर्वं तवार्चनमेव भूयात्। सम्पुटीकृतेनाञ्जलिना, नतेन शिरसा, रोमोद्गमैर्गात्रैः, स्वरगद्गदेन कण्ठेन, बाष्पाम्बुपूर्णेन नयनेन, त्वच्चरणयुगलध्यानसुधाऽस्वादमत्तया

शरणागत-वत्सल नहीं जानता हूं।

मैंने मन से जो चिन्तन किया है, वाणी के द्वारा जो कुछ कथन किया है, हस्त-चरण प्रभृति से जो कुछ भी व्यापार किया है, रात में या दिन में जो कुछ भी किया है, सब कुछ आप के ही अर्चन हों।

कर-बद्ध अञ्जलि से, नम्रीभूत मस्तक से, रोमाञ्चित समस्त शरीर से, स्वर-गद्गद कण्ठ से, आंसू भरी आंखों से, आपके दोनों चरणों के

वृत्या चास्माकं जीवितं सततं सम्पद्यताम् ।
हे भगवन् ! लोकाः सुधां परित्यज्य विषं पिबन्ति । भागवतानि पवित्रनामानि त्यक्त्वा मूर्खा अनुपकारान् ग्रन्थान् पठन्ति । धिक् तान् । हे वेदवेदान्तवेद्य ! मम प्रयाणसमयेऽयाच्यमक्रय्यमक्षय्यं पापहरं मोक्षदं तव नामामृतं मम वृत्तिर्वाक् च पिबतु ।

ध्यान रूपी अमृत के आस्वाद से मत्त (तन्मय) अन्तःकरण की वृत्ति से सदा हमारा जीवन सम्पन्न रहे ।

हे भगवन् ! लोग अमृत का परित्याग कर के विष का पान करते हैं । मूर्ख लोग भगवान के पवित्र नामों को छोड़ कर उपकार नहीं करने वाले ग्रन्थों को पढ़ते हैं, ऐसे लोगों को धिक्कार है । हे वेद-वेदान्त के द्वारा जानने योग्य ! मेरी चित्तवृत्ति और मेरी वाणी अन्त समय में आपके अयाचनीय, अक्रेय, अविनाशी, पाप-नाशक और मोक्ष-प्रद नाम

हे जगदन्तरात्मन् ! तुभ्यमनन्तनमस्कारवचनमस्तु । मनसा वाचा कर्मणा च त्वां भक्त्या प्रणमामि । हे परात्मन् ! त्वं ब्रह्मणोऽप्यादिकर्ताऽसि । हे अनन्तदेवेश ! जगन्निवास ! त्वमक्षरोऽसि, वेदान्तेषु श्रूयते यत्तत् त्वं सतोऽसतश्च परोऽसि । त्वमादिदेवोऽसि । जगतः स्रष्टासि । सर्वासु पूर्षु शय·

रूपी अमृत का पान करे । हे जगत के अन्तरात्मा! आपके लिये असंख्य नमस्कार के वचन हों । मन से, वचन से और कर्म से भक्ति-पूर्वक मैं आप को प्रणाम करता हूं । हे परमात्मा ! आप ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं । हे अनन्त देवेश ! हे जगत के आधार ! आप अविनाशी हैं, वेदान्त शास्त्रों में जो सुना जाता है वही आप सत् और असत् के परे हैं । आप आदि देव हैं । आप जगत के उत्पादक हैं । समस्त पुर में (शरीरों में)

नात् त्वमेव पुरुषोऽसि। चिरन्तनस्त्वमेवाऽसि। अस्य विश्वस्य प्रकृष्टं निधानमपि त्वमसि। त्वं सर्वस्यैव वेद्यजातस्य वेदिताऽसि। यच्च वेदनार्हमस्ति तदपि त्वमसि। हे देवेश! त्वयेदं समस्तं व्याप्तम्। हे अनन्तरूपात्मन्! तव रूपाणामन्तो नास्ति। त्वं वायुरसि। त्वं यमोऽसि। त्वमपांपतिर्वरुणोऽसि। त्वं

शयन करने अर्थात् रहने से आपकी पुरुष संज्ञा है। आप ही सनातन हैं। इस विश्व का सर्व उत्कृष्ट निधि भी आप ही हैं। आप समस्त वस्तु के ज्ञाता हैं और जो जानने योग्य है वह भी आप ही हैं। हे देवों के ईश! आप से यह सारा जगत् व्याप्त है। हे अनन्त स्वरूपात्मा! आप के रूपों का अन्त नहीं है। आप वायु हैं। आप यम हैं। आप जल के स्वामी वरुण हैं। आप चन्द्र हैं।

चन्द्रमा असि। त्वं कश्यपादिः प्रजापतिरसि। अनेकसहस्रं भूयोऽभूयोऽपि नमोनमस्ते। त्वदन्या मम गतिर्नास्ति। श्रद्धाभक्त्यातिशयेनाऽपरितोषेण च भूयो भूयस्त्वां नमस्करोमि। पूर्वस्यां दिशि तुभ्यं नमः, पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः, सर्वासु दिक्षु तुभ्यं नमः। मलीमसमनस्तया पुत्रकलत्रादिषु धनमानादिषु

आप कश्यप आदि प्रजापति हैं। बार-बार आपको सहस्रों नमस्कार हों। आपके सिवाय मेरी गति नहीं है। मैं श्रद्धा और भक्ति-भाव से आपको बार-बार अतृप्त रूप से नमस्कार करता हूं। पूर्व दिशा में आपको नमस्कार है। पृष्ठ-भाग में भी आपको नमस्कार है। सारी दिशाओं में आपको नमस्कार है। अत्यन्त मलिन मन रहने के कारण पुत्र-स्त्री आदि तथा धन-मान आदि में आसक्ति

चासक्त्या त्वच्चरणाम्बुजस्मृतिमन्तरेण यत् किञ्चिदागः कृतवान् तत् सर्वं हे अच्युत ! क्षमस्व । नीचैः शरीरं कृत्वा त्वामीशितारमीड्यं प्रणमामि पुत्रस्यापराधं पिता यथा क्षमते, यथा प्रियाया अपराधं प्रियः क्षमते, तथैव मेऽपराधं त्वं क्षन्तुमर्हसि ।

त्वं शरणागतवत्सलोऽसि, त्वं निजभक्तदुःखहरोऽसि । त्वं कामारिरसि, त्वं

रहने के कारण आपके चरण-कमलों के स्मरण नहीं करके मैंने जो अपराध किये हैं, हे अच्युत ! उन्हें आप क्षमा करें । शासक और स्तुति-योग्य आपको मैं दण्डवत् प्रणाम करता हूं । जैसे पुत्र के अपराध को पिता क्षमा करता है, पत्नी के अपराध को पति क्षमा करता है वैसे ही आप मेरे अपराध को क्षमा करें ।

आप शरणागत-वत्सल हैं । आप अपने भक्त के दुःखों का हरण करने वाले हैं । आप काम के

शत्रुनाशकोऽसि, त्वं बलानामपि बलमसि, इति श्रुत्वा मत्वा त्वामेव नितरां शरणं प्राप्तुमिच्छामि। मां रक्ष रक्ष। कामक्रोधलोभमात्सर्यादिशत्रुभ्यो मां नितान्तं रक्षय। तव स्मरणकीर्तनादिभिर्ममायुर्व्यतिगच्छतु। हे हरे! मामचिरेणात्मसात्कुरु।

एवं द्रुतभावेन निरन्तरं प्रार्थयत् भो

शत्रु हैं। आप शत्रु-नाशक हैं। आप बलों के भी बल हैं। यह सम्पूर्ण शास्त्रों में सुनने और मनन करने से मैं आप ही की शरण पाने की सर्वथा इच्छा करता हूं। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या आदि शत्रुओं से मेरी सर्वथा रक्षा करें। आपके स्मरण और कीर्तन आदि करने में ही मेरी आयु बीत जाय। हे हरे! आप शीघ्र ही मुझे अपने में लीन कर लें।

हे चित्त! इस प्रकार विनम्रभाव से सदा प्रार्थना

चेतस्त्वम्भगवदेकपरं भव । भगवदेकपरायणं भव । भगवन्मञ्जुलस्वरूपैकस्मृति भगवदेकजीवनं भगवदेकप्रमोदञ्च भव । अपि च भगवदेकरति भगवदेकक्रीडं भगवदेकसन्तोषञ्च भव । एवं भगवद्भक्तिरसास्वादरसिकं भव । भक्तिसाम्राज्यसम्राड् भव । भगवत्स्मृति-

---

करते हुए एकमात्र भगवान में तत्पर हो जाओ । एकमात्र भगवान में ही लव-लीन रहो । केवल भगवान के सुन्दर रूप का ही स्मरणशील बनो, भगवान में ही एकमात्र जीवन, भगवान में ही एकमात्र प्रमोदशील बनो और भगवान में ही एकमात्र प्रेम, भगवान में ही एकमात्र क्रीड़ा और भगवान में ही एकमात्र सन्तोष-शील बनो । इस प्रकार भगवद्भक्ति के रस के आस्वादन करने का रसिक हो जाओ । तुम भगवान की भक्तिरूपी विशाल राज्य के सम्राट् बनो । भगवान की प्रति-

सन्तानसंमोदसुधां नितरां पिब। यदि च भावबलेन भगवतो नितान्तचिन्तने त्वमसमर्थस्तर्हि पतञ्जलिप्रोक्ताष्टाङ्गयोगसाधनेनाऽपि क्रमश आत्मानं स्वाधीनीकृत्य तस्मिन्निरोद्धुं नितरां प्रयतस्व।

भगवन्नामसुधाञ्च सुतरामितरानपेक्ष-

पल स्मृति के आनन्द रूप अमृत का पान अच्छी तरह करो। यदि तुम भक्ति-भाव के द्वारा सुचारु रूप से भगवान के चिन्तन करने में असमर्थ हो तो पतञ्जलि के द्वारा कथित अष्टाङ्ग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) साधन के द्वारा भी क्रमशः अपने को अधीन कर के विषयों से निरोध करने का अच्छी तरह प्रयत्न करो।

अन्य किसी की अपेक्षा न रख कर केवल भगवान के नाम रूपी अमृत का स्वाद लेते रहो।

मास्वादय। नामजपयज्ञस्तु सुकरोमहत्तरश्चेति विद्धि। द्रव्यादियज्ञेभ्यः श्रेष्ठतरः फलवत्तरश्च जपयज्ञः।

उक्तं हि भगवता—

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" इति।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्"

इति सूत्रितञ्च महर्षिणा श्रीपतञ्जलिना

भगवान के नाम का जपरूप यज्ञ सरल और बड़ा महत्त्वपूर्ण है यह जानो। द्रव्य आदि के द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञों की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ और उत्कृष्ट फल-जनक जप यज्ञ है। श्री भगवान ने कहा है—"सब यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूं।"

"भगवान के नाम का जप करना और उसके अर्थ का मनन करना चाहिये।" यह महर्षि श्री पतञ्जलि ने भगवान के नाम का जप-माहात्म्य-

भगवन्नामजपमाहात्म्यम् । तस्मात् परमेश्वर-नामजपकर्मणि विशेषतः प्रवर्तस्व । जपयज्ञा-नुष्ठाननिष्ठया प्रेष्ठतमं परमेष्ठिवन्द्यं परमात्मानं प्राप्तुं नियतं प्रयतस्व ।

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

वर्णन सूत्र द्वारा किया है । इस लिये परमेश्वर के नाम के जप-कर्म में विशेष रूप से प्रवृत्त हो जाओ । ब्रह्मा से भी वन्दनीय परम प्रिय पर-मात्मा को प्राप्त करने के लिये जप-यज्ञ के द्वारा नियमित रूप से प्रयत्न करो ।

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण वासुदेव !"
"गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे,
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण !
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे,
गोविन्द गोविन्द नमामि नित्यम् ॥"

इत्यादीनां भगवन्नाम्नां प्रेमाऽवेशेन निरन्तरं जपं कुरु।

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण वासुदेव !"
"गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे,
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण !
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे,
गोविन्द गोविन्द नमामि नित्यम् ॥"

इत्यादि भगवान के नामों का अत्यन्त प्रेम से निरन्तर जप करो।

"रामनामजपतां कुतो भयं,
सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ,
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥"

इति प्रह्लादवचनमनुस्मृत्य भगवन्नामजपे श्रद्धामव्यभिचारिणीं निष्ठाञ्चानुतिष्ठ। अथ च—

"समस्त दुःखों के नाश करने के लिये एक मात्र औषधस्वरूप "राम नाम" जप करने वालों को किससे भय हो सकता है ? हे पिता ! देखिये कि मेरे शरीर के समीप-वर्ती अग्नि भी जल की तरह अभी शीतल हो रही है ।"

प्रह्लाद के उक्त वचन का स्मरण करके भगवान के नाम-जप में श्रद्धा और निश्चल निष्ठा करो । फिर भी—

"अविनयमपनय विष्णो दमय,
मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय
संसारसागरतः ॥ १ ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमल–
परिभोगसच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभय–

"हे व्यापक भगवन्! मेरे अविनय को दूर कीजिये, मन का दमन कीजिये, विषयरूपी मृग-तृष्णा का शमन कीजिये, प्राणियों पर दया का विस्तार करें, मुझे संसाररूपी समुद्र से उबार दें॥ १ ॥

"भगवान के जिन चरण-कमलों का पराग स्वर्ग की गंगा है, जिनकी सुगन्धि का विस्तार सत्-चित्-आनन्दरूप है, जो संसार के भय-जन्य दुःखों का उच्छेद करने वाले हैं उन चरण-कमलों

खेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥

सत्यपि भेदापगमे नाथ !
तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन
समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥

उद्धृतनग नगभिदनुज दनुज-
कुलामित्र मित्र-शशिदृष्टे ।

की मैं वन्दना करता हूं ॥ २ ॥

हे नाथ ! हमारे आपके बीच में किसी प्रकार के भेद नहीं रहने पर भी मैं आपका हूं किन्तु आप मेरे हैं यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि समुद्र की तरङ्ग होती है किन्तु तरङ्ग का समुद्र नहीं होता है ॥ ३ ॥

हे गोवर्द्धन पर्वत के उद्धारक ! हे इन्द्र के कनिष्ठ भ्राता ! हे दानव कुल के शत्रु ! परम प्रकाशक सूर्य और चन्द्रमा भी आपका दर्शन

दृष्टे भवति प्रभवति न भवति,
किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतार-
वताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्योभवता,
भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दर-
वदनारविन्द गोविन्द ।

करते हैं ऐसे ऐश्वर्यशाली आपके दर्शन होने पर क्या संसार का उच्छेद नहीं हो सकता है ?॥४॥

हे परमेश्वर ! आप मत्स्य आदि अवतारों के द्वारा अवतीर्ण हो कर सदा पृथिवी का पालन किया है, मैं संसार के तापों से भीत हूं, आप मेरा पालन करें ॥ ५ ॥

हे दामोदर ! हे गुण के भाजन ! हे कमल के समान सुन्दर मुख वाले ! हे गोविन्द ! हे

भवजलधिमथनमन्दर,
परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥
नारायण करुणामय शरणं,
करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये
वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥"

"षट्पदी"

संसाररूपी समुद्र के मन्थन करने के लिये मन्दराचल के समान ! मेरे असह्य ताप को दूर करें ॥ ६ ॥

हे नारायण ! हे करुणामय ! आपके दोनों चरणों को मैं अपनी शरण बनाता हूं, यह स्तोत्र, जो षट्पदी नाम से प्रसिद्ध है, मेरे मुख-कमल में सदा निवास करे । (षट्पदी अर्थात् भ्रमरी का कमल में निवास करना प्रसिद्ध है) ॥ ७ ॥"

"षट्पदी"

"गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापं,
गौरीनिरन्तरविभूषितवामभागम् ।
नारायणप्रियमनङ्गमदापहारं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥१॥
वाचामगोचरमनेकगुणस्वरूपं,
वागीशविष्णुसुरसेवितपादपीठम् ।
वामेन विग्रहवरेण कलत्रवन्तं,

"जिनका जटा-जूट श्री गंगाजी की तरङ्गों से शोभायमान है। जिनका वाम भाग पार्वती से सुशोभित है। जो विष्णु भगवान के प्रिय हैं और कामदेव के गर्व को चूर्ण करने वाले हैं, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥१॥

जो वाणी के अगोचर हैं। जो असंख्य गुणों की मूर्त्ति हैं। बृहस्पति, विष्णु देवगण से जिनका सिंहासन सेवित है। जिनका वाम भाग नारी-

वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥२॥
भूताधिपं भुजगभूषणभूषिताङ्गं,
व्याघ्राजिनाम्बरधरं जटिलं त्रिनेत्रम्।
पाशांकुशाभयवरप्रदशूलपाणिं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥३॥
शीतांशुशोभितकिरीटविराजमानं,

मय है ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ २ ॥

जो भूत-प्रेत गण के राजा हैं। जिनके शरीर में सर्प का भूषण है। जो बाघम्बर और मृगछाला रूपी वस्त्र धारण करने वाले हैं। जो जटाधारी और त्रिनेत्र हैं। जिनके हाथों में फांस, अङ्कुश, अभय, वर और त्रिशूल विराजमान हैं ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥३॥

जिनका किरीट (ताज) चन्द्रमा से सुशोभित हो कर विराजमान हो रहा है। जिन्होंने

भालेक्षणानलविशोषितपञ्चबाणम् ।
नागाधिपारचितभासुरकर्णपूरं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥४॥
पञ्चाननं दुरितमत्तमतङ्गजानां,
नागान्तकं दनुजपुङ्गवपन्नगानाम् ।
दावानलं मरणशोकजराटवीनां,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥५॥

अपने ललाट-स्थित नेत्र रूपी अग्नि से कामदेव को जला डाला । जिनका चमकीला कर्णपूर (कर्ण-भूषण) सर्प-राज का बना हुआ है, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥४॥

पापरूपी मतवाले हाथियों के लिये जो सिंह हैं । भयंकर दानव रूपी सर्पों के लिये जो गरुड़जी हैं । मृत्यु, शोक, बृद्धावस्था रूपी महावन के लिये जो दावानल (बन की आग) हैं, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥५॥

तेजोमयं सगुणनिर्गुणमद्वितीय-
मानन्दकन्दमपराजितमप्रमेयम् ।
नागात्मकं सकलनिष्कलमात्मरूपं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥६॥
आशां विहाय परिहृत्य परस्य निन्दां,
पापे रतिञ्च सुनिवार्य मनः समाधौ ।
आदाय हृत्कमलमध्यगतं परेशं,

जो तेजमय हैं। जो सगुण तथा निर्गुण भी हैं। जो एक हैं, आनन्द-कन्द हैं, अजेय और अज्ञेय हैं। जो शेष स्वरूप (शेषनाग भगवान्) हैं। जो सर्वथा उपाधि-रहित हैं ऐसे आत्मस्वरूप काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥६॥

आशा का परित्याग कर के दूसरों की निन्दा और पाप की प्रवृत्ति छोड़ कर विषयों से मन को रोक कर उसे समाधि में ला कर हृदयरूपी कमल

वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥७॥
रागादिदोषरहितं स्वजनानुराग,
वैराग्यशान्तिनिलयं गिरिजासहायम्।
माधुर्यधैर्यसुभगं गरलाभिरामं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥८॥
वाराणसीपुरपतेः स्तवनं शिवस्य,
व्याख्यातमष्टकमिदं पठते मनुष्यः।

के मध्य-स्थित काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ ७ ॥

जो राग आदि दोषों से रहित हैं। जो अपने भक्त जन के लिये प्रेम, वैराग्य और शान्ति के आलय हैं। जो गिरिजा-सहित हैं। जो धैर्यरूपी माधुरी से रमणीय हैं। कण्ठ में विष-चिन्ह रहने से जो सुन्दर हैं ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ ८ ॥

जो मनुष्य काशी-पति शिवजी के सम्यंक् उक्त इस "अष्टक" स्तोत्र का पठन करता है वह

विद्यां श्रियं विपुलसौख्यमनन्तकीर्तिं,
सम्प्राप्य देहविलये लभते च मोक्षम् ॥९॥
व्यासाष्टकमिदं पुण्यं यः पठेच्छिवसन्निधौ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते ॥१०॥"

इति "विश्वनाथाष्टकम्"

"शिवा शान्ता शीता हरिपदयशोभूतिरतुला,

विद्या, लक्ष्मी, अत्यधिक सुख और अनन्त कीर्त्ति को प्राप्त करके इस शरीर के अन्त होने पर मोक्ष लाभ करता है ॥९॥

जो मनुष्य पुण्य-प्रद व्यास-कथित इस 'अष्टक' का पाठ शिवजी के समीप में करता है वह शिवलोक को प्राप्त करता है और शिवजी के साथ आनन्दित रहता है ॥१०॥"

इति 'विश्वनाथाष्टक"

"जो गंगाजी शीतल, शान्त और कल्याण-स्वरूप हैं। जो विष्णु भगवान के चरणों की विभूति हैं। जो अतुलनीय, स्वप्रकाशरूप हैं। जो

स्वयं ज्योतिर्लक्ष्मीर्निरवधिसुखस्वादुमधुरा ।
सुधाधारासारा त्रिगुणपरिवारातिविमला,
चिदानन्दाकारा मम वसतु चित्ते त्रिपथगा।१।
निराकारा सृष्टेरभवदियमीशात्मनि पुरा,
जगद् दृष्ट्वा देवासुरनरमुखभ्रान्तिनिबिडम्।
निमग्नं दुःखाब्धौ दुरितरचितं वीक्ष्य कृपया,

लक्ष्मी हैं। जिनका अनन्त सुख का स्वाद मधुर है। जिनका प्रवाह का पतन अमृतमय है। सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण जिनके परिवार हैं। जो अत्यन्त निर्मल हैं और जो चैतन्य आनन्द-स्वरूप हैं। वह गंगाजी मेरे मन में निवास करें अर्थात् मैं उनका ध्यान करता रहूं ॥ १ ॥

जो गंगाजी सृष्टि के पहले निराकार रूप से परमात्मा में लीन थी। जो देव, असुर, मनुष्य प्रभृति को भ्रम-लीन तथा पाप-रचित दुःख रूपी समुद्र में मग्न देख कर कृपा करके उनके उद्धार

समुद्धर्तुं नीराकृतिमिहाविधायाविरभवत् ॥२॥
स्वयंसिद्धा संवित्प्रकृतिपुरुषेशाकृतिरजे
त्वमात्मा भूतानां परिमिततनूनां जनिभृताम्।
निजां शक्तिं चित्रां स्थिरचरजगद्धेतुमुचिताम्
प्रविश्येदं सर्वं नियमयासि भागीरथि सति!॥३॥
विधिर्विष्णुः शम्भुस्त्वमसि पुरुषत्वेन सकला,

करने के लिये अपना जलमय स्वरूप निर्माण कर के इस पृथ्वी पर प्रगट हुई ॥२॥

हे जन्म-रहिते! हे सति! हे भागीरथि! आप स्वयं सिद्ध चैतन्य रूप हैं। आपकी मूर्त्ति प्रकृति-पुरुष तथा ईश्वर की है। जन्म लेने वाले मध्यम परिमाण वाले जीवों की आप आत्मा हैं। आप चर-अचर जगत के अनुकूल हेतु भूत अपनी विचित्र शक्ति में प्रवेश कर के समस्त विश्व का नियन्त्रण करती हैं ॥३॥

हे जह्नु मुनि की पुत्रि! आप पुरुष-रूप में

रमोमागीर्मुख्या त्वमसि ललना जह्नुतनये !
निराकारागाधा भगवति सदा त्वं विहरसि,
क्षितौ नीराकारा हरसि जनतापान्स्वकृपया ।४।
त्रिधा भूत्वा गङ्गे दिवि भुवि च पातालभुवने,
सुरान्नॄन्नागादीन्निजजलगतान् पावयसि यान् ।
विशुद्धास्ते भूत्वा सुरनरभुजङ्गप्रभृतयः ।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं तथा स्त्री-रूप में आप कलाओं से पूर्ण लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती हैं । हे भगवति ! आप आकार से रहित, अपरिमित हैं । आप पृथिवी पर जल रूप हो कर सदा विहार करती हैं और अपनी कृपा से मनुष्य के तापों का हरण करती हैं ॥४॥

हे गंगे ! आप तीन रूप धारण कर के स्वर्ग में देव गण को पृथिवी पर मनुष्यों को और पाताल में नाग (सर्प) गण को अपने जल से स्पृष्ट कर के पवित्र करते हैं । वे सौभाग्यशाली देव, नर,

सुखं ब्रह्माखण्डं निरवधिपदं यान्ति सुभगाः ॥५॥

आदावादिपितामहस्य नियम-
व्यापारपात्रे जलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः-
पादोदकं पावनम्।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणि—
र्जन्होर्महर्षेरियं,
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती-

सर्प प्रभृति पाप-रहित हो कर अविच्छिन्न और शाश्वत ब्रह्मानन्द पद को प्राप्त करते हैं ॥५॥

जो गंगाजी पहले आदि ब्रह्मा के कमण्डलु के जल रूप थी, इसके पश्चात् शेष-शायी भगवान के पवित्र चरण-उदक हुई। पुनः जह्नु नाम की मुनि की पुत्री हो कर शिव की जटा के भूषण-मणि हुई, वही भगीरथ के द्वारा तपोबल से लायी गयी यह भगवती (भागीरथी गंगा) समस्त

भागीरथी भूतले ॥ ६ ॥

गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्।
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्॥७॥

पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि।
झङ्कारकारि हरिपादरजोऽपहारि,
गाङ्गं पुनातु सततं शुभकारि वारि।८।

पापों का हरण करने वाली हुई ॥६॥

विष्णु के चरणों से निःसृत तथा शिवजी के मस्तक पर विहरण-शील जो पाप-नाशक, मनोहर गंगा-जल है वह मुझे पवित्र करे ॥७॥

पापों का अपहरण करने वाला, दुरित-नाशक, तरङ्ग-युक्त, पर्वत पर संचरण करने वाला, हिमालय की गुफा को विदीर्ण करने वाला, झंकार शब्द से युक्त, विष्णु के चरणों की धूलि को हटाने वाला और कल्याण करने वाला गंगा-जल सदा पवित्र करे ॥ ८ ॥

गङ्गे मातर्नमस्तुभ्यं गङ्गे मातर्नमोनमः ।
पाविनी पतितानां त्वं पावनानांच पाविनी ॥९॥
नमस्तुभ्यं महाभागे भागीरथरथानुगे !
नमस्तुभ्यं जगन्नाथे गङ्गे त्रिपथगामिनी ॥१०॥"
"गङ्गास्तोत्रम्"

एवमाद्यगणितगुणमाहात्म्यस्य भगवतः

हे गंगे ! हे मातः ! आपको बार-बार नमस्कार है। आप पापियों को भी पवित्र करती हैं और धर्मात्माओं को भी पवित्र करती हैं ॥९॥

हे उत्कृष्ट ऐश्वर्यशालिनि ! हे भगीरथ के रथ के पीछे चलने वाली ! आपको नमस्कार है। हे जगत के स्वामिनि ! स्वर्ग-मर्त्य-पाताल इन तीन मार्गों पर चलने वाली हे गंगे ! आपको नमस्कार है ॥ १० ॥" इति

"गंगास्तोत्र"

इत्यादि असंख्य गुणों की महिमा से युक्त

स्तोत्रमपि यथारुचि नितरां पठ प्रेमगद्गदेन कण्ठेन।

एवं विधाभिर्भगवद्भजनक्रियाभिः स्वनुष्ठिताभिः संसारपारं गन्तुमिच्छ। संसारक्लेशान् संसारव्यापारांश्चातितरामातिगच्छ। स्वाधिकारानुरूपगुरूपदिष्टभगवत्स्वरूपाचिन्तनेन संसाराचिन्तनबाधनं कुरु। भगवद्गुणा-

---

भगवान के स्तोत्र का भी प्रेम-गद्गद् कण्ठ से सुचारु रूप से यथारुचि पाठ करो। अच्छी तरह किये गये इस प्रकार के भगवद्भजनों से संसार के पार जाने की इच्छा करो। सांसारिक क्लेशों और सांसारिक व्यापारों से बिलकुल बाहर हो जाओ। अपने अधिकार के अनुसार गुरु से उपदिष्ट भगवत्-स्वरूप के चिन्तन के द्वारा जगत्-चिन्तन को दूर भगाओ। भगवान के गुणों के कीर्तन के द्वारा

नुकीर्तनतः संसारगुणानुकीर्तनरोधनं कुरु। भगवत्कर्मसम्पादनेनेतरकर्मविसर्जनं कुरु। भगवदास्तित्वविचारपाटवाज्जागतिकाऽस्तित्व-बुद्धेरवसादनं कुरु। भगवदनुस्मरणनैपुण्ये-नेतराविस्मरणं कुरु। भगवन्नामोच्चारणेनापर-नामतिरस्करणं कुरु। परमप्रेमास्पदस्य श्रीभ-गवतः पवित्रप्रेममुग्धतया कलुषमय परिच्छि-

---

जगत के गुणानुकीर्तन को रोको। भगवत्-कर्म-सम्पादन के द्वारा अन्य कर्मों का विसर्जन करो। भगवान के अस्तित्व-विचार की पटुता के द्वारा जगत के अस्तित्व-ज्ञान का अन्त कर डालो। भगवान के अनुचिन्तन के चातुर्य से अन्य वस्तुओं को भूल जाओ। भगवान के नामों के उच्चारण के द्वारा अन्य नामों का तिरस्कार करो। परम प्रेम के भाजन श्रीभगवान के पवित्र प्रेम में मुग्ध रह कर पापमय, परिमित, परिवर्तन-शील और दुःख

न्नपरिणामिदुःखहेतुव्यक्तिगतप्रेम्णो बाधनं कुरु। भगवद्रूपभावनेन जाग्रज्जागतरूपापाकरणं कुरु। एवञ्च भगवद्भक्तिसाधनेन निरन्तरमनुष्ठीयमानेन—

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,

के हेतुभूत व्यक्तिगत प्रेम को बाधित करो। भगवान की भावना के द्वारा जाज्वल्यमान जगत के स्वरूप को तिरोहित (गायब) करो। फिर इस प्रकार भगवान की भक्तिरूपी साधन के द्वारा निरन्तर अनुष्ठान करने से—

"जिन्हें पंख नहीं जमे हैं, पक्षी के वे बच्चे जैसे अपनी माता को देखने के लिये उत्कंठित रहते हैं। भूखे बछड़े जैसे दुग्ध के लिये लालायित रहते हैं। विदेश-स्थित पति को देखने के लिये

मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥"

"भागवतम्"

इत्युक्तरीत्या प्रेमावेशजानितयाऽतिमात्र-व्याकुलताजानिकया दृढदर्शनोत्कण्ठया च भगवतः स्वरूपं त्वमचिरेण साक्षात्करिष्यसि। भगवान् स्वयमेव स्वकीयेन मञ्जुलरूपेण तवाक्षिपथमवतरिष्यति । तथा च तव भक्तिः

जैसे पत्नी उदास रहती है । हे कमल-नेत्र ! वैसे ही मेरा मन आपको देखने की अभिलाषा कर रहा है ॥"

"भागवत"

इस प्रकार कथित रीति से प्रेम के आवेश से उत्पन्न, अत्यन्त व्याकुलता को उत्पन्न करने वाली जो दृढ़ दर्शन की उत्कण्ठा है उसके द्वारा तुम शीघ्र ही भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार करोगे । स्वयं ही भगवान् अपने मनोहर मूर्ति से तुम्हारे दृष्टि-मार्ग पर अवतीर्ण हो जांयगे अर्थात्

सुतरां सफलीभविष्यति।

"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥"

"भागवतम्"

तुम्हें दर्शन दे देंगे। तब भगवत्-सम्बन्धी तुम्हारी भक्ति सर्वथा सफल हो जायगी।

"जिस भगवान के चरण की धूलि को प्राप्त करने वाले भक्त ब्रह्म-लोक के राज्य को नहीं चाहते हैं, इन्द्र के राज्य को नहीं चाहते हैं। समस्त पृथिवी के राज्य नहीं चाहते, रस के आधिपत्य को नहीं चाहते हैं। योग की सिद्धियों को नहीं चाहते हैं और मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं॥"

"भागवत"

इत्युक्तां प्रेमानन्दानुभवस्य परां काष्ठा-ञ्चाधिगमिष्यसि ।

"क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं,
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥"

"भागवतम्"

इस प्रकार उक्त प्रेमानन्द के अनुभव की पराकाष्ठा (सीमा) को तुम प्राप्त करोगे ।

"वे लोकोत्तर भक्त अच्युत भगवान का चिन्तन कर के कहीं रोते हैं, कहीं हंसते हैं, कहीं प्रसन्न होते हैं, कहीं बोलते हैं, कहीं नाचते हैं, कहीं गाते हैं, कहीं ध्यान करते हैं । इस प्रकार की भक्ति के द्वारा वे अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर के समस्त व्यापार से निवृत्त और शान्त हो जाते हैं ॥" "भागवत"

इत्येवं भगवत्प्रेमोन्मत्तदशाञ्च त्वमाशु सम्प्राप्स्यसि। तथा च परमात्मगातिञ्च त्वं गमिष्यसि। कामेन द्वेषेण च बहवः परमात्मपदं गताः। तर्हि भक्त्या त्वं परमपदमवश्यं व्रजिष्यसीति किमु वक्तव्यम्।

तथाचोक्तम् :—

"कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः

इस प्रकार भगवान में प्रेम-मग्न होने की अवस्था को तुम शीघ्र प्राप्त करोगे और परमात्मभाव को भी तुम प्राप्त करोगे। जब कि काम और द्वेष भाव से भी बहुत से लोग परमात्मा के पद को प्राप्त कर चुके हैं तब तुम भक्ति से परमपद प्राप्त करोगे इसमें कहना ही क्या है ? वैसा कहा भी गया है—

"भक्ति की तरह काम से, द्वेष से, भय से, स्नेह से परमात्मा में मन को लगा कर मन के पाप को दूर कर के बहुत लोग परमात्मभाव को

आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥"
इति "भागवतम्"

एतादृशं भक्तिभावस्य परमोत्कर्षमुपगतो मर्त्यो धन्यो मान्यः पूज्यश्च मर्त्या-

---

प्राप्त कर चुके हैं अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पा लिये हैं ॥"

"गोपियां भगवान में काम कर के, कंस भय से, शिशुपाल प्रभृति भूपगण द्वेष से, यादव गण संबन्ध से, आप लोग (पाण्डव) स्नेह से, हम लोग परमात्मा की भक्ति से परमात्मा को प्राप्त कर चुके हैं ॥" "भागवत"

भक्ति भाव की इस प्रकार की चरम अवस्था को प्राप्त मनुष्य धन्य है । मनुष्य और देवता सब का वह मान्य और पूज्य होता है यह तुम जानो।

मर्त्यैरिति विद्धि । यः कोऽपि वा हरि-भक्तो हरिवत् सुष्ठु पूजनीयो भवति। वयोवर्णाश्रमादयस्तु तादृशस्य पूजनं प्रति-बद्धुं न पर्याप्ता भवन्ति । अहो ! भक्ति-माहात्म्यम् ! हरिभक्तिस्त्वधममुत्तमयति । चाण्डालञ्च ब्राह्मणयति । तदुक्तम् :—

"अन्त्यजो वाधमोवाऽपि मूर्खोवा पतितोऽपि वा ।

जो कोई भी हो भगवान का भक्त भगवान की तरह सम्यक् पूजनीय है । बाल्य-यौवन आदि वय, ब्राह्मण आदि वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम भी वैसे महान् पुरुष के सत्कार को नहीं हटा सकते हैं। भक्ति की आश्चर्य महिमा है । भगवान की भक्ति तो नीच को उच्च बना देती है, चाण्डालको ब्राह्मण की तरह पूज्य बना देती है । वैसा कहा गया है—

"हे कृष्ण ! चाण्डाल हो अथवा नीच हो या

शिवं प्रपन्नश्चेत् कृष्ण पूज्यस्सर्वसुरासुरैः ॥"

"इति शिवपुराणम्"

"चाण्डालोऽपिमुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तोद्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपिश्वपचाधमः॥"

"इति च नारदपुराणम्"

एवं भक्तिप्रकर्षेण परमात्मानं परमात्म-

मूर्ख हो वा पतित भी हो, यदि वह शिवजी की शरण में प्राप्त है तो वह सुर-असुर सबसे पूज्य होता है।" इति "शिवपुराण"

"हे मुनि-श्रेष्ठ! यदि चाण्डाल भी विष्णु-भक्त हो तो वह द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) से अच्छा है और द्विज भी विष्णुभक्ति-रहित हो तो वह चाण्डाल से भी अधम (नीच) है॥"

इति च "नारदपुराण"

इस तरह भक्ति के आधिक्य से परमात्म-

त्वेनोपास्य, अथ च स्वात्मत्वेनापरोक्षीकृत्य कृत्यकृत्यो भवति पुरुषः।

तथा भक्तिप्राचुर्यान्निरस्तसमस्तमलं निर्विक्षेपं नितरामतिमात्रवैराग्यपूर्णं सुरसरिदुदकवदत्यन्तविशुद्धं परमात्मतत्त्वज्ञान–निष्ठायोग्यं ततश्च तन्निष्ठाद्वारा परमपुरुषार्थप्रापकञ्च सम्पद्यते तवाऽपि तत्त्वम्।

भाव से परमात्मा की उपासना कर के तब अपने आत्मरूप से उनका साक्षात्कार कर के मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वैसे भक्ति के प्राचुर्य से पाप-रहित, विक्षेप-रहित, सुचारु रूप से अत्यन्त वैराग्य-पूर्ण, गंगा-जल की तरह अत्यन्त पवित्र और परमात्मा के ज्ञान-निष्ठा योग्य और उस निष्ठा के द्वारा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला तत्त्व (ज्ञान) तुम्हें भी प्राप्त हो सकता है।

उक्तं हि :—

"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥"

"इति भागवतम्"

"अतोमद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यञ्च भवेच्छीघ्रं ततोमुक्तिमवाप्नुयात् ॥"

"इति अ० रा०"

कहा गया है—

"वासुदेव भगवान में किया गया भक्ति-योग जिस वैराग्य और ज्ञान को शीघ्र उत्पन्न करता है वह बिना किसी हेतु का ही उत्पन्न होता है ॥"

"भागवत"

"इस लिये जो मेरे भक्ति से युक्त हैं उन्हें ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य शीघ्र उत्पन्न होते हैं तब वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥"

इति "अ० रा०"

अतो यदि श्रेयोऽर्थी चेत्, तर्हि त्वं भगवति भक्तवत्सले निरातिशयां भक्तिं कुरु।

"रक्षोमण्डलखण्डपण्डितमहा-
वेतण्डशुण्डालस-
द्दोर्दण्डं निखिलाण्डपिण्डनकृतौ,
शौण्डं तथा मुण्डिभिः।
ध्येयं दण्डकमण्डलूपकरणै-
श्चण्डांशुवंशोद्भवं,

इस लिये यदि तुम कल्याण चाहने वाले हो तो तुम भक्त-प्रेमी भगवान में असीम भक्ति करो।

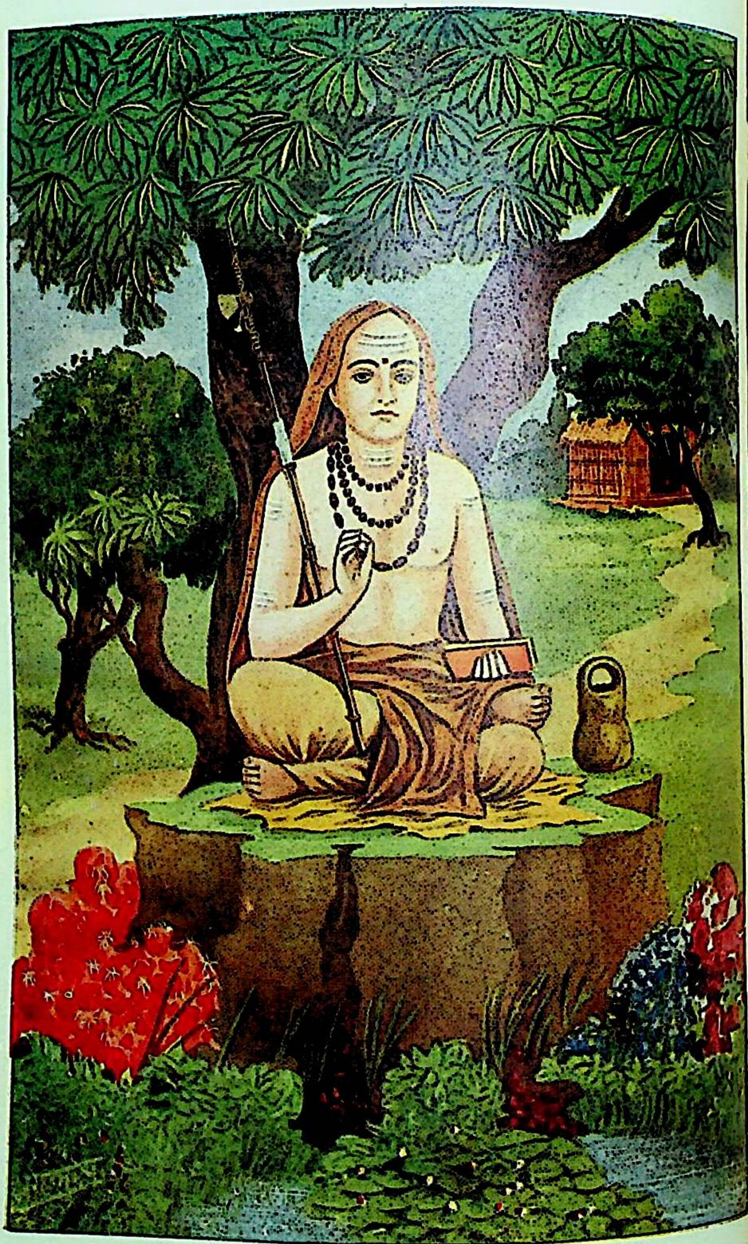
"जिनके बाहु-दण्ड (बाहें) राक्षस गण के विनाश करने में दक्ष, हस्ती की विशाल सूंढ़ की तरह विराजमान हैं। जो समस्त विश्व-निर्माण में चतुर और संन्यासियों के ध्येय हैं, जो दण्ड-कमण्डलु आदि उपकरणों से युक्त और सूर्य-

गण्डे कुण्डलमंडितं रघुपतिं
कोदण्डपाणिं भजे ॥"

इति भक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

वंश में उत्पन्न हैं। जिनका कपोल कुण्डलों से सुशोभित है और जिनके हाथ में धनुष है ऐसे रामचन्द्र का मैं भजन करता हूं ॥"

॥ इति भक्ति प्रकरण समाप्त ॥



भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

THE GITA PRESS, GORAKHPUR. No. 1046.

श्री गणेशाय नमः

अथ ज्ञानप्रकरणम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

"तरति शोकमात्मवित्"

"उसी ब्रह्म को वास्तव रूप से जान कर के मनुष्य मृत्यु के परे स्थान को अर्थात् शाश्वत पद को प्राप्त करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।"

"आत्म-ज्ञानी शोक से रहित हो जाता है।"

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"
"ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो ब्रह्मात्मैक्यविषयकं ज्ञानमेव चतुर्थपुरुषार्थस्य मोक्षस्य साक्षात्साधनमिति निश्चितोऽर्थः। तच्च ज्ञानं चित्तस्य परमां विशुद्धिमेकाग्रताञ्च विना न

"बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती है।"

"ज्ञानी पुरुष मुझ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।" "ज्ञानी मेरा स्वरूप ही है यह भगवान का मत है।"

इत्यादि श्रुति-स्मृति वचनों से यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म का अभेद-साक्षात्कार अर्थात् दोनों की एकता का ज्ञान ही, मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थका साक्षात् साधन है। वह ज्ञान भी बिना चित्त की विशुद्धि और एकाग्रता के नहीं हो

समुत्पद्यत इति कर्मणोपासनया च ते सम्पादनीये। निष्कामकर्मभिर्दानव्रततपोयज्ञादिभिर्वैराग्यसहिता विशुद्धिर्भवति। उपासनरूपया भक्त्या चैकाग्र्यं सम्भवति। विरागभावश्च पूर्वाधिकमत्यन्तं बर्द्धते। ततश्च ज्ञानाभ्यासाधिकारः प्रवर्तते। ज्ञानाभ्यासेन च ज्ञानमुत्प-

---

सकता है इस लिये कर्म और उपासना के द्वारा चित्त की विशुद्धि और एकाग्रता हासिल करनी चाहिये। निष्काम भाव से दान, व्रत, तप और यज्ञ आदि कर्मों के करने से और विषयों से वैराग्य करने से चित्त की विशुद्धि होती है। उपासना रूप भक्ति से चित्त की एकाग्रता होती है। पहले की अपेक्षा वैराग्य भी अत्यधिक प्रवृद्ध होता है और तब ब्रह्म-ज्ञान के अभ्यास करने की योग्यता होती है और ब्रह्म-ज्ञान के अभ्यास (बारम्बार भावना) करने से जीव और ब्रह्म

द्यते, ज्ञानेन च मोक्ष इत्यौपनिषदी रीतिः। तथा च रे चित्त ! ज्ञानविचारे प्रवर्तस्व। ज्ञानविचारेण ज्ञानि भव। ज्ञानसम्पादनेन स्वजन्म सफलीकुरु। त्वं विवेकवदसि, त्वं वैराग्यवदसि, त्वं शमादिगुणवदसि, त्वं मुमुक्षु असि,

---

अर्थात् आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है यह उपनिषद् की प्रक्रिया है। अरे चित्त! इस लिये तुम ज्ञान के विचार करने में प्रवृत्त हो जाओ। ज्ञान-विचार के द्वारा तुम ज्ञानी बनो। ज्ञान का उपार्जन कर के अपने जन्म को सफल करो। तुझे विवेक करने की शक्ति है। तुझे वैराग्य धारण करने की शक्ति है। तुझे शम, दम आदि गुणों के धारण करने की शक्ति है। तुझे मोक्ष की अभिलाषा है। इस प्रकार सम्यक् किये कर्म और

एवं त्वं सम्यगनुष्ठितकर्मोपासनाभिः साधन-चतुष्टयसम्पन्नमसि ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥१॥
तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥२॥

उपासना (भक्ति) के द्वारा तुम साधन चतुष्टय-सम्पन्न हो अर्थात् विवेक, वैराग्य, शम-दमादि-षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता ये जो मोक्ष के चार साधन कहे गये हैं वे सब साधन तुझे विद्यमान हैं। (साधन चतुष्टय का लक्षण कहते हैं—)

"ब्रह्म सत्य है संसार मिथ्या है यह जो निश्चय है वही 'नित्यानित्य वस्तु-विवेक' कहा गया है ॥ १ ॥

दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा देह से ले कर ब्रह्मलोक पर्यन्त जो अनित्य भोग पदार्थ हैं उनके त्यागने की जो इच्छा है वही 'वैराग्य' है ॥२॥

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ।३।
विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः॥४॥
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ।
सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ॥ ५ ॥
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ।

बार-बार दोष-दर्शन से विषय-पुञ्ज से विरक्त हो कर चित्त की जो अपने लक्ष्य में अवस्थिति है वही 'शम' है ॥ ३ ॥

समस्त विषयों से पराङ्मुख हो कर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय दोनों इन्द्रियों की अपने-अपने गोलक में ही जो अन्तर्मुख अवस्थिति है वही 'दम' है ॥४॥

बाह्य विषयों में चित्त-वृत्ति का संचार न होना ही उत्तम 'उपरति' है । चिन्ता और खेद से रहित हो कर बिना कुछ प्रतीकार किये समस्त दुःखों का सहन करना 'तितिक्षा' है ॥ ५ ॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते॥६
सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा।
तत्समाधानमित्युक्तं नतु चित्तस्य लालनम्॥७
अहङ्कारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान्।

शास्त्र और गुरु के वचन का सत्य रूप से जो निश्चय करना है, सत्पुरुषों के द्वारा वही 'श्रद्धा' कही गयी है जिससे असल वस्तु प्राप्त की जाती है॥ ६॥

सदा उपाधि-शून्य ब्रह्म में जो बुद्धि को सदा स्थापित करना है वही 'समाधान' कहा गया है। चित्त का विषयों में विचलित भाव नहीं होना चाहिये॥ ७॥

अहंकार से ले कर देह-पर्यन्त जो बन्ध हैं, जो अज्ञान से कल्पित हैं, अपने स्वरूप के ज्ञान

स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥८"

"विवेकचूडामणिः"

इत्येवं भगवत्पादैर्व्याख्यातेन साधनचतुःष्टयेनालंकृतमासि । नालंकृतश्चेद्ब्रह्मविचारे त्वं नाधिकारवदसि ।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

से उन बन्धों से मुक्त होने की जो इच्छा है वही 'मुमुक्षुता' है ॥८॥ "विवेकचूड़ामणि"

इस प्रकार पूज्य श्री शंकराचार्य के द्वारा व्याख्यान किये गये साधन-चतुष्टय से तुम युक्त हो। यदि उक्त साधन-चतुष्टय से तुम युक्त नहीं हो तो तुम ब्रह्म-विचार करने का अधिकारी नहीं हो सकते हो।

"मोक्ष प्राप्त करने के लिये साधन-चतुष्टय प्राप्त होने के पश्चात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।"

इति च व्याससूत्रं साधनचतुष्टयसम्पत्तेरनन्तरमेव ब्रह्मविचारयोग्यतामादिशति । त्वं तु कृतकर्मोपास्ति भक्तियुक्तं साधनसम्पूर्णमासि । अतस्त्वं ब्रह्मविचारसमर्थमासि ।

रे चेतः ! ब्रह्मविचारं कुरु । चिदचिद्विवेचनं कुरु । कल्याणमयं चैतन्यघनं निजरूपं

यह व्यासजी का सूत्र भी साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के बाद ही ब्रह्म-विचार करने की योग्यता का उपदेश करता है । तुम तो कर्म, उपासना कर चुके हो, भक्ति-युक्त हो, समस्त साधन-सम्पन्न हो इस लिये ब्रह्म-विचार करने में तुम समर्थ हो ।

अरे चित्त ! तुम ब्रह्म-विचार करो । चैतन्य और जड़ का विवेचन करो । कल्याणमय, चैतन्य-मय अपने स्वरूप का निश्चय करो । वैसा निश्चय

निश्चिनु। तथा च सच्चिदानन्दस्वरूपं भव। द्वन्द्वमोहं त्यज। विश्रान्तिं भज। विचारे सति, आत्मनोऽद्वितीयत्वे निश्चिते सति, त्याज्यमत्याज्यञ्च किमस्ति! इदं सर्वं दृश्यात्मकं जगत्तत्त्वतस्त्वत्तो भिन्नं नैवास्ति। "मनोमात्रमिदं द्वैतं यथा मरुमरीचिका।"

कर के तुम सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाओ। द्वन्द्व के मोह को छोड़ो। विश्राम का सेवन करो। विचार होने पर, अद्वितीय आत्मा के निश्चय होने पर क्या त्याज्य और क्या अत्याज्य रह जाता है अर्थात् हेय-उपादेय यह द्वन्द्व भाव नहीं रह जाता है। यह समस्त दृश्य संसार वास्तव में तुम से अलग नहीं है।

"यह द्वैत भाव मानसिक कल्पनामात्र है जैसे मरुस्थली-स्थित सूर्य की किरण में जल की भ्रान्ति होती है, वास्तव में वह जल सूर्य-किरण

इति गृहाण । अतो द्वैतनिमित्तकं भयं मा कार्षीः ।

"द्वितीयाद्वै भयं भवति ।"

इति श्रुतिर्वदति। द्वितीयं वस्त्वेव नास्ति तथा च तव कुतो भयप्रसङ्गः ।

रे मुमुक्षु मनः ! त्वं भूमानन्दं वेदान्त-

से अतिरिक्त कुछ वस्तु नहीं है किन्तु अज्ञान-दशा में जल का भान होता है ।"

इस विचार को ग्रहण करो इस लिये तुम द्वैत-निबन्धन भय मत करो ।

"दूसरे से ही भय होता है"

यह श्रुति कहती है । और दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है तब तुम को किस से भय की आशंका हो सकती है ।

अरे मुमुक्षु मन ! तुम सर्वत्र व्यापक आनन्द

वेद्यमद्वैतमात्मानं साक्षात्कुरु। धनपुत्रदेहादिष्वात्मात्मीयत्वबुद्धिमुत्सृज। भेदनिबन्धनं सुखदुःखादिकं मूलतस्त्यज। अहं ममेति देहदेहीयेष्वभिमानं विहाय निरुपाधिकनित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्तत्त्वं भव। तथा च निरुपाधिकपदनिष्ठया कृत्यमकृत्यं धर्ममधर्मञ्चातिगच्छ।

रूप, वेदान्त शास्त्र के द्वारा जानने योग्य अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार करो। धन, पुत्र, देह प्रभृति में आत्मीयभाव को हटाओ। भेद-निमित्तक सुख-दुःख आदि का मूलतः परित्याग करो। मैं, मेरा, इस प्रकार देह और देह-संबन्धी पदार्थों में अभिमान को छोड़ कर उपाधि-रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तत्त्व-सम्पन्न बनो। वैसा कर के निर्गुण पद में निष्ठा कर के कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म से भी परे हो जाओ।

विधिनिषेधकिङ्करतामत्यंहि। यावद्धर्माधर्मपराधीनता तावत्संसारिणः संसारित्वं न नश्यति। ततो देवपशुत्वं दूरतः परित्यज्य देवपूज्यं भव। आत्मानमप्रमेयमपरिच्छिन्नं सर्वसंसारस्पर्शशून्यं सम्यग्ज्ञात्वा निर्वृत्तं भव।

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।"

"मुण्डकोपनिषत्"

विधि-निषेध की परतन्त्रता को छोड़ो। जब तक धर्म-अधर्म की पराधीनता है तब तक संसारी पुरुष का संसार विनष्ट नहीं होता है। अतः देवता की बलि के लिये पशुभाव का दूर से परित्याग कर के देव-पूज्य बनो। सम्यक् रूप से आत्मा को ज्ञान के अगोचर, व्यापक, समस्त संसार के स्पर्श से रहित जान कर सुखी हो जाओ।

"ब्रह्म को जानने वाला साक्षात् ब्रह्म हो जाता है।" "मुण्डकोपनिषत्"

इति श्रुत्युक्तप्रकारेण ब्रह्मविद्यया स्वयं ब्रह्मी भव । अथ ब्रह्मप्राप्त्या प्राप्तप्राप्तव्यः कृतकृत्यो धन्यो मान्यो जीवन्मुक्तश्च विराजस्व । नित्यनिरतिशयानन्दप्राप्त्या नित्यनिरंकुशतृप्तिमान् भव ।

"धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।

इस तरह श्रुति में कथित रीति से ब्रह्मविद्या के द्वारा तुम स्वयं ब्रह्म-सम्पन्न बनो । ब्रह्म की प्राप्ति करने के बाद जो कुछ प्राप्त करना था वह प्राप्त हो गया अतः कृतकृत्य, धन्यवादार्ह, मान्य और जीवन्मुक्त हो कर विराजमान रहो । नित्य असीम आनन्द की प्राप्ति से नित्य उपद्रव-रहित तृप्तिमान् हो जाओ ।

" मैं बहुत बड़ा धन्य हूं क्योंकि अपनी नित्य आत्मा को साक्षात् अनुभव करता हूं । मैं बड़ा

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।

ही धन्य हूं कि मुझे स्पष्टरूप से ब्रह्मानन्द भासित हो रहा है।

मैं बड़ा धन्य हूं कि आज सांसारिक दुःख को नहीं देखता हूं। मैं बड़ा ही धन्य हूं कि मेरा अज्ञान कहीं भाग कर चला गया।

मैं बड़ा ही धन्य हूं कि मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं रह गया है। मैं बड़ा धन्य हूं कि जो कुछ प्राप्त करना था उसे मैंने आज प्राप्त कर लिया।

मैं बड़ा धन्य हूं, मेरी तृप्ति की उपमा लोक

धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः ॥"

"पञ्चदशी"

इत्युच्चैस्तरामनारतमानन्दोद्गारं कुरु। त्रिगुणात्मकमिमं संसारमतीत्य निस्त्रैगुण्ये पथि स्वच्छन्दं विचर।

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।"

"बृहदारण्यक०"

में क्या हो सकती है। मैं बड़ा ही धन्य हूं, मैं बार-बार धन्य हूं॥" "पञ्चदशी"

इस प्रकार प्रचुर रूप से सदा आनन्द का उद्गार करो। इस त्रिगुणात्मक संसार का अतिक्रमण कर के निस्त्रैगुण्य मार्ग पर स्वच्छन्द-पूर्वक विचरण करो।

"मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ" इति।

"बृहदारण्यक०"

"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ,
अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥"
"तैत्तिरीय०"

इत्यादिश्रुतिनिगदितं सर्वात्मभावमत्रैवाप्नुहि ।

अपि च लोकातीतं स्थानमिच्छँस्त्वं लोकविलक्षणो भव । आत्मनिष्ठ आत्माराम आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्टश्च भूत्वा सकलां पृथ्वीं पुनीहि ।

"मैं संसार रूप अन्न हूं, और संसार रूप अन्न का खाने वाला भी मैं हूं ।" "तैत्तिरीय"

इत्यादि श्रुतियों से कथित सर्वात्म भाव को तुम इसी लोक में प्राप्त करो । लोक के बाहर स्थान की इच्छा करते हुए तुम लोक से विलक्षण बनो । तुम आत्म-निष्ठ, आत्माराम, आत्म-तृप्त और आत्म-संतुष्ट हो कर सारी पृथिवी को पवित्र करो ।

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्,
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥"

इत्येतां देवदुर्लभां महनीयां दशां प्राप्नुहि। ब्रह्मनिष्ठया ब्रह्मीभूतमत एवानन्दमग्नं मत्तहस्तिनमिवानन्दमदमत्तं त्वां निन्दास्तोत्रे

"अनन्त ज्ञान और आनन्द के समुद्र रूप इस पर ब्रह्म में जिसका चित्त लीन हो गया है, उसने अपने कुल को पवित्र कर डाला, उसकी माता कृतार्थ (सफल) हो गयी और उससे पृथिवी पुण्यवती हो गयी ॥"

इस प्रकार देव-दुर्लभ इस अवस्था को तुम प्राप्त करो। ब्रह्म-निष्ठा के द्वारा ब्रह्म रूप अत एव आनन्द-मग्न, आनन्दरूपी मद से मत्त हो, तुझको मतवाले हाथी की तरह निन्दा और स्तुति क्या

किं करिष्यतः। मानामानौ त्वां कथं विचालयिष्यतः। अविषमदृष्टिं त्वां लोकः कथं विचालयेत्, कथञ्च विकारयेत्। स्वमहिमप्रतिष्ठं मदमत्तामिभराजमभीरुं भषकभषणानीव भाषकभाषणानि कटुतराणि निन्दापराणि चाश्राव्याणि न व्यथयितुमलं स्युः। लोकस्तावत्तवानुकूलतया प्रतिकूलतया वा

कर सकती हैं? संमान और अपमान (अनादर) तुम को कैसे विचलित कर सकते हैं? जिसकी विषम दृष्टि नहीं है ऐसे अर्थात् तुझ समदर्शी को लोग कैसे विचलित करें और कैसे विकृत करें। अपनी महिमा से अवस्थित, मद से मत्त, निर्भीक हस्ती के राजा को जैसे कुत्तों का भूकना कुछ नहीं बिगाड़ता है वैसे महिमाशाली निर्भय पुरुष को कटु से कटु, अश्राव्य, बोलने वालों के निन्दा के जो वचन हैं वे व्यथित नहीं कर सकते हैं। लोग चाहे तुम्हारे

यथेष्टं विचेष्टताम्, द्वन्द्वातीतस्याद्वन्द्वपदमाधिरूढस्य तव तेन को लाभः का वा हानिः। अनुकूलप्रतिकूलभावस्त्वज्ञानमूलकः। सर्वेऽपि भेदव्यवहारा लौकिकाः शास्त्रीयाश्चाज्ञानमूलकाः। त्वं तु निरस्ताज्ञानो ज्ञानस्वरूपः। तथा च त्वयि कथं भेदबुद्धिस्तन्निबन्धनोऽनुकूलप्रतिकूलभावश्च संघ-

---

अनुकूल अथवा प्रतिकूल आचरण पर्याप्तरूप से करें, द्वन्द्व भाव से रहित, अद्वन्द्व पद पर आरूढ़ हुए तुम्हारा उससे क्या लाभ और क्या नुकसान होगा ? अनुकूलता और प्रतिकूलता अज्ञान-मूलक होती है। लौकिक और शास्त्रीय जितने भेद-व्यवहार हैं, सब अज्ञान-मूलक हैं। तुम तो अज्ञान से रहित, ज्ञान-स्वरूप हो। तब कैसे भेद-बुद्धि और तन्मूलक अनुकूलता-प्रतिकूलता का ज्ञान

टेत। अयं मम बन्धुः, अयं मम सुहृत्, अयन्तु मम शत्रुः, अयं मम निन्दकः, अयमभेदवादी, अयन्तु भेदवादी, अयं शैवः, अयं वैष्णवः, अयं शाक्तः, अयं वैदिकः, अयन्त्ववैदिकः, अयमास्तिकः, अयन्तु नास्तिक इत्यादयो नानात्वव्यवहारा अविद्याप्रत्युपस्थापिताः सर्वातीतं सर्वा-

---

तुझ में संभावित हो। यह मेरा बान्धव है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा निन्दक है, यह अभेदवादी है और यह भेदवादी है, यह शिव-उपासक है, यह विष्णु-उपासक है, यह शक्ति-उपासक है, यह वैदिक है, यह वैदिक नहीं है, यह आस्तिक है और यह नास्तिक है इत्यादि नाना प्रकार के व्यवहार जो अविद्या से उत्पन्न होते हैं, वे सर्वातीत (सब के परे) सर्वा-

त्मभावं गतमविद्यास्पर्शशून्यं त्वां कथं स्प-र्ष्टुमर्हा भवेयुः।

त्वं ज्ञानेन सर्वं त्यक्त्वा सर्वं भूत्वा च साक्षाच्छम्भुर्भव। इदं सकलं जगज्जलबुद्-बुदवद्वाचारम्भणमात्रमनुपश्य। त्वमनारत-मनात्मतिरस्करणेनानुपाधिक आत्मनि तिष्ठ। तव को वा मोहः को वा शोकः? अनुपा-

---

त्मभाव को प्राप्त और अविद्या से अस्पृष्ट तुझे कैसे स्पर्श कर सकते हैं।

तुम ज्ञान के द्वारा सब का त्याग कर के और सर्वमय हो कर साक्षात् शिव रूप बनो। इस समस्त विश्व को जल की बुद्-बुद् की तरह वाचा-रम्भणमात्र अर्थात् सर्वथा अलीक जानो। तुम सदा अनात्म पदार्थ के तिरस्कार कर के उपाधि-रहित आत्मा में अवस्थित रहो। तुम को क्या तो मोह है अथवा क्या शोक है? उपाधि-शून्य अद्वैत

धिकाद्वैतदृशस्तव कुतः शोकमोहादिप्रसङ्गः। त्वं सहजावस्थायां वस। त्वं भावातीतो-भव। अभावातीतश्च भव। अयं प्रपञ्चो-बहिर्मुखानां क्षणिकतुष्टिकरः। त्वन्तु यद्य-न्तर्मुख आत्मारामस्तव कथमयं तुष्टिहेतुः स्यात्। आत्मनिष्ठो भूत्वा निरङ्कुशां तुष्टि-माप्नुहि, यत्र सातिशयत्वादिदोषाः किञ्चि-दपि न सन्ति।

दर्शी तुम हो, तुम्हें शोक, मोह आदि की क्या आशंका है। तुम अपने अकृत्रिम अवस्था में रहो। तुम भाव पदार्थ से अलग रहो और अभाव पदार्थ से भी अलग रहो। यह संसार बहिर्मुख (अज्ञानी) पुरुषों का क्षणिक सन्तोष-प्रद है, तुम तो अन्त-र्मुख (ज्ञानी), आत्माराम हो, तुम को कैसे यह संतोष-प्रद हो। तुम आत्म-निष्ठ हो कर निर्भय सन्तुष्टि को प्राप्त करो, जहां तारतम्य (न्यूनाधिक्य) आदि दोष किञ्चित् भी नहीं हैं।

अथ येनैतादृशी सहजावस्था, एतादृशं ब्रह्मपदं प्राप्यते, तज्ज्ञानं कथं सिद्ध्यतीतिचेच्छृणु त्वमवहितो भूत्वा। गुरोरनुग्रहादेव ज्ञानमुत्पद्यते पुंसाम्। देशिकानुग्रहमन्तरेण न ब्रह्मविद्या सम्भवति। तस्माद्ब्रह्मात्मविद्याग्रहणार्थं ब्रह्मविदं गुणनिधिं गुरुमुपगच्छ।

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो-

यदि कहो कि जिससे ऐसी अकृत्रिम अवस्था, ऐसा ब्रह्म-पद प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है तो तुम सावधान हो कर सुनो। गुरु की कृपा से ही मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न होता है, बिना गुरु के अनुग्रह के ब्रह्म-विद्या का होना सम्भव नहीं है। इस लिये ब्रह्मात्म-विद्या के ज्ञान के लिये गुणनिधि ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाओ।

"ब्रह्म-निष्ठ पुरुष कर्म से प्रवृद्ध लोगों की

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥"

"मुण्डकोपनिषत्"

"आचार्यवान् पुरुषो वेद"

"छान्दोग्योपनिषत्"

इत्याद्याः श्रुतयोगुरूपसत्तेरवश्यकर्त-

परीक्षा कर के अर्थात् कर्मार्जित लोगों को अनित्य जान कर उनसे वैराग्य धारण करें, क्योंकि विश्व में नित्य कुछ वस्तु नहीं है और अनित्य से कुछ प्रयोजन नहीं है अतः ब्रह्म-ज्ञान के लिये हाथ में कुशा ले कर वेदज्ञ और ब्रह्म-निष्ठ गुरु के ही पास गमन करें।" "मुण्डकोपनिषत्"

"आचार्यवान् पुरुष ब्रह्म को जानता है।"

"छान्दोग्योपनिषत्"

इस प्रकार की अनेक श्रुति ज्ञान-प्राप्ति के

व्यतामुपदिशन्ति। य उपसन्नस्य शिष्यस्याज्ञानान्धकारं भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयति, तथा च संसारतापतप्तं तं संसार पारं प्रापयति, स गुरुरिति जानीहि।

उक्तं हि गुरोर्लक्षणम् :—

"उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धाविमोक्षणम्।

लिये गुरु-समीप गमन का आवश्यक कर्तव्य जता रही है। जो अपने पास आये हुए शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को, प्रकाशमान ज्ञान रूपी दीप के द्वारा विनष्ट करता है और संसार के ताप से परितप्त उस शिष्य को संसार से पार ले जाता है वह गुरु है यह जानो। गुरु का लक्षण कहा गया है—

"जिसके द्वारा संसार रूप बन्ध से मुक्ति प्राप्त हो ऐसे विद्वान् गुरु के समीप जाना चाहिये।

श्रोत्रियोऽवृजनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥"

इति "विवेकचूड़ामणिः"

एतादृशलक्षणयुतं गुरुमुपगम्य प्रणामशुश्रूषणादिभिस्तं प्रसादय। तमेवं प्रसा-

---

जो गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, काम-रहित, पूर्ण ब्रह्मवेत्ता हों।"

जो ब्रह्म-निष्ठ हों, तथा इन्धन नहीं रहने से जैसे अग्नि शान्त रहती है वैसे विषयों के नहीं रहने के कारण प्रशान्त हों, बिना हेतु के दया के समुद्र हों और विनम्र सज्जनों के जो बन्धु हों।"

इति "विवेकचूड़ामणि"

इस प्रकार के लक्षण से युक्त गुरु के समीप जा कर प्रणाम और शुश्रूषादि आचरणों से तुम उन्हें प्रसन्न करो। उनको इस प्रकार से प्रसन्न

द्यानवद्यामात्मविद्यां पृच्छ। तत्प्रसादात्तन्मुखादात्मविद्यां गृहाण।

तदुक्तम् :—

"तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः॥"

इति "विवेकचूड़ामणिः"

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

कर के अनिन्दित जो आत्म-विद्या है उसे पूछो। उनकी कृपा से उनके मुख से आत्म-विद्या का ग्रहण करो। जैसा कहा भी गया है—

"भक्ति से, प्रिय वचन से, विनय से और सेवा से वैसे गुरु की आराधना कर के उनको प्रसन्न पा कर अपना ज्ञेय विषय (जो जानना है) पूछना चाहिये।"

इति "विवेकचूड़ामणि"

"गुरु को प्रणाम करने, प्रश्न करने और सेवा

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥"

इति च "श्रीमद्भगवद्गीता"

एवं गुरुकटाक्षादेव तत्त्वज्ञानोदयस्तद्दार्ढ्यंश्चेति विद्धि। अतो गुरौ श्रद्धां कृत्वा गुरुमुखाद्वेदान्तान् शृणु। केवल तर्केण हि तत्त्वनिश्चयः केनाऽपि कर्तुं न शक्यते।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

से तुम ब्रह्म-ज्ञान को जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी ज्ञान का उपदेश करेंगे।" इति "श्रीमद्भगवद्गीता"

इस प्रकार गुरु के दृष्टि-पात करने से ही तत्त्व-ज्ञान का उदय होता है और उसकी दृढ़ता होती है यह जानो। इस लिये गुरु में श्रद्धा कर के गुरु के मुख से वेदान्त शास्त्रों का श्रवण करो। केवल तर्क के द्वारा कोई भी तत्त्व का निश्चय नहीं कर सकता है।

"यह तत्त्व-ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं किया जा

इति हि काठकश्रुतिः । तस्माद् गुरुचरणयोर्वेदान्तेषु च श्रद्धां विधेहि प्रथमतः । गुरुशास्त्रयोः श्रद्धा हि ज्ञानस्य मूलकारणम् । गुरुशास्त्रयोः श्रद्धां विना शतकोटिजन्मभिरपि न स्वयं ज्ञानमुत्पत्तुं प्रभवति ।

"आचार्याद्धैव विद्या विदिता
साधिष्ठं प्रापतीति ।"
"छान्दोग्य०"

सकता है ।" यह कठक श्रुति है । इस लिये पहले गुरु के चरणों में और वेदान्त शास्त्रों में श्रद्धा करो, क्योंकि गुरु और शास्त्र का विश्वास ही तत्त्व-ज्ञान का मूल कारण है । गुरु और शास्त्र में श्रद्धा (विश्वास) हुए बिना सौ कोटि जन्मों में भी ज्ञान स्वयं नहीं उत्पन्न होता है ।

"आचार्य के द्वारा परिज्ञात विद्या ही ब्रह्म को प्राप्त कराती है ।" "छान्दोग्य०"

"श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि"

"कैवल्य०"

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्"

"भगवद्गीता"

इत्यादीनि श्रुतिस्मृतिवचनानि शतशः श्रद्धाया महत्त्वं प्रदर्शयन्ति। ततः श्रद्धया गुरुमुखाद्वेदान्तान् श्रुत्वा तदर्थविचारं

"श्रद्धा, भक्ति और ध्यान-योग से ब्रह्म को तुम जानो।" "कैवल्य०"

"श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान का लाभ करता है।"

"भगवद्गीता"

इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृति के वचन श्रद्धा के महत्त्व को दिखला रहे हैं। इस लिये श्रद्धा से गुरु-मुख से वेदान्त शास्त्रों को सुन कर उनके अर्थ का विचार करो। इस प्रकार वेदान्त-

कुरु। एवं वेदान्तश्रवणस्योपकारकत्वेन संन्यासश्चावश्यं विधेयो विद्यते। यदि दण्डधारणाद्याश्रमरूपः संन्यासः कर्तुं न शक्यते, तर्हि काम्यकर्मादित्यागरूपः संन्यासः खलु कर्तव्यः। आश्रमरूपः संन्यास एव हि सर्वैः शुश्रूषुभिः श्रवणाङ्गत्वेन कर्तव्य इति न कश्चिन्नियमोऽस्ति।

श्रवण के उपकारक होने से संन्यास भी अवश्य लेना चाहिये। जिसमें दण्ड धारण आदि नियम की व्यवस्था है वह संन्यास आश्रम यदि नहीं किया जा सके तो काम्य कर्म आदि का परित्याग रूप संन्यास तो निश्चय करना चाहिये। सारे वेदान्त-श्रवणाभिलाषियों को श्रवण के अङ्ग रूप से आश्रम रूप संन्यास करना ही चाहिये ऐसा कोई नियम भी नहीं है।

तदुक्तम् :—

"अयञ्च वेदनहेतुः संन्यासो द्विविधः, जन्मापादककाम्यकर्मादित्यागमात्रात्मकः प्रैषोच्चारणपूर्वकदण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति ।"

"ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानां केनचिन्निमित्तेन संन्यासाश्रमस्वीकारे प्रतिबद्धे सति स्वाश्रमधर्मेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि वेदनार्थो

वैसा कहा भी गया है—

यह ज्ञान का हेतु संन्यास दो प्रकार का है, एक तो जन्म के सम्पादक जो काम्य कर्म आदि हैं केवल उनका ही परित्याग करना और दूसरा 'प्रैष' यह उच्चारण-पूर्वक दण्ड-धारण आदि आश्रम रूप।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ लोगों के किसी निमित्त से संन्यास आश्रम की स्वीकृति रुक जाने पर भी अपने आश्रम-धर्मों के अनुष्ठान

मानसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते ।”

इति “जीवन्मुक्तिविवेकः”

एवमङ्गभूतं संन्यासमपि सम्यक् कृत्वा यथाविधि वेदान्तश्रवणे नितरां प्रवर्तस्व। तथाचोपनिषदां सर्वासामपि तात्पर्यं ब्रह्मात्मैक्यविषय इति निश्शङ्कं निश्चिनु। अपौरुषेयत्वादुपनिषदः खलु निर्दोषाः स्वतः

करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्मादि का मानस-त्याग हो सकता है उसका विरोध नहीं है।”

इति “जीवन्मुक्तिविवेक”

ऐसे अङ्गभूत संन्यास का भी सम्यक् संपादन कर के यथाविधि वेदान्त के श्रवण में अच्छी तरह प्रवृत्त हो जाओ। उस रीति से समस्त उपनिषदों की ब्रह्म और जीव की एकता-सम्पादन करने में ही तात्पर्य है यह निःशङ्क रूप से निश्चय करो। अपौरुषेय (पुरुष-रचित नहीं) होने के कारण

प्रमाणभूता इति विद्धि । ताः सर्वा अप्यैककण्ठ्येनैदम्पर्येण ब्रह्मात्मैकत्वमुपदिशन्ति चेत्, तत् सत्यात्सत्यतरमबाध्यमिति श्रद्धत्स्व । एवं वेदान्तवाक्यैः श्रुतस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपस्यार्थस्य सम्यग्युक्त्या सम्भविता चिन्तनं मननम् । श्रवणानन्तरमस्मिन्मनने प्रवर्तस्व । ततः परं तस्मिन्नर्थे सजातीय-

---

समस्त उपनिषद् निर्दुष्ट और स्वतःप्रमाण स्वरूप हैं यह जानो। जब वे संपूर्ण उपनिषद् भी एक स्वर से ब्रह्म और जीवात्मा की एकतामें ही तात्पर्य का कथन करती है तब वह सत्य से भी सत्य और अबाध्य है यह विश्वास करो । इस प्रकार वेदान्त वाक्योंके द्वारा श्रुत ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यक् आत्मा रूप वस्तु का सम्यक् युक्ति के द्वारा चिन्तनरूप मनन हो सकेगा। श्रवण के बाद उस मनन में प्रवृत्त हो जाओ । मनन के पश्चात् उसी वस्तु में सजा-

मनोवृत्तिप्रवाहकरणात्मकं निदिध्यासनं कुरु।
तदुक्तम् :—

"इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।"

इति "पञ्चदशी"

तीय मानसिक वृत्ति-परम्परा का साधन स्वरूप निदिध्यासन करो। वैसा कहा गया है—

"तत्त्वमसि आदि वाक्यों के द्वारा उन वाक्यों के जीव-ब्रह्म के एकत्व रूप अर्थ का अनुसन्धान (विचार) करना श्रवण है। श्रुत अर्थ को युक्ति के द्वारा युक्ति-युक्त समझना मनन है।

श्रवण और मनन के द्वारा संशय-रहित विषय में अवस्थित चित्त की जो एकाकार वृत्ति-प्रवाहशीलता है वही निदिध्यासन है॥"

इति "पञ्चदशी"

आदरेण नैरन्तर्येण दीर्घकालमेवं श्रद्धा-पुरःसरमनिर्विण्णभावेनाभ्यासं कुरु । एवं श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासेन निजस्वरूपं नित्यशुद्धमपरोक्षी कुरु । तथाचाविद्ययात्मनि कल्पितां कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादि-भ्रान्तिं परित्यज । आत्मा तु तत्त्वतोऽकर्त्ताऽ-भोक्ताऽसंसार्यस्ति, निराकारो निरवयवो नि-

---

आदरभाव से निरन्तर अत्यधिक समय तक श्रद्धा-पूर्वक विषाद-रहित हो कर अभ्यास करो। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से अपने नित्य, शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करो। तब आत्मा में अविद्या-निबन्धन से कल्पित जो कर्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख आदि भ्रम हैं उन का परित्याग करो। आत्मा तो वास्तव में कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, संसारी नहीं है। वह तो आकार-रहित, अवयव-रहित, विकार-रहित और

विंकारो निर्विशेषोऽस्ति, पुण्यपापाविवर्जितोऽस्ति जन्मजरामरणादिविवर्जितोऽस्ति ।

तदुक्तम् :—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविर ँशुद्धमपापविद्धम् ।"
"ईशा०"

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्,

समस्त धर्म-रहित है । पुण्य और पाप से रहित है । जन्म, जरा, मरण आदि से सर्वथा रहित है । वैसा कहा गया है—

"वह आत्म-तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति इस जगत के बीजभूत, शरीर-संबन्ध से शून्य, क्षत आदि संबन्ध से शून्य, स्नायु-संबन्ध से शून्य, पवित्र और पाप संबन्ध के लेशमात्र से भी शून्य ब्रह्म तत्त्वको जानता है ।" "ईशा०"

"शरीर से रहित, अनित्य शरीरों में नित्य-

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।"

"कठ०"

"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।"

"मुण्डक०"

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं,

रूप से अवस्थित, महान् विभु आत्मा का मनन कर के धीर पुरुष शोक नहीं करता है।" "कठ०"

"वह आत्मा प्राण से रहित, मन से रहित, शुद्ध है और सबके परे जो अविनाशी मूल प्रकृति है उसके भी परे है।" "मुण्डक"

"शब्द-रहित, स्पर्श-रहित, रूप-रहित अविकारी, रस-रहित, नित्य, गन्ध-रहित और जो आदि-अन्त-रहित, महतत्त्व के भी परे, अविचल

निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥"

"बृहदा०"

"अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्ने-
हमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमग-
न्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राण-

है उस आत्मा को वास्तव रूप से जान कर मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।"

"बृहदारण्य०"

"यह आत्मा स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं, दीर्घ भी नहीं, लालसे रहित है, स्नेह-रहित है, छाया-रहित है, तम से रहित है, वायु से रहित है, आकाश से रहित है, सङ्ग से रहित है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, नेत्र से रहित है, श्रोत्र से रहित है, वाणी से रहित है, मन से रहित है, तेज से रहित है, प्राण से रहित

मसुखममात्रमनन्तरमबाह्यम् ।"

"बृहदारण्यक०"

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" "श्वेता०"

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

है, मुख से रहित है, इन्द्रियों से रहित है और वह अन्तर-बाह्य दोनों से रहित है ॥"

"बृहदारण्यक०"

"वह हस्त पाद से रहित है किन्तु वेग से चलने वाला और ग्रहण करने वाला है, बिना नेत्र का भी देखता है, बिना कर्ण का भी सुनता है।"

"श्वेता०"

"इस आत्मा का छेदन शस्त्र नहीं करते हैं, इसे अग्नि नहीं जलाती है और इसको जल भी नहीं गलाता है, हवा भी नहीं शोषण करती है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥" इत्यादि
"श्रीमद्भगवद्गीता"

आत्मा सत्यस्वरूपोऽस्ति। त्रिषु काले-ष्वपि एकरसतया वर्त्तमानोऽस्ति। त्रिषु का-

---

यह आत्मा जन्म नहीं लेता है, न तो कभी मरता है। यह आत्मा एक बार हो कर फिर नहीं होगा यह नहीं, अर्थात् इसका अस्तित्व भूत काल में भी था, भविष्य काल में भी रहेगा। यह जन्म-रहित है, सब काल में रहने वाला है, एक रूप में, यह सब से प्राचीन है, शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता है।" इत्यादि "श्रीमद्भगवद्गीता"

आत्मा सत्य स्वरूप है। भूत-भविष्य-वर्तमान इन तीनों कालों में भी एक रस से रहने वाला है।

लेषु यो न बाध्यते स आत्मेति विजानीहि। शरीरेषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन् यो वर्तते, स आत्मेति विजानीहि।

एवमात्मा चैतन्यरूपोस्ति। जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु सर्वदैकरसतया स्फुरणरूपोऽस्ति। तथा युगकल्पादिष्वप्यविच्छिन्नबोधरूपेण प्र-काशमानोऽस्ति। यस्य भासा सर्वमिदं सूर्य-

---

तीनों कालों में जिसका बाध (स्वरूप-परिवर्तन) नहीं होता है वह आत्मा है यह जानो। शरीर के विनष्ट होने पर भी जो अविनाशी रहता है वह आत्मा है यह जानो।

इस प्रकार आत्मा चैतन्य रूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में सदा एक रस से स्फूर्ति रूप है। वैसे युग, कल्प आदि में भी अविच्छिन्न बोध रूप से वह प्रकाश करने वाला है जिसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि यह

चन्द्रनक्षत्रादिकं जगद्भाति, स आत्मेति विद्धि।

एवमात्माऽनन्दस्वरूपोऽस्ति। यत आत्मा सर्वेषां परमप्रेमास्पदमस्ति। यः सर्वेषां निरतिशयप्रेमविषयः, अत एव निरतिशयानन्दघनः स आत्मेति गृहाण।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

"तैत्तिरीय०"

सारा जगत् प्रकाशित होता है वह आत्मा है यह तुम जानो।

इस प्रकार आत्मा आनन्द स्वरूप है, क्योंकि समस्त प्राणियों का परम प्रेमालम्बन आत्मा है। जो सब के असीम प्रेम का विषय है, इस लिये असीम आनन्दमय वह आत्मा है यह मानो।

"सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है।"

"तैत्तिरीय०"

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"

"छान्दोग्य"

"प्रज्ञानं ब्रह्म" "ऐतरेय"

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "बृहदारण्यक०"

"एवं स्थानत्रयेऽप्येका संविद्वद्दिनान्तरे।

"हे प्रिय! सृष्टि के पहले यह सारा विश्व एक, अद्वितीय सत् रूप ही था।" "छान्दोग्य०"

"प्रकृष्ट ज्ञान रूप ब्रह्म है।" "ऐतरेय०"

विशिष्ट ज्ञान और आनन्द रूप ब्रह्म है।"

"बृहदारण्यक०"

"इस प्रकार तीनों स्थानों में भी अर्थात् एक दिन में होने वाले जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक ही है, जिस प्रकार एक दिन में अवस्थाओं के भेद होने पर भी ज्ञान का अभेद रहता है, उसी प्रकार अन्य दिनों में भी ज्ञान का अभेद है। अनेक प्रकार के

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा ।
इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥"

"पञ्चदशी"

भूत और भविष्य जो मास, वर्ष, युग, कल्प हैं उन सब में ज्ञान का अभेद है अर्थात् ज्ञान एक ही है ।

जिस हेतु संवित् (ज्ञान) एक है इस लिये उसकी उत्पत्ति नहीं होती है और उसका विनाश भी नहीं होता है । यह ज्ञानरूप संवित् स्वयं प्रकाश है अर्थात् किसी अन्य के द्वारा ज्ञेय नहीं है किन्तु स्वप्रकाश रूप से भासमान है अतः समस्त पदार्थों का प्रकाशक है ।

यह संवित् (ज्ञान) आत्मा है और असीम सुख स्वरूप है क्योंकि आत्मा असीम स्नेह का विषय है । मेरे अस्तित्व का अभाव कभी न हो,

इत्यादयः श्रुतिस्मृतयः शतशो ब्रह्मात्मनः सच्चिदानन्दरूपतां सङ्गिरन्ते ।

नन्वात्मनः सत्त्वे चित्वेऽपि तस्यानन्द-रूपता कथम् ? विषयाः खलु स्रक्चन्दनव-नितादयः सुखप्रदाः सुखरूपाश्चेति लोके सिद्धमिति चेच्छृणु । रे मूढ़ ! महामूढ़ा एव

किन्तु मेरा अस्तित्व ही सदा कायम रहे इस प्रकार का प्रेम तो आत्मा के विषय में सार्वजनीन अनुभव-सिद्ध है ।" "पञ्चदशी"

इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियां ब्रह्मरूप आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता का कथन करती हैं। यदि कहो कि आत्मा के सत् स्वरूप और चैतन्य (ज्ञान) स्वरूप होने पर भी आनन्द स्वरूप कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्रक् (माला), चन्दन, स्त्री आदि जो विषय हैं वे सुखप्रद और आनन्द रूप हैं यह जगत में प्रसिद्ध है, तो सुनो । अरे मूढ़ ! महा-

विषयाः सुखरूपा इति गृह्णन्ति । विवेकिन-स्त्वात्मानमेव सुखरूपं मन्यन्ते । कथम्? आत्मा तु सर्वेषां प्राणिनां निरतिशयप्रेम-विषय इति निर्विवादम् । अन्येषु कलत्रपुत्रा-दिषु विषयेषु विषयिणां यत्प्रेम तदात्मशेषतया भवति । अन्येषु हि यत्प्रेम तदात्मार्थमस्ति । आत्मनि तु यत्प्रेम तदन्यार्थं न भवति ।

मूर्ख लोग ही, विषय सुखरूप हैं यह मानते हैं। विवेकी पुरुष तो आत्मा को ही सुखरूप मानते हैं, क्योंकि आत्मा तो सारे प्राणियों के असीम प्रेम का विषय है यह निर्विवाद सिद्ध है । स्त्री, पुत्र आदि अन्य विषयों में जो विषयी पुरुषों का प्रेम उत्पन्न होता है वह आत्मा के अङ्ग रूप से ही होता है । क्योंकि दूसरों में जो प्रेम उत्पन्न होता है वह आत्मा के लिये ही होता है और जो आत्मा में प्रेम होता है वह दूसरों के लिये नहीं होता है

तस्मादात्मा निरुपाधिकप्रेमाश्रय इति सर्व-प्रत्यक्षतया सिद्ध्यति । आत्मसम्बन्धितयैव स्वरूपतोऽप्रियमप्यनात्मभूतं विषयजातं प्रियायते लोकस्य ।

तदुक्तं वार्तिककारैः—

"स्वतोऽखिलोऽप्रियोऽनात्मा,
प्रत्यङ्मोहैकहेतुतः ।
प्रत्यगाह्लादकारित्वा-

इस लिये उपाधि-शून्य प्रेम का आश्रय आत्मा है यह सब के प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है । स्वरूप से अप्रिय, अनात्म स्वरूप जो विषय-पुञ्ज है वह आत्मा के संबन्धी होने से ही लोगों को प्रिय-सा मालूम पड़ता है । जैसा वार्तिककार ने कहा है—

"समस्त अनात्म पदार्थ स्वतः अप्रिय है किन्तु प्रत्यक् आत्मा के साथ अध्यास (संबन्ध-कल्पना) होने के हेतु आत्मा के लिये आनन्द-जनक होने

दप्रियोऽपि प्रियो मतः ॥" इति
अतो निरतिशयप्रेमास्पदत्वादात्मा निरतिशयसुखस्वरूप इति निर्विवादोऽयं राद्धान्तः। विषयेषु विषयिभिर्यत्सुखमनुभूयते तदप्यात्मस्वरूपभूतं सुखमिति जानीहि, अनात्मभूतानां स्वतो दृष्टनष्टप्रनष्टस्वभावानां दुःखरूपाणां तेषां सुखस्वरूपत्वासिद्धेः। विषयभोगतः शान्तदशामाटीकमानायां चित्तवृत्तौ

से अप्रिय भी प्रिय माना गया है।" इति

इस लिये असीम प्रेमास्पद होने के हेतु आत्मा असीम सुखरूप है यह सिद्धान्त है। विषयों में विषयी पुरुषों को सुख का जो अनुभव होता है वह सुख भी आत्मा का स्वरूप ही है यह जानो। अनात्म पदार्थ, जो स्वतः दृष्ट, नष्ट, प्रनष्ट स्वभाव वाले हैं वे दुःखरूप हैं उनकी सुखरूपता असिद्ध है। विषय भोग करने से जब प्रशान्त अवस्थामय

स्वरूपसुखमेव नूनं स्फुरति, यद्विषयसुखमिति व्यवह्रियतेऽविवेकिभिः । यथा शुष्काणि नीरसान्यस्थीनि दन्तैर्विचूर्णयन् सारमेयो दन्तच्छिद्रनिस्सृतं स्वकीयं रक्तमास्वाद्यास्थिसम्बन्धि तदित्यभिमन्यते, तथा विषयभोगद्वारा स्वस्वरूपभूतं सुखमेवानुभूय विषयसम्बन्धि तदि-

---

चित्त की वृत्ति होती है तब उस चित्त-वृत्ति में केवल आत्मा का स्वरूप सुख ही निश्चित रूप से भासित होता है, अज्ञानी लोग 'विषय-सुख' कह कर जिसका व्यवहार करते हैं। जैसे शुष्क और नीरस हड्डियों को दांतों से चूर्ण करता हुआ कुत्ता दन्त के छिद्र से निःसृत अपने खून (शोणित) का स्वाद पा कर हड्डियों का खून है ऐसा उसे मान लेता है वैसे अपना ही जो स्वरूप सुख है उसका ही विषय-भोग के द्वारा अनुभव कर के यह सुख

त्यहो ! विपरीतं गृह्णन्ति मूढाः । तथा चात्मातिरिक्तेष्वापातरमणीयेषु विषयेषु गन्धर्वनगरीतुल्येषु हन्त ! हन्त ! ते सुखमिच्छन्ति, तत्रातिमात्रमनुरक्ता भवन्ति च । ततश्च महति दुःखगर्ते मोहाद्गजा इव पतन्ति च । विवेकिनस्तु स्वस्वरूपभूतमेव सुखं, नान्यत्र विष-

---

विषय से उत्पन्न हुआ है, ऐसा उल्टा अज्ञानी लोग उसे समझते हैं यह आश्चर्य है । और उसी तरह आत्मा से भिन्न केवल देखने में रमणीय गन्धर्व नगर के समान अर्थात् अलीक विषयों में वे सुख की अभिलाषा करते हैं यह बड़े खेद की बात है। उसमें अत्यन्त अनुरक्त हो जाते हैं और तब विशाल दुःख के गड्ढे में मोह से हाथियों की तरह गिर जाते हैं । विवेकी पुरुष को तो अपने स्वरूप का ही सुख रहता है, अन्य विषयों में कुछ भी

येषु किञ्चिद्ऽपि सुखमस्ति, ते सततं सर्वथा दुःखरूपा एवेति सम्यग् ज्ञात्वा तेषु काकविष्ठावद् दृढ़तरं वैराग्यमास्थायात्मारामा आत्मनिष्ठाश्च भवन्ति। अस्मिन्नर्थे बृहदारण्यकस्थां प्रसिद्धामिमामाख्यायिकां न्यायोपबृंहितामादरेण शृणु ।

पुरा किल मिथिलाधिपस्य श्रीजनकस्य राजर्षेर्गुरुर्याज्ञवल्क्यो नाम विद्यातप आदिषु

सुख नहीं हैं। वे विषय सदा सब तरह से दुःखरूप ही है यह सम्यक् जान कर काक-विष्ठा की तरह उनसे सुदृढ़ वैराग्य कर के लोग आत्माराम आत्म-निष्ठ होते हैं। इस विषय में बृहदारण्यक की नीति से युक्त इस प्रसिद्ध कथा को आदरभाव से सुनो।

पूर्व काल में मिथिला के राजा राजर्षि श्रीजनक के गुरु याज्ञवल्क्य नाम के विद्या, तप

गुणेष्वद्वितीयो ब्रह्मर्षिरासीत्। तस्य मैत्रेयी कात्यायनी चेति द्वे भार्ये आस्ताम्। एकदा याज्ञवल्क्यः शिष्टां विशिष्टविद्यावतीं प्रेष्ठां ज्येष्ठभार्यां मैत्रेयीमामन्त्र्येदमब्रवीत्। "यदहं गार्हस्थ्यं त्यक्त्वा प्रव्रज्यां चिकीर्षुरस्मि। तदर्थं तवानुज्ञां प्रार्थये। कात्यायन्या सह तव सपत्नीतया यो धनादिना सम्बन्धोऽस्ति, तस्य

आदि गुणों में अद्वितीय ब्रह्मर्षि थे। उन्हें मैत्रेयी और कात्यायनी दो स्त्रियां थीं। एक समय याज्ञवल्क्य ने शिष्ट, तथा महा विदुषी, प्रिय और ज्येष्ठ मैत्रेयी नाम की स्त्री को संबोधन कर के यह कहा कि "मैं गार्हस्थ्य आश्रम त्याग कर के संन्यास करने की इच्छा करता हूं, उसके लिये तुम्हारी संमति चाहता हूं। कात्यायनी के साथ तुम्हारे सपत्नीभाव (सौतभाव) से जो धन आदि का संबन्ध है उसका विच्छेद करना चाहता

विच्छेदं कर्तुमिच्छामीति ।" एवमुक्ता मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं स्वपतिमब्रवीत् । "भो भगवन् ! यदीयं सर्वा पृथ्वी धनेन पूर्णा मम स्यात् तदा किं तेनाहं मुक्ता भवेयमिति । तच्छ्रुत्वा सुप्रसन्नः स्वप्रियां प्रत्युवाच याज्ञवल्क्यः । "अरे मैत्रेयि ! वित्तेन त्वमृतत्वस्याशा नास्ति, उपकरणवतां यादृशं जीवितं स्यात्, तादृशं

हूं ।" ऐसा कहने पर मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से कहा—"हे भगवन् ! यदि यह धन से परिपूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं धन आदिसे मुक्त हो जाऊँगी अर्थात् धन आदिकी अभिलाषा मेरी नष्ट हो जायगी ? यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हो कर याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया से कहा—हे मैत्रेयि ! धन से तो अमृतत्व (मोक्ष) की आशा नहीं है । साधन-सम्पन्न संसारी पुरुषोंका जैसा जीवन होता है वैसा ही जीवन तुम्हारा भी

तवाऽपि स्यादिति। एतन्मुनिवचनमाकर्ण्य मैत्रेयी पुनरप्युक्तवती। "भो भगवन्! यद्भवन्तोऽमृतत्वसाधनं जानन्ति, तदेव मे ब्रूहि। भोगैश्वर्यसाधनं संसारहेतुमन्यद्वित्तमहं न काङ्क्षे" इति। इदं मैत्रेय्या धीरं प्रगल्भञ्च वचनं वार्तिककारैरित्थं स्पष्टीक्रियते।

"अनुरक्तां प्रियां साध्वीं बद्ध्वा वित्तेन मां कथम्।

होगा। ऋषिके इस वचन को सुन कर मैत्रेयी ने फिर कहा—हे भगवन्! आप जिस को मोक्ष-साधन जानते हैं वही मुझे कहें। भोग और ऐश्वर्य रूप साधन संसार का हेतु है वह अन्य वित्त है उसे मैं नहीं चाहती हूँ। मैत्रेयी का सार-गर्भित महत्त्व-पूर्ण इस वचनका स्पष्टीकरण वार्त्तिककार ने इस प्रकार किया है :—

"अनुराग-युक्त मुझ पतिव्रता प्रिया को वित्त (धन) से बांध कर और अभिलाषा का उच्छेद

कामोच्छित्तिमकृत्वा च संन्यसन्ति भवद्विधाः ॥
वित्ताच्चेदमृतत्वं स्यात्तत्तितिक्षा न युज्यते ।
वित्ताच्चेन्नामृतत्वं स्याद्वद तेन ममापि किम् ॥
स्वभावादेव साधूनां प्रवृत्तिरुपकारिणी ।
अपकारिण्यपि जने किमु भक्तजनं प्रति ।" इति

नहीं करके आपके समान व्यक्ति कैसे संन्यास लेते हैं ॥"

यदि वित्त से अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता तो मोक्ष के लिये तितिक्षा (शीत-उष्णादि-सहन) करने की जरूरत नहीं पड़ती और यदि वित्त से अमृतत्व नहीं मिलता है तो कहिये उस वित्त से मेरा ही क्या लाभ है ?

साधुओं की उपकार करने की वृत्ति जब हानि करने वाले व्यक्ति के प्रति भी स्वभाविक है, तब अपने भक्त जनके लिये कहना ही क्या है ।" इति

मैत्रेयीवचनमिदमुपश्रुत्यातिप्रमोदमवाप याज्ञवल्क्यः, मन्दस्मितविकसितञ्चाभूत्तस्य मुखम्। अहो! दृष्टानुश्राविकविषयेषु देवानामपिदुर्लभं भामिन्या वैराग्यम्। तीव्रामात्मतत्त्वजिज्ञासां दृष्ट्वा स तुष्टीभूय तस्यै तत्त्वमुपदेष्टुमारभते स्म।

"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भव-

मैत्रेयी के इस वचन को सुन कर याज्ञवल्क्य ने अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त किया। ईषत् हास्य से उनका मुख खिल उठा। आश्चर्यकी बात है कि लौकिक तथा पारलौलिक विषयों से देव-दुर्लभ वैराग्य इस बुद्धिमती स्त्री को प्राप्त है। आत्म-तत्त्व की तीव्र जिज्ञासा को देख कर उसने प्रसन्न हो कर उसे ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश देना आरम्भ किया।

"हे मैत्रेयि! पति की कामना-पूर्ति के लिये

त्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भव-
त्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भव-
न्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भव-

पति प्रिय नहीं होता है, अपनी कामना-पूर्ति के लिये पति प्रिय होता है।"

"हे मैत्रेयि! स्त्री की कामना-पूर्ति के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती है, अपनी कामना-पूर्ति के लिये स्त्री प्रिय होती है।"

"हे मैत्रेयि! पुत्रोंकी कामना-पूर्ति के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते हैं, अपनी कामना-पूर्ति के लिये पुत्र प्रिय होते हैं।"

हे मैत्रेयि! सबकी कामना-पूर्ति के लिये सब

त्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥"

एवं पतिर्जाया पुत्रा वित्तमित्यादयः सर्वेऽपि विषया आत्मार्थं प्रियाः, आत्मा तु निरुपाधिकः प्रियः । तस्मात्

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

इत्युपदिश्य मुनिरुपरराम ।

प्रिय नहीं हैं अपनी कामना-पूर्ति के लिये सब प्रिय मालूम पड़ते हैं ।"

इस प्रकार पति, स्त्री धन आदि समस्त विषय आत्माके लिये प्रिय होते हैं और आत्मा तो किसी प्रकारकी उपाधि (सहारा) के बिना ही प्रिय है । इस लिये "आत्मा का ज्ञान करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन (सदा भावना) करना चाहिये ।" यह उपदेश दे कर ऋषि शान्त हो गये ।

एवमनतिशयप्रेमास्पदत्वादनतिशयानन्दस्वरूप आत्मेति शतशः श्रुतिस्मृतिन्यायवादाः प्रवृत्ताः। तथा च सच्चिदानन्दरूपत्वमात्मनः स्वरूपलक्षणमिति विद्धि। प्रतिक्षणपरिणामिन्यस्मिन् शरीरेऽपरिणामितया कूटस्थरूपेण यो वर्तते, स आत्मा। जन्मनः प्राक् ततः पश्चात् बाल्ये कौमारे यौवने वा-

---

इस प्रकार असीम प्रेमके अवलम्ब होनेके कारण आत्मा असीम आनन्द स्वरूप है इसके प्रमाण में सैकड़ों श्रुति-स्मृति नीतिके वचन उपलब्ध हैं। इस तरह आत्मा का जो सच्चिदानन्द रूप है वह स्वरूप लक्षण है यह जानो। प्रति क्षण इस परिवर्त्तनशील शरीरमें जो परिवर्तन-शून्य कूटस्थरूपसे (अविकृत रूपसे) विद्यमान रहता है वह आत्मा है। जन्मके पूर्व और पश्चात् बाल्य, कौमार, यौवन और वृद्धावस्थामें

र्द्धक्ये च मरणादूदूर्ध्वञ्च शरीरस्य, शरीरवदव-स्थान्तरमप्राप्यैवैकरसो योऽवतिष्ठते स आ-त्मा। तर्हि कथं न दृश्यते आत्मा शरीरवत् सर्वैरिति चेदत्यल्पमिदमुच्यते। आकाशादपि सूक्ष्मतरत्वान्निर्गुणत्वादतीन्द्रियत्वान्न कस्यापीन्द्रियस्य गोचरो भवत्यात्मा।

यदुक्तम्—

शरीरकी मृत्युके बाद भी शरीर की तरह दूसरी अवस्था को प्राप्त नहीं कर के ही जो एकरस हो कर अवस्थित रहता है वह आत्मा है। ऐसा होने पर शरीर की तरह आत्मा सब से दृष्ट क्यों नहीं होता है यह प्रश्न साधारण है क्योंकि आकाश से भी सूक्ष्म होने निर्गुण होने और अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण आत्मा किसी इन्द्रियका विषय नहीं होता है। वैसा कहा गया है—

"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदंश्रुतम् ।

"जो वाणी के द्वारा कथित नहीं होता है, जिसके द्वारा वाणी अपने व्यापार करने में समर्थ होती है।

मन-बुद्धि रूप अन्तःकरण के द्वारा कोई भी पुरुष जिसको नहीं जानता है, जिसके द्वारा मन-बुद्धि रूप अन्तःकरण अपने कार्य करने में समर्थ होता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वारा कोई भी पुरुष जिसको नहीं सुनता है, जिसके द्वारा श्रोत्र इन्द्रिय अपने कार्य करने में क्षम (समर्थ) होता है।

प्राण-अपान आदि पञ्च प्राणों के द्वारा जो जीवित नहीं रहता है। पञ्च प्राण जिसके द्वारा

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥"

इति "केन०"

एवमक्षैरन्तःकरणेन चात्मनोऽगृह्यमाणत्वेऽपि न स नास्तीति । अस्त्येव सः । कथम् ?

"येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।

शरीर धारण रूप अपने व्यापार करने में समर्थ होते हैं वही ब्रह्म है ।" इति "केन०"

इस प्रकार समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण से ज्ञेय नहीं होने पर भी वह नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है । वह विद्यमान ही है । क्योंकि-

"समस्त लोक जिस ज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन अर्थात् परस्पर संयोग से उत्पन्न सुखानुभव को अच्छी-तरह मालूम करता है । इस आत्मस्वरूपावस्थित मोक्षमें क्या ज्ञातव्य अवशिष्ट रह जाता है, कुछ

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वैतत्
"कठोपनिषत्"

इति श्रुत्युक्तरीत्या योऽस्मिन्देहे बुद्धि-गुहायामवस्थितः सन् बाह्यान् शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धादिवृत्तिभेदांस्तथाऽन्तरान् कामक्रोध-लोभभयादिवृत्तिभेदान् तदभावञ्च प्रकाशयति

भी नहीं अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है, नचिकेता के द्वारा जिज्ञासित वही विष्णुका यह परम पद है । "कठोपनिषत्"

इस श्रुतिके द्वारा कथित रीति से जो इस देह में बुद्धि रूप गुहा में अवस्थित हो कर बाह्य जो शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदि चित्त-वृत्ति के प्रभेद हैं तथा आन्तर जो काम,क्रोध,लोभ,भय आदि चित्त-वृत्ति के प्रभेद हैं उन सबको तथा उनके अभाव को जो प्रकाशित करता है वह

स आत्मा। सोऽस्त्येव। आत्मा दृश्यरूपेण न प्रकाशते। तथाऽप्रकाशमानोऽपि दृग्रूपेण स सदा स्वयं प्रकाशत एव। यथा नेत्रश्रोत्रादीनि स्वस्वविषयान् प्रकाशयन्ति परं तैस्तानि न प्रकाश्यन्ते, एवमात्मा दृग्रूपः सर्वमपि दृश्यजातं प्रकाशयन्नपि न तेन स दृश्यते,

---

आत्मा है, वह तो विद्यमान ही है। आत्मा दृश्य रूप से प्रकाशमान नहीं होता है। दृश्य रूपसे प्रकाशमान नहीं होने पर भी दृक् (ज्ञान) रूपसे सदा स्वयं प्रकाशमान रहता ही है। जैसे नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करती हैं किन्तु विषयोंसे इन्द्रियां प्रकाशित नहीं होती हैं। ऐसे ही दृक्रूप (ज्ञान रूप) आत्मा समस्त दृश्य वस्तुओं का प्रकाशक होता हुआ भी उन दृश्य वस्तुओं से प्रकाशित नहीं होता है। तो भी उसके अस्तित्व के अभाव की

तथापि तस्यासत्ता न शङ्कितुं योग्या।

किञ्च तूष्णीमवस्थायां सुषुप्तौ समाधौ च विक्षिप्तवृत्तेरभावात् स्वस्वरूपसुखरूपतया य आभाति स आत्मा। सोऽस्त्येव। अहो! यथा सुवर्णनिधेरुपरि गच्छन्तोऽपि जनास्तं निधिं न जानन्ति, तथाऽहरहः सुषुप्तौ सुखरूपमात्मानमनुभवन्तोऽपि मूढास्तं न जान-

---

आशंका नहीं की जा सकती है।

फिर भी शान्त सुषुप्ति (निद्रा) और समाधि अवस्था में चित्त की विक्षिप्त (परिवर्तन शील) वृत्ति के अभाव रहने से अपने स्वरूप के सुख रूप से जो भासित होता है वह आत्मा है। आश्चर्य की बात है कि जैसे सुवर्ण (सोने) की खानके ऊपर से चलते हुए भी मनुष्य उस खान को नहीं जानते हैं वैसे प्रति दिन सुषुप्ति (निद्रा) अवस्थामें सुखरूप आत्माका अनुभव करते हुए

न्तीति। प्रतिदिनं सर्वजनसाधारणतयाऽत्मानुभवेऽप्यात्माऽननुभवः प्रत्यपादि सानुक्रोशं छान्दोग्यश्रुत्या।

आत्मन एवमसङ्गसच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि मूढास्तन्न जानन्ति। अज्ञानेनासङ्ग आनन्दघने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे स्वात्मनि

भी अज्ञानी लोग उसे नहीं जानते हैं। प्रति दिन साधारण रूप से आत्मा के सार्वजनीन अनुभव रहने पर भी वास्तव रूप में आत्मा का वह अनुभव नहीं है इसका प्रतिपादन (कथन) छान्दोग्य श्रुति ने अच्छी तरह किया है।

इस प्रकार आत्मा के असङ्ग और सच्चिदानन्द स्वरूप होने पर भी अज्ञानी लोग उसे नहीं जानते हैं। असंग, आनन्दमय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, (चैतन्य) मुक्त स्वभाव वाले अपने

देहेन्द्रियमन आदीनि तद्धर्मान् स्थूलत्वकृशत्वबाधिरत्वान्धत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादींश्चाध्यस्यन्ति । तथा चाहं स्थूलः कृशो-बाधिरोऽन्धः कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखीति हन्त ! हन्ताभिमन्यन्ते च । अज्ञानमेव तत्र कारणं नान्यत् किञ्चिदिति विद्धि । अज्ञानं

आत्मामें अज्ञान से देह, इन्द्रिय, मन आदि और उनके धर्म—स्थूलता, कृशता, बधिरता, अन्धता, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदिका अध्यास (कल्पना) करते हैं। वैसा करके मैं स्थूल हूँ (मोटा) हूं, मैं कृश (पतला) हूं, मैं बधिर हूं, मैं अन्ध हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार की भी कल्पना करने लगते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है। उसका हेतु अज्ञान ही है, दूसरा कुछ नहीं है यह जानो। अज्ञान का क्या स्वरूप है यह सुनो।

किं स्वरूपमिति चेच्छृणु। भावरूपमानिर्वाच्यमज्ञानमिति जानीहि। अज्ञानमेव माया अविद्याऽव्यक्तं प्रकृतिरित्यादिशब्दैर्बहुभिर्व्यपदिश्यते।

तदुक्तम् :—

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति—
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया,

भावरूप अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण अज्ञान है यह जानो। अज्ञान ही माया, अविद्या, अव्यक्त, प्रकृति इत्यादि अनेक संज्ञाओं के द्वारा कहा जाता है। वैसा कहा गया है—

अव्यक्त नामकी परमात्मा की शक्ति है, वह सत्त्व-रज-तम रूप त्रिगुणात्मक अनादि अविद्या है, मूल प्रकृति है, बुद्धिमान् व्यक्ति उसके कार्य से ही उसका अनुमान कर सकते हैं, वही

यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्याभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गाह्युभयात्मिका नो,
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥" इति
"विवेकचूड़ामणिः"

माया है, जिससे यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।

वह सत् नहीं है, असत् भी नहीं है और उभयात्मक (सत्-असत् रूप) भी नहीं है। वह भिन्न नहीं है, अभिन्न भी नहीं है और उभयात्मक (भिन्न-अभिन्न रूप) भी नहीं है, वह अङ्ग-सहित नहीं है, अङ्ग-रहित भी नहीं है और उभयात्मक (साङ्ग-अनङ्ग) भी नहीं है। ऐसा अनिर्वचनीय (जो कहने में नहीं आवे) अत्यन्त विचित्र है॥" इति "विवेकचूड़ामणि"

अस्या अविद्यायाः कार्यभूत आत्माऽनात्मनोर्विरुद्धस्वभावयोरपीतरेतराध्यास एवानादिकालप्रवृत्तेः सर्वसंसारानर्थस्य हेतुः। अभ्रं महान्तं भास्वन्तमिव धूलीपटलञ्चाकाशमिवाथ शैवालञ्च जलमिवेयमविद्याऽऽत्मानमा-

---

इस अविद्या के द्वारा परस्पर विभिन्न स्वभाव वाले आत्मा और अनात्मा (चैतन्य-जड़) का परस्पर अध्यास हो जाता है अर्थात् दोनों आपस में एक दूसरे में अभिन्न रूप से अध्यस्त [कल्पित] हो जाते हैं, वही अध्यास अनादि काल से विद्यमान समस्त संसार स्वरूप अनर्थ का हेतु है। जैसे मेघ महान् सूर्य के तथा धूल-पुञ्ज आकाश के और शैवाल (जल में रहने वाला तृण विशेष) जल के आश्रय रह कर जीवित होता है और अपने-अपने आश्रय को ही विषय करता है अर्थात् उसे ही अच्छादित करता है, वैसे ही यह अविद्या भी आत्मा के आश्रित रह

श्रित्य जीवति, तमेव विषयी करोति च। अत-एवोक्तं श्रीसर्वज्ञमुनिभिः—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी,
निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो,

कर ही अपना अस्तित्व कायम रखती है और उसी आत्मा का आवरण करती है। अत एव श्री-सर्वज्ञ मुनि ने कहा है—

"जीव-ईश्वर-विभाग रहित चेतन अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय भी है। (जैसे गृह के आश्रित अन्धकार गृह को ही आच्छादित करता है, जीव न तो अज्ञान का आश्रय है और न विषय है, क्योंकि जीव का निर्माण अज्ञान से होता है और अज्ञान स्वतन्त्र नहीं रह सकता है, निराश्रय अज्ञान नहीं रहता है अतः प्रथम किसी के आश्रित अज्ञान हो, तब अज्ञान से जीवभाव सिद्ध हो) पूर्व सिद्ध अज्ञान का आश्रय

नाश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥" इति
"संक्षेपशारीरकम्"

तथा च स्वकीयया ऽवरणशक्त्या ऽत्मानमावृत्येतरया विक्षेपशक्त्या भूतभौतिकात्मकमिदं जगत्सृजाति सा रज्ज्वामिव भुजगम्। एवमविद्याया असङ्गे शुद्ध आत्मनि कार्यकरणात्मकस्य जगतः सर्जनमथवाऽविद्यया तत्र

या विषय उससे पश्चात् उत्पन्न जीव नहीं हो सकता है।" "संक्षेपशारीरक"

उस प्रकार से वह अविद्या (अज्ञान) अपनी आवरण शक्ति से आत्मा को आच्छादित कर के अपनी विक्षेप नाम की दूसरी शक्ति से भूत-भौतिकमय इस विश्व का निर्माण करती है, जैसे वह रज्जु में सर्प का निर्माण करती है। इस प्रकार संग-रहित, शुद्ध आत्मा में कार्य-कारण संघ रूप विश्व की उत्पत्ति अविद्या से है अथवा उस

तस्याध्यासः सर्वव्यवहारस्याहं ममेत्यादेर्मूलमिति जानीहि।

तदुक्तमध्यासभाष्ये—

"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभा-

---

शुद्ध आत्मा में उस विश्व का अध्यास (कल्पना) अविद्या से है, वह अध्यास 'मैं' 'मेरा' आदि समस्त व्यवहारों का मूल है यह जानो। वैसा अध्यास भाष्य में कहा गया है—

"विषय तथा विषयी (बाह्य तथा आन्तर पदार्थ) अर्थात् विषय (बाह्य विश्व) तथा विषयी (आन्तर आत्मा) ये दोनों पदार्थ 'तुम और हम' इन दो शब्दोंके द्वारा परिज्ञात होते हैं। ('तुम' शब्द से विश्व का 'हम' शब्द से आत्मा का परिज्ञान होता है) उक्त दोनों पदार्थ अन्धकार-प्रकाश की तरह आपस में बेमेल हैं, उन दोनों का पारस्परिक

वानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणाञ्चाध्यासः; तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाऽपि अन्योन्यास्मिन्नन्यो-

---

अभेद होना युक्ति-शून्य है अतः उनके अलग-अलग धर्मों का भी एक की दूसरे के साथ एकता नहीं बन सकती है इस लिये 'हम' इस ज्ञान के ज्ञेय चैतन्य आत्मारूप विषयी (आत्मा) में, 'तुम' इस ज्ञान के ज्ञेय विषय का और उसके धर्मों का अध्यास (कल्पना) तथा उसके विपरीत रूप से विषयी (आत्मा) का और उसके धर्मों का विषय में अध्यास (कल्पना) का मिथ्या होना यद्यपि युक्त है, तो भी एक में दूसरे के स्वरूप का और दूसरे के धर्मों का अर्थात् आत्मा और

न्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य—"अहमिदं" "ममेदमिति" नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।" इति

"अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवो-

विषय दोनों का और दोनों के धर्मों का परस्पर दोनों में, दोनोंके वास्तव स्वरूप के ज्ञान नहीं रहने से अध्यास कर के अत्यन्त विभिन्न दोनों धर्मियों का और दोनों के विभिन्न धर्मों का मिथ्या ज्ञान-निबन्धन सत्य और अनृत (मिथ्या) को मिला कर के 'मैं यह हूं' 'मेरा यह है' इस प्रकार यह नैसर्गिक लौकिक व्यवहार हो रहा है।" इति

"अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का जो ज्ञान है वह अध्यास है यह हम कह चुके हैं। जैसे कि—

चाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वाऽहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीबो बधिरोऽन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान् कामसङ्कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्।

पुत्र, स्त्री आदि के दुःखी या सुखी होने पर 'मैं ही दुःखी या सुखी हूं' इस रूप से बाहर के धर्मों का अपने में (आत्मा में) मनुष्य अध्यास करता है। वैसे देह के धर्मों का–जैसे मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं गौर हूं, मैं ठहरता हूं, मैं जाता हूं और मैं लांघता हूं आदि। वैसे इन्द्रिय के धर्मों का—जैसे मैं गूंगा हूं, मैं काण हूं, मैं नपुंसक हूं, मैं बधिर हूं, मैं अन्ध हूं इस रूप से आत्मा में अध्यास करता है। वैसे काम, संकल्प, संशय, निश्चय

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तञ्च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।" इति च

आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इस तरह 'अहं' प्रतीति-विशिष्ट अन्तःकरण का, अन्तःकरण के समस्त व्यापार के साक्षी प्रत्यक् आत्मा में अध्यास कर के और उसके विपरीत रूप से सर्व-साक्षी प्रत्यक् आत्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करता है। इस प्रकार प्रवाहरूप से अनादि और ज्ञान के उदय तक अनन्त (अविनाशी), कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संपादक मिथ्याज्ञान स्वरूप यह नैसर्गिक अध्यास सब लोगों के अनुभव सिद्ध है।

इममध्यासमन्तरेण शास्त्रीयो लौकिकश्च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः कोऽपि न सम्भवति। वस्तुतोऽविद्यमानं सद्विद्यमानमिव प्रतिभाति ग्राह्यग्राहकरूपमिदं जगदविद्यया। अहो! अविद्याया अघटितघटनापटीयस्त्वम्। सर्वोऽपिकर्तृकर्मक्रियाव्यवहारः प्रतीतिमात्रसत्ताको न वास्तविकः कथमपि किञ्चिदपि, वार्तमा-

---

बिना इस अध्यास के शास्त्रीय और लौकिक प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार कुछ भी सम्भव नहीं। ज्ञेय-ज्ञाता रूप यह जगत् वास्तव में अविद्यमान है किन्तु अविद्या के हेतु विद्यमान की तरह भासित होता है। अविद्या की असंभव को संभव कर देने की आश्चर्य क्षमता है। कर्त्ता-कर्म-क्रिया आदि का सारा व्यवहार प्रतीतिमात्र से है, किसी तरह कुछ भी वास्तविक नहीं है। आज-

निकचित्रचेष्टित (सिनेमा) वदथवा रज्जु-सर्पविसर्पणवदिति संग्रहतः सिद्धान्तं विद्धि।

एवं सर्वसंसारानर्थस्य बीजभूतं त्रिपुटी-व्यवहारप्रवर्तकामिममविद्यारूपमध्यासमात्मैक-त्वविद्यया विध्वंसय। अविद्या हि विद्ययैव विनाश्यते, नान्येन कर्मणा तपसा दानेन वा

कल के सिनेमा के चित्र के व्यापार की तरह अथवा रज्जु में सर्प की प्रतीति की तरह वास्तविक नहीं है इस सिद्धान्त को संक्षेप में ही तुम जान लो।

इस प्रकार समस्त संसार स्वरूप अनर्थ के बीज स्वरूप 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' इस प्रकार के त्रिपुटी व्यवहार का सम्पादक इस अज्ञानरूप अध्यास का, आत्मा के वास्तविक ज्ञान से विध्वंस करो। क्योंकि अज्ञान तो ज्ञान से ही विनष्ट होता है, किसी अन्य कर्म से, तपस्या से, दान से अथवा

प्रवचनेन बहुश्रुतेन मेधाबलेन वा। यस्य कस्यचिद्वा पदार्थस्याज्ञानं तज्ज्ञानेनैव विनिवर्तते, नान्येन यज्ञेन जपेन स्तोत्रेण कीर्तनेन, तीर्थाटनादिना वेति प्रसिद्धतरं लोके शास्त्रे च।

उक्तं हि नैष्कर्म्यसिद्धौ श्रीसुरेश्वराचार्यचरणैः-

"वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः।

प्रवचन से या शास्त्रों के अधिक श्रवण से अथवा बुद्धि-बल से वह नष्ट नहीं होता है। जिस किसी वस्तु का भी अज्ञान रहता है उसके ज्ञान से ही वह विनष्ट होता है, उससे भिन्न यज्ञसे, जपसे, स्तोत्र से, कीर्तन से या तीर्थाटन आदि से नष्ट नहीं होता है यह लोक में और शास्त्र में भी प्रसिद्ध है। नैष्कर्म्य सिद्धि में पूज्य श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

"वेद के अवसान वाक्य अर्थात् 'तत्त्वमसि'

दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलतः ॥"

इति।

अथ "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना"मित्यादिसूत्रयता श्रीजैमिनिनाऽन्यैश्च तदनुवर्तिभिर्यदुक्तं वेदस्यानर्थक्यं क्रियार्थत्वेऽथान्यच्च कर्मभ्यः कैवल्यमित्यादि

आदि महावाक्यों से उत्पन्न ज्ञानरूपी अग्नि जीवात्मा के मोह को जला डालती है। कर्म नहीं जलाता है क्योंकि कर्म तो मोह के प्रतिकूल नहीं है।" इति

"कर्म काण्ड के लिये वेद की प्रवृत्ति है अतः वेद के जो कर्म-बोधक वाक्य नहीं हैं वे व्यर्थ हैं" इत्यादि सूत्र के द्वारा श्रीजैमिनि ने और उनके अनुगामी लोगों ने जो यह कहा कि—वेद के कर्म-बोधक होने के कारण उसके अतिरिक्त वेद वचन अनर्थक (व्यर्थ) हैं और कर्म कलाप से भिन्न मोक्ष

"असदर्थप्रलापोऽय"मिति तैरेव तत्र तद्दूषितमिति विजानीहि। अतो वेदावसानवाक्योत्थया आत्मैकत्वविद्ययेमामनादिकालप्रवर्तमानामविद्यामाशु विनाशय। आत्मतत्त्वावधारणमेवाऽऽत्मैकत्वविद्या। प्रागुक्तैः श्रवणादिभिस्तामात्मविद्यां प्राप्नुहि। श्रवणादीनां नि-

---

है इत्यादि कथन असत् अर्थ का प्रलपन मात्र है। क्योंकि उस कथनको उन लोगों ने ही वहां दूषित कर दिया है यह जानो। इस लिये वेद के अन्तिम वाक्य अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न आत्मा के एकत्व ज्ञान से अनादि काल से प्रवृत्त इस अविद्या का शीघ्र विनाश करो। आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निश्चित रूप से ज्ञान करना ही आत्मा का एकत्व ज्ञान है। पूर्व कथित श्रवण आदि के द्वारा आत्म-विद्या (आत्मा का एकत्व ज्ञान) प्राप्त करो। श्रवण आदि के निरन्तर

रन्तराभ्यासेन संशयभावनां विपरीतभावनाञ्च निवर्तय। यावत्संशयो विपर्ययश्च तावदात्म-निश्चयो न भवति, तस्मात्पुनः पुनः श्रवणेन प्रमाणगतं संशयं छिन्धि। सर्वेषां वेदान्तानामैदंपर्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मणीति निश्चिनु। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"त्यादिश्रुतिभ्यः सर्वेषां वेदानां परम्परया साक्षाद्वा ब्रह्मात्मनि

अभ्यास से सन्देह और विपर्यय (भ्रम) को दूर करो। जब तक संशय और भ्रम रहेगा तब तक आत्मा का निश्चय नहीं होता है, इस लिये बार-म्बार श्रवण के द्वारा प्रमाण स्वरूप शास्त्र के विषय में सन्देह को दूर करो। समस्त वेदान्तों का तात्पर्य प्रत्यक् स्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म में ही है यह निश्चय करो। "संपूर्ण वेदान्त शास्त्र जिस पद का कथन करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से समस्त वेदान्तों की साक्षात् परम्परा से ब्रह्मरूप आत्मा

समन्वय इति सम्यगवधारय। तथा वेदान्तवाक्यैरवधारितस्य तस्यार्थस्य मननेन प्रमेयगतं संशयं भिन्धि। अथ तस्य निदिध्यासनेन च कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपां विपरीतबुद्धिं विनाशय।

एवमसकृदनुष्ठीयमानैः श्रवणादिभिः संशयादिभावनामपनीय दृढतरामात्मविद्यां

में ही एकवाक्यता है यह सम्यक् रूप से निश्चय करो। वैसे वेदान्त वाक्यों के द्वारा निर्णीत उस अर्थ के मनन से प्रमेय (ज्ञातव्य) स्वरूप ब्रह्म के विषय में सन्देह को दूर करो। तब उसके निदिध्यासन से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि की विपरीत बुद्धि को प्रनष्ट करो।

इस प्रकार बारम्बार अनुष्ठित श्रवण आदि साधनों के द्वारा संशय आदि की भावना को हटा कर सुदृढ़ आत्म विद्या को प्राप्त कर के पूर्व कथित

प्राप्य पूर्वोक्तमध्यासं समूलमपाकुरु ।

त्वं तु स्वरूपतोऽकर्त्ताऽसि, अभोक्ताऽसि, अशरीरोऽसि, अनिन्द्रियोऽसि, सुखदुःखादिरहितोऽसि, शोकमोहादिषडूर्मिरहितोऽसि, एवं त्वं वस्तुतोऽसंसार्यसि । तथाऽपि हन्त ! हन्त ! रे चित्त ! त्वमविद्यया संसारित्वमनुवर्तसे । स्वस्मिन्नविद्ययाऽध्यारोपितमिदं

अध्यास को मूल से नष्ट कर डालो ।

तुम तो स्वरूप से कर्त्ता नहीं हो, भोक्ता नहीं हो, शरीरधारी नहीं हो, इन्द्रिय वाले नहीं हो, सुख-दुःख आदि से रहित हो । शोक-मोह आदि छः लहरों से अलग हो । इस तरह वास्तव में तुम संसारी नहीं हो । हे चित्त ! तो भी तुम अविद्या से संसारी बनते हो यह बड़े आश्चर्य की बात है । अविद्या के द्वारा अपने में कल्पित इस संसार का संसार से परे ब्रह्म-

संसारित्वमसंसारिब्रह्मविद्ययैव समूलमुन्मूलनीयमित्यस्मिन्नर्थे सम्प्रदायविदा द्रविडाचार्येण प्रोक्तां भाष्यकारेणानूदिताञ्चेमामाख्यायिकां शृणु सावधानम् ।

"कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र एव मातापितृभ्यामपविद्धो व्याधगृहे संवर्धितः सोऽमुष्य वंशतामजानन् व्याधजातिप्रत्ययो व्याध-

---

विद्या के द्वारा समूल उच्छेद करना चाहिये इस विषय में वेदान्त संप्रदाय के वेत्ता द्रविडाचार्य से कथित और भाष्यकार से अनूदित (अनुवाद किया गया) इस कथा को सावधान हो कर सुनो।

"कोई राजपुत्र जन्म होते ही माता-पिता से परित्यक्त हो कर व्याध के घर में संवर्धित हुआ, वह उसके वंश को नहीं जानता हुआ व्याध जाति का निश्चय कर के व्याध जाति के कर्मों का अनु-

जातिकर्माण्यनुवर्तते। यदा पुनः कश्चित्पर-मकारुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति, न त्वं व्याधोऽमुष्य राज्ञः पुत्रः कथञ्चिद्व्याधगृहमनुप्रविष्ट इति। स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपितामहप्रपितामहाद्यनुगतामात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति।

सरण करने लगा। फिर जब कोई परम दयालु व्यक्ति राजपुत्र की राज्य-लक्ष्मी पानेकी योग्यता को जानते हुए उसकी पुत्रता का बोध कराते हैं कि तुम व्याध नहीं हो, तुम तो उस राजा के पुत्र हो, किसी कदर तुम व्याध के गृह में प्रविष्ट हुए हो; इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर के वह राजकुमार व्याध जाति के निश्चय से जो कर्म थे उन्हें छोड़ कर पिता, पितामह, प्रपितामह आदि से अनुगत 'मैं राजा हूं' इस प्रकार की अपनी पदवी का

तथा किलायं परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिवत् तज्जातिरेव विभक्त इह देहेन्द्रियादिगहने प्रविष्टोऽसंसारी सन्नपि देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते, देहेन्द्रियादिसंङ्घातोऽस्मि, कृशः स्थूलः सुखी दुःखीति परमात्मतामजानन्ना-

---

अनुसरण करने लगा। जैसे अग्नि के कण अग्नि से निकलते हैं किन्तु वे भी अग्नि जाति के हैं, वैसे ही यह आत्मा परमात्मा से विभक्त भी उसी जाति का है वह असंसारी भी आत्मा इस देह, इन्द्रिय रूप वन में प्रविष्ट हो कर देह, इन्द्रिय आदि संसार के धर्म का अनुसरण करता है कि देह, इन्द्रिय आदि पुञ्ज स्वरूप मैं हूं, अपने परमात्म स्वरूप को नहीं जानता हुआ "मैं कृश हूं, मैं स्थूल हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इस प्रकार अपने को देह-इन्द्रिय संघात समझता है।

त्मनः। न त्वमेतदात्मकः परमेव ब्रह्माऽस्य-संसारीति प्रतिबोधित आचार्येण हित्वैषणा-त्रयानुवृत्तिञ्च ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपद्यते।" इति

"बृहदारण्यकभाष्यम्"

एवं वस्तुतोऽसंसारिपरमात्मस्वरूपो जीवस्तथाऽपि देहेन्द्रियादिसङ्घातसम्बन्धेन परमात्मभिन्न इव संसारीव प्रतिभाति। परमात्मा

तुम इस प्रकार का नहीं हो, तुम असंसारी परब्रह्म ही हो, इस प्रकार आचार्य (गुरु) से ज्ञान प्राप्त व्यक्ति, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा के अनुसरण को छोड़ कर 'मैं ब्रह्म ही हूं' ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है।" "बृहदारण्यकभाष्य"

इस प्रकार वास्तव में असंसारी परमात्मा स्वरूप ही जीव है तो भी देह इन्द्रिय-संघात (समूह) के सम्बन्ध से परमात्मा से भिन्न की तरह संसारी की तरह प्रतिभासित होता है। पर-

जीवात्मेत्युपाधिनिमित्तको भेदो न पारमार्थिकः। तथाऽपि तदेकत्वमविद्यामोहिता न जानन्ति। अहं संसारी सुखी दुःखीत्यात्मानमभिमन्यन्ते च। अहो! अविद्याया बुद्धिभ्रामणचातुरी।

तत्त्वमसीत्याद्युपनिषद्गतमहावाक्यानां सम्यग्विचारेणैममविद्यामोहमहिमानं विना-

---

मात्मा और जीवात्मा यह भेद उपाधि-कृत है वास्तव नहीं है, तो भी अविद्या से मोहित व्यक्ति उन दोनों की एकता को नहीं जानते हैं। मैं संसारी हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इस प्रकार अपने को मानते हैं। अविद्या का बुद्धि के भ्रम-सम्पादन कराने का चातुर्य आश्चर्य है।

'तत्त्वमसि' आदि उपनिषत् के महावाक्यों के सम्यक् विचार के द्वारा इस अविद्या-कृत मोह की महिमा को विनष्ट करो। यदि कहो कि महा-

शय । ननु महावाक्यं किमिति चेज्जीवपरयो-
रैक्यप्रतिपादकं वाक्यं महावाक्यमिति तल्ल-
क्षणं जानीहि । 'तत्त्वमसी'ति नवकृत्वः श्वेत-
केतुं प्रत्युद्दालकप्रतिबोधनरूपेण सामवेदा-
न्तर्गतच्छान्दोग्योपनिषदुपादिशति । तत्र मा-
याशबलं सर्वेश्वरं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमदपरतन्त्र-
मसंसारि जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृ ब्रह्म तत्प-

वाक्य क्या है ? तो जीवात्मा-परमात्मा की एकता-
बोधक जो वाक्य है वह महावाक्य है यह महा-
वाक्य का लक्षण जानो । 'तत्त्वमसि' यह नौ बार
श्वेतकेतु के प्रति उद्दालक मुनि प्रतिबोध कराने के
लिये सामवेद स्थित छान्दोग्य-उपनिषत्‌का उपदेश
करते हैं । वहां मायारूप उपाधि वाला सर्वेश्वर,
सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, असंसारी, जगत
की सृष्टि, पालन और नाश करने वाला ब्रह्म

देन कथ्यते। देहेन्द्रियपञ्जरमद्ध्यबद्धोऽविद्याशबलोऽल्पज्ञोऽल्पशक्तिः संसारी परतन्त्रः श्रोता जीवस्त्वम्पदेनेर्यते। तयोरैक्यमसिपदेन बोध्यते। तथा चोपाधिविशिष्टौ परजीवौ तत्त्वम्पदयोर्वाच्यार्थौ। तयोस्तु परस्परवैलक्षण्यात्तेजस्तिमिरवदैक्यं न कथमपि सम्भ-

---

'तत्' पद से कहा जाता है। देह-इन्द्रिय रूप पिंजरे के अन्दर बद्ध, अविद्या रूप उपाधि वाला अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान्, संसारी, परतन्त्र, श्रोता, जीव 'त्वम्' पद से कहा जाता है। उन दोनों की अर्थात् उस ब्रह्म और जीव की एकता 'असि' पद से कहा जाता है। इस प्रकार उपाधि-विशिष्ट परमात्मा और जीवात्मा 'तत्' 'त्वम्' पद के वाच्य (अभिधेय) अर्थ होते हैं। उन दोनों की एकता तो अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर विरोध रहने से किसी प्रकार भी संभव नहीं है इस लिये

वि । तस्मात्तयोरुपाधी वैलक्षण्यहेतू मायाऽविद्ये परित्यज्य निरुपाधिके शुद्धे चैतन्यमात्रे गृह्येते लक्षणावृत्त्या । तथा च तयोः सलक्षणयोरैक्यं नासम्भवि । इयं लक्षणा खलु भागत्यागलक्षणेत्युच्यते । अनया भागत्यागलक्षणया 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यवत् 'तत्त्वमसी'ति वाक्यमपि परमात्मप्रत्यगात्म-

---

दोनों की उपाधि माया तथा अविद्या जो पारस्परिक विरोध के हेतु हैं उन दोनों उपाधियों को छोड़ कर लक्षणा शक्ति के द्वारा उपाधि-शून्य शुद्ध चैतन्य मात्र गृहीत होता है । उस प्रकार लक्षणा शक्ति से ज्ञेय होने से उन दोनों की एकता असंभव नहीं है । यह लक्षणा भागत्याग लक्षणा कही जाती है । इस भागत्याग लक्षणा से "वही यह देवदत्त है" इस वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी उपाधि-रहित परमात्मा और प्रत्यगात्मा

नोरुपाधिरहितयोरैकत्वमथवाऽखण्डसच्चिदानन्दं भेदत्रयविवर्जितं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म बोधयति। प्रत्यगभिन्नमेकमेवाद्वितीयमद्वैतं ब्रह्म तत्त्वमसीति महावाक्यस्यार्थ इति निष्कर्षः। संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो न सम्भवत्यस्मिन् वाक्ये। अखण्ड एव वाक्यार्थ इति

(जीवात्मा) की एकता का अथवा अखण्ड, सच्चिदानन्द, सजातीय-विजातीय-स्वगत इन तीनों भेदों से रहित प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न परब्रह्म का बोध कराता है। प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न एक ही, अद्वितीय, अद्वैत ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ है यह सारांश है। इस महावाक्य का संसर्ग (संबन्ध) या विशेषण-विशिष्ट वाक्यार्थ सम्भव नहीं है। अखण्ड (संसर्ग-विशेषण-शून्य) शुद्ध चेतन ही वाक्यार्थ है यह

विद्धि । एवं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यृग्वेदयजुर्वेदाथर्ववेदान्तर्गतानि महावाक्यान्यपि भागत्यागलक्षणयाऽखण्डसच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव तात्पर्येण बोधयन्ति ।

एवं वेदान्तगतमहावाक्यविचारेणाखण्डार्थनिश्चयं कुरु । स्वस्य कूटस्थब्रह्मरूपतामवेहि । स्वस्यासंसारितामशरीरतां षड्भाव-

---

जानो । इसी तरह 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' ये क्रमिक ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद-स्थित महावाक्य भी भागत्याग लक्षणा से अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म का ही तात्पर्य से कथन कर रहे हैं ।

इस प्रकार वेदान्त के महावाक्यों के विचार से अखण्ड अर्थ का निश्चय करो । अपनी कूटस्थ ब्रह्मरूपता को जानो । अपने असंसारित्व तथा

विकारशून्यताञ्चानुभव बाढम्। तथा चाहं-परस्माद्भिन्नः संसारी सुखी दुःखी जनिष्ये मरिष्यामीत्यादिभ्रान्तिमपनय।

उक्तं हि—

"यच्चकास्त्यनपरं परात्परं,
प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम्।

शरीर-शून्यता का और अस्तित्वशाली पदार्थमात्र के जो षट् विकार (अस्तित्व, जन्म, बृद्धि, रूपान्तर, ह्रास, नाश) होते हैं उन विकारों के आत्मा में अभाव का अच्छी तरह अनुभव करो। उस प्रकार विचार कर के 'मैं परमात्मा से भिन्न हूं, मैं संसारी हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं जन्म लूंगा, मैं मरूंगा आदि भ्रम को हटाओ। क्योंकि कहा गया है—

"जो परे से भी परे है जिससे परे और कोई भी नहीं है, जो प्रत्यक्, एकरस, सबका आत्मा-

सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं,
ब्रह्मतत्त्वमसि भावयात्मनि ॥" इति
"विवेकचूड़ामणिः"

उपाधिसम्बन्धादात्मनः संसारित्वमुपाधिविलयाच्चात्मनोऽसंसारित्वम् । तस्माद्विचारेणोपाधिं विलापय । उपाधिविलापनेन निरुपाधिकब्रह्मरूपो भव ।

स्वरूप तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है, अनन्त और अविकारी है वही ब्रह्म तुम हो ऐसी भावना अपने अन्तःकरण में करो ।" इति

"विवेकचूड़ामणि"

उपाधि के संबन्ध से आत्मा संसारी है और उपाधि के संबन्ध नहीं रहने से आत्मा संसारी नहीं है । इस लिये विचार से उपाधि का विनाश करो । उपाधि के विलीन होने से उपाधि-शून्य ब्रह्मरूप तुम हो जाओ ।

शरीरत्रयमात्मन उपाधिरिति जानीहि। शरीरत्रयसम्बन्धादात्मा सोपाधिकः संसारी भवति। स्थूलं सूक्ष्मं कारणमिति त्रीणि शरीराणि। स्थूलभूतकार्यमिदं दृश्यमानं भोगायतनं स्थूलशरीरमुच्यते।

"पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमान्वितम्।

तीन प्रकार का शरीर आत्मा की उपाधि है यह जानो। तीनों शरीरों के संबन्ध से आत्मा उपाधि-युक्त संसारी होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन शरीर हैं। आकाश आदि पञ्चभूतों के अर्थात् भूतों के पञ्चीकरण होने से उत्पन्न, सुख-दुःख भोग करने का घर, प्रत्यक्ष होने वाला यह शरीर स्थूल शरीर कहा जाता है।

"आकाश आदि पञ्चभूतों के अपञ्चीकृत स्वरूप से अर्थात् सूक्ष्म स्वरूप से उत्पन्न, पञ्च प्राण (प्राण-अपान-समान-व्यान-उदान) मन, बुद्धि और दश

अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥"

"आत्मबोधः"

इति सप्तदशतत्त्वात्मकं सूक्ष्मशरीरं वि-द्धि। अनादिरविद्या च कारणशरीरम्। इदं शरीरत्रयमेव पञ्चकोशात्मकतया तत्र तत्र वर्ण्यते। अन्नमयकोशात्मकं स्थूलशरीरम्।

इन्द्रियां (पञ्च कर्मेन्द्रिय—मुख, हस्त, पाद, मूत्रे-न्द्रिय, गुदा और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका) इन सब से युक्त भोग का साधन सूक्ष्म शरीर कहलाता है"।

"आत्मबोध"

इस प्रकार सतरह तत्त्व का सूक्ष्म शरीर जानो। अनादि जो अविद्या है वह कारण शरीर है, (क्योंकि स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों का वह कारण है) ये तीनों शरीर ही पञ्चकोश नाम से स्थान स्थान पर कहे गये हैं। स्थूल शरीर अन्नमय

प्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशात्मकं तु सूक्ष्मशरीरम् । आनन्दमयकोशात्मकञ्च कारणशरीरम् । एवं शरीरत्रयं पञ्चकोशात्मकं विद्धि। आत्मन्यारोपितमिदमुपाधिरूपं शरीरत्रयं विचारेण विलाप्य शरीरत्रयातीतो भव । शरीरसम्बन्धादेव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु त्रिषु धामसु विश्वतैजसप्राज्ञनाम्ना संक्रीडमानो नाना-

---

कोश है । प्राणमय कोश-मनोमय कोश-विज्ञानमय कोश स्वरूप सूक्ष्म शरीर है । आनन्दमय कोश स्वरूप कारण शरीर है । इस प्रकार तीनों शरीरों को पञ्चकोशात्मक जानो । आत्मा में कल्पित उपाधि स्वरूप इन तीनों शरीरों को दूर कर के तीनों शरीरों से अतीत (परे) हो जाओ । शरीर के सम्बन्ध से ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों धामों (अवस्थाओं) में क्रम से विश्व-तैजस-प्राज्ञ संज्ञाओं के द्वारा सम्यक् क्रीड़ा करता हुआ

रूपेण च नानाविधान्भोगान् भुञ्जानश्च जीवः संसारपथमनुवर्तमानो दृश्यते ।

तदुक्तं कैवल्यशाखायाम्—

"स एव मायापरिमोहितात्मा,
शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः,
स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥

अनेकानेक रूपों से अनेकानेक भोगों को भोगता हुआ जीवात्मा संसार-मार्ग का अनुसरण करता हुआ दृष्ट होता है । वैसा कैवल्यशाखा में कहा गया है--

"वही माया से मोहित हो शरीर धारण कर के सब कुछ करता है । वही जाग्रत् अवस्था में स्त्री, अन्न, पान आदि विचित्र भोगों से सम्यक् तृप्ति को प्राप्त करता है ।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता,
स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने,
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥" इति

तथा च शरीरत्रयसम्बन्धनिबन्धनमिदमवस्थात्रयमेव जीवस्य संसारः । अवस्थात्रया-

---

वही जीव स्वप्न अवस्था में अपनी माया से जीव-लोक की कल्पना कर के सुख दुःख का भोग करता है । वह सुषुप्ति अवस्था में समस्त संसार के विलीन हो जाने पर अज्ञान से आच्छन्न हो सुख रूप की प्राप्ति करता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने स्वरूप सुख का अनुभव करता है ।"
इति ।

उस प्रकार से उन तीनों शरीरों के संबन्ध होने के कारण जो ये तीनों अवस्थाएं होती हैं वही जीव का संसार है । तीनों अवस्थाओं से परे

तीतो भव । तुर्यावस्थामास्थितो भव। तुर्यमेव तव पारमार्थिकं स्वरूपम् । तथा च तुर्यावस्थावस्थानेन संसारातीतो भव ।

एवं शरीरत्रयमवस्थात्रयञ्चातिक्रम्य स्व-स्वरूपे नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आनन्दी भव। ब्रह्मात्मभूतात्मा सन् सर्वभूतात्मभूतात्मा भव ।

"अहंब्रह्मास्मिसर्वोऽस्मिशुद्धोबुद्धोऽस्म्यतःसदा।

हो जाओ । तुरीय (समाधि) अवस्था में स्थित रहो। तुरीय अवस्था ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप है। इस लिये तुरीय अवस्था की अवस्थिति से संसार से अतीत (परे) हो जाओ ।

इस प्रकार तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं का उल्लंघन कर के अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में आनन्द प्राप्त करो। तुम ब्रह्म रूप हो कर सर्व भूतमय बनो।

"मैं ब्रह्म हूं, मैं सर्वमय हूं, मैं शुद्ध, बुद्ध हूं

अजः सर्वत एवाहमजरश्चाक्षयोऽमृतः ॥
मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते ।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः"
"उपदेशसाहस्री"

इति सततं सादरं भावय । शिवोऽस्मि, शान्तोऽस्मि, नित्योऽस्मि, निरञ्जनोऽस्मि, अद्वयोऽस्मि, अविकारोऽस्मि इति च नितान्तं

अतः मैं सदा सब प्रकार से अजन्मा, अजर, अक्षय और अमृत रूप हूं । सर्वप्राणियों में मेरे सिवा बोद्धा (सबका ज्ञाता) कोई नहीं है । मैं कर्मों का द्रष्टा, साक्षी चेतन, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय हूं ।" "उपदेशसाहस्री"

आदर-पूर्वक सदा यह भावना करो। मैं शिव हूं, शान्त हूं, नित्य हूं, उपाधि-रहित हूं, अद्वितीय हूं और अविकारी हूं ऐसा सम्यक् चिन्तन करो ।

चिन्तय।

"आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते नहि॥
अहो! अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥
बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।

"आत्मा के अज्ञान से जगत भासित होता है, आत्मा के ज्ञान हो जाने से वह भासित नहीं होता है, जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्प भासित होता है और रज्जु के ज्ञान से सर्प भासित नहीं होता है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं अपने को ही नमस्कार करता हूं, विश्व में मेरे समान कोई दक्ष नहीं है कि जिसने बिना शरीर के संस्पर्श किये ही सदा इस विश्व का धारण किया है।

मैं ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, अज्ञान से मैंने

एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥"

"अष्टावक्रगीता"

इति च नितरां निर्विकल्पे पदे स्थितिं व्रज। सर्वदैव तत्त्वस्य चिन्तनं कथनमन्योऽन्यं तस्यैव प्रबोधनञ्च कुरु। एवं निरन्तरेण ज्ञानाभ्यासेनाज्ञानतत्कार्यबाधनेन ज्ञाननिष्ठां लभस्व, यां लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न

उपाधि की कल्पना की है, इस प्रकार के विमर्श करते हुए मेरी निर्विकल्प (उपाधि-शून्य) ब्रह्म में स्थिति हो जाती है।" "अष्टावक्रगीता"

इस तरह सुचारु रूप से निर्विकल्प पद की स्थिति प्राप्त करो। सदा ही तत्त्व का चिन्तन, परस्पर कथन, उसका ही प्रबोधन करो। इस प्रकार निरन्तर ज्ञान के अभ्यास से अज्ञान और अज्ञान के कार्य (विश्व)को बाधित कर के ज्ञान की निष्ठा (स्थिति) लाभ करो, जिसे लाभ कर मनुष्य

मन्यते मनुजः । ज्ञाननिष्ठया च जीवन्मुक्तो-भव । ज्ञाननिष्ठापरिपाकेन जगतो मिथ्यात्व-दर्शनदार्ढ्येन च निरिन्धनो वह्निरिव त्वं स्वय-मेव शान्तिमेधि ब्रह्मणि, महासमुद्रे लवणश-कलमिव च । तथा च सुदीर्घमेवं नितान्त-शान्तं निर्विकल्पं समाधिसुखमास्वादय । एवं क्रमशः—

उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता है । ज्ञान-निष्ठा से जीवन्मुक्त बनो । ज्ञान-निष्ठा के परि-पाक से और जगत के मिथ्यात्व-ज्ञान की दृढ़ता से इन्धन-रहित अग्नि की तरह तुम स्वयं ही ब्रह्म में शान्त हो जाओ अर्थात् ब्रह्ममय हो जाओ, जैसे महासमुद्र में लवण-खण्ड तन्मय हो जाता है । उस प्रकार से सुदीर्घ काल तक अतिशय शान्त निर्विकल्प समाधि-सुख का अनुभव करो । इस प्रकार क्रमशः—

"क्षीणायां वासनायां तु चेतो गलति सत्वरम्।
क्षीणायां शीतसन्तत्यां ब्रह्मन् हिमकणो यथा॥"

इति वासिष्ठादिष्टरीत्या वासनाजयेन चेतोनाशेन चोच्चां भूमिकामधिरुह्य तामधिवस। तथा च महाभाग्योदयं महादाक्ष्योदयं महोदयमात्मानमापादय।

"वासना के क्षीण हो जाने पर चित्त झट गल जाता है, हे ब्रह्मन्! शीत-पुञ्ज के क्षीण हो जाने पर जैसे हिम-कण (पाला का अंश) गल जाता है।"

इस प्रकार वशिष्ठ जी के द्वारा कथित रीति से वासना के जीतने और चित्त के क्षीण हो जाने से उच्च भूमिका को प्राप्त कर के उसमें तुम निवास करो। उस तरह से महाभाग्यशाली महाचतुर और महान् उदय- (वृद्धि) सम्पन्न अपने को बनाओ।

रे चित्त ! चिन्मये ब्रह्मणि नितरामेवं निमज्य चिन्मयं भव। वासनाधिक्यादेवं निमङ्क्तुमसमर्थश्चेत् सर्ववृत्तीनां हठतोनिरोधात्मकेन समाधियोगेन तथा कर्तुं प्रयत्नमाधत्स्व। विषयाकारवृत्तीः साहसेन निरुन्धि। तत्र खेदं मा कुरु। अखिन्नं भूत्वा टिट्टिभवद्-

अरे चित्त ! इस प्रकार चैतन्यमय ब्रह्म में अच्छी तरह निमग्न (लीन) हो कर चैतन्यमय हो जाओ। यदि वासनाओं की प्रचुरता से ऐसे तन्मय होने में तुम असमर्थ हो, तो समस्त चित्त-वृत्तियों का हठ-पूर्वक निरोध कर के योगाभ्यास की समाधि-प्रक्रिया से वैसा करने का प्रयत्न करो। साहस से विषय रूप चित्त-वृत्तियों का निरोध करो। उसमें खेद (ग्लानि) मत करो। खिन्न नहीं हो कर के टिट्टिभ (टिटिही

गुरुतरमुद्यमं कुरु।

"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥"

"माण्डूक्यकारिका"

इति संसूचितं टिट्टिभोपाख्यानमनुस्मृत्य धैर्यं धारय। नैरन्तर्येण तात्पर्येण चाभ्यासं कुरु। लयविक्षेपकषायरसास्वादाः समाधिप्रतिबन्धका

नाम का पक्षी) की तरह जी-तोड़ परिश्रम करो।

"कुश के अग्रभाग से एक एक बिन्दु के द्वारा जैसे समुद्र की वृद्धि होती है वैसे ही बिना खेद किये अभ्यास से मन का निग्रह (संयम) होता है।" "माण्डूक्योपनिषत्"

इस प्रकार से सूचित टिट्टिभ की कथा का स्मरण कर के धैर्य धारण करो। निरन्तर तत्परता से अभ्यास करो। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये दोष समाधि के प्रतिबन्धक हैं यह जानो।

इति विद्धि। समाध्यभ्यासकाले तदाक्रमणे सति उपायेन सहसा तदतिक्रमणं कुरु। तत्-परतन्त्रं मा भूः। यदि तत्परवशं स्याः, तर्हि महनीयं समाधिपदमधिरोढुं त्वं कदाऽपि न प्रभविष्यसि। ननु केनोपायेन तदतिक्रमणं स्यादिति चेच्छृणु गौड़पादीयं वचनम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।

समाधि के अभ्यास काल में उन लय आदि दोषों के आक्रमण होने पर उपाय के द्वारा बल-पूर्वक उन्हें दबा डालो। उनके अधीन न रहो। यदि उनके अधीन होगे तो अत्यन्त श्रेष्ठ समाधि के पद पर तुम कभी आरूढ़ नहीं हो सकोगे। यदि कहो कि किस उपाय से उसका उल्लंघन किया जाय तो गौड़पादाचार्य के वचन को सुनो—

"इस ज्ञान के अभ्यास और वैराग्य के द्वारा लय में अर्थात् सुषुप्ति में लीन चित्त को जगावे

सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नाऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

अर्थात् आत्मा के विवेक-ज्ञान से युक्त करे। फिर कामों के भोग के लिये विक्षिप्त चित्त को शान्त करे। (ऐसे बार बार अभ्यास करने वाले योगी का चित्त लय से जगाया गया और विषयों से निवृत्त किया गया और समभाव को भी नहीं प्राप्त, किन्तु मध्य अवस्था वाला है) तब वह कषाय (राग) दोष-युक्त है ऐसा जानना। जब चित्त समभाव की प्राप्ति के सम्मुख हो तब उस समभाव प्राप्त चित्त को विचलित नहीं करना चाहिये अर्थात् विषयों के संमुख नहीं करना चाहिये।

समाधि-अवस्था में जो सुख प्राप्त होता है उसमें योगी को आसक्त नहीं होना चाहिये किन्तु विवेक-युक्त बुद्धिसे उससे निःस्पृह रहना चाहिये। निश्चल हो कर भी जब कभी चित्त बाह्य विषय

निश्चलं निश्चराच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥" इति

एवं प्रतिबन्धकीभूतान् लयादीन् विजित्य वृत्तिनिरोधात्मकं समाधिपदमसम्प्रज्ञातमनिशमधिवस। तथा च नितरामुच्चतरां ज्ञानभूमिकामधिष्ठितं भव। अनेनास्पर्शयोगेन योगिदुर्दर्शेन सुयोगिनां भयनाशकेन कुयोगिनां तु भयजनकेन च जीवन्मुक्तेरनतिशय-

---

में निकलने लगे तब उसे समाधि रूप प्रयत्न से आत्मा में ही लवलीन करना चाहिये।" इति

इस तरह प्रतिबन्धक स्वरूप लय आदि को जीत करके वृत्ति-निरोध स्वरूप असंप्रज्ञात नाम के समाधि-पद में सदा आरूढ़ रहो। वैसे सुचारु रूप से ज्ञान की उच्चतर भूमिका पर आरूढ़ हो जाओ। योगी के भी दुर्ज्ञेय सम्यक् योग करने वालों के लिये भय-नाशक और विपरीत योग करने वालों के लिये भय-प्रद इस अस्पर्श स्वरूप

मनुपममतिमात्रसुकृतलभ्यञ्च विलक्षणं सुखं देवदुर्लभमुपलभस्व।

"स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तम"मिदमुपलभ्य नित्यनिर्वृतः कृतकृत्यो-भव। एवं नित्यनिरन्तरनिर्वासनानिर्वृत्तिक-निर्विकल्पकसमाधिसुखरूपोच्चतरभूमिकालाभ-पर्यन्तमभ्यासादुपरमं मा कार्षीः। ज्ञानी सन्न-

---

योग के द्वारा असीम, अनुपम और प्रचुर धर्म-लभ्य, देव-दुर्लभ सुख का लाभ करो।

"अपने में अवस्थित, शान्त, मोक्ष-युक्त, अकथनीय जो उत्तम सुख है" उसे प्राप्त कर के नित्य सुखी हो कर कृतकृत्य हो जाओ। इस प्रकार नित्य, निरन्तर, वासना-रहित, वृत्ति-रहित, विकल्प-रहित समाधि-सुखरूप उच्चतर भूमिका-लाभ पर्यन्त तुम अभ्यास से उपरति (निवृत्ति) मत करो। तुम ज्ञानी हो कर भी अहंकार नहीं

पि त्वमलं भावमकृत्वैवमुच्चोच्चतरभूमिकारोह-णार्थं पौनःपुन्येनाभ्यासपरो भव।

अथ चैतादृशोच्चतरभूमिकालाभस्तव भवतु मा वा भवतु, ज्ञानोदयबलादेव तव सर्वाणि कर्माणि समूलं विनाशमेष्यन्ति।

तदुक्तम्—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

करके क्रमिक उच्च-उच्चतर भूमिका के आरोहण करने के लिये बार बार अभ्यास करने में तत्पर रहो।

फिर भी इस प्रकार की भूमिका का लाभ तुम्हें हो अथवा नहीं भी हो किन्तु ज्ञान-उदय के प्रभाव से ही तुम्हारे सारे कर्म समूल विनष्ट हो जायंगे। वैसा कहा गया है—

"जो परे (मूल प्रकृति) है उसके भी परे अर्थात् सबके परे जो शुद्ध ब्रह्म है उस ब्रह्म के सम्यक्

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

इति "मुण्डक०"

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।"

इति च "भगवद्गीता"

आत्मैकत्वज्ञानमुदितं तदुदयसमकालमेव प्रज्वलितो ज्वलनः काष्ठानीव, प्रारब्धातिरिक्तानि सर्वाण्यपि कर्माणि भस्मसात्

ज्ञान होने पर हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, जीव के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।" इति "मुण्डक"

"हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है।"

इति च "भगवद्गीता"

उदय-प्राप्त आत्मा का एकत्व ज्ञान अपने उदय होते ही, प्रज्वलित अग्नि जैसे काष्ठों को जला डालती है वैसे ही प्रारब्ध के अलावे समस्त

कुरुते। प्रारब्धं तु भोगेनैव शाम्यति। तस्माज्ज्ञानोदयमात्रेण तस्य न नाशः। महाभागैर्महाबलैर्ब्रह्मनिष्ठवरिष्ठैरपि प्रारब्धं कर्म निवर्तयितुं न शक्यते। तस्मादुपभोगेनैव तत् क्षपय। यथाप्रारब्धं व्यवहर व्यवहारानुकूलं चेत्तव तत्। व्यवहारहेतुप्रारब्धभेदाज्ज्ञानिनां व्यवहारभेदः स्यात्। व्यवहारभेदेऽपि

कर्मों को भस्मसात् करता है। प्रारब्ध तो भोग करने से ही नष्ट होता है। इस लिये ज्ञान के उदयमात्र से उनका नाश नहीं होता है। महा भाग्यशाली महा बलशाली ब्रह्म-निष्ठ महा पुरुषों से भी प्रारब्ध कर्म निवृत्त नहीं किया जा सकता है। अतः उपभोग कर के ही उसे नष्ट करो। यदि वह कर्म तुम्हारे व्यवहार के अनुकूल हो तो उसका प्रारब्धानुसार व्यवहार करो। व्यवहार के हेतु जो प्रारब्ध हैं उनके भेद से ज्ञानियों के व्यवहार में भी भेद

न ज्ञानभेदः, ततश्च न मोक्षभेदः।

तदुक्तम्—

"प्रारब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥
स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा।

होता है अर्थात् एक ज्ञानी के व्यवहार से दूसरे ज्ञानी का व्यवहार भिन्न होता है किन्तु व्यवहार के भेद होने पर भी ज्ञान का भेद नहीं होता है और उससे मोक्ष का भी भेद नहीं होता है। वैसा कहा गया है—

"भिन्न भिन्न प्रारब्ध कर्मों के होने से ज्ञानियों का भी भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार होता है, इससे ज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों को भ्रम नहीं करना चाहिये।

अपने अपने कर्मों के अनुसार ज्ञानी लोग भी जैसे तैसे व्यवहार करें (उससे कुछ हानि नहीं

अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥"

इति "पञ्चदशी"

"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ ।
वसिष्ठः कर्मकर्त्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः ॥"

इति च

है) किन्तु समस्त ज्ञानियों का बोध (आत्मज्ञान) और मोक्ष समान है अर्थात् ज्ञान और मुक्ति की विभिन्नता किसी की नहीं है यही स्थिति है ।"

इति "पञ्चदशी"

कृष्ण भगवान् भोगी थे, सुखदेवजी त्यागी पुरुष थे, जनक तथा रामचन्द्र ये दोनों राजा थे और वसिष्ठजी कर्मकाण्डी थे, किन्तु ये पांचों समान ज्ञानी थे अर्थात् इन लोगों के प्रारब्धानुसार व्यवहार भिन्न भिन्न हैं किन्तु तत्त्व-ज्ञान में किसी का विभेद नहीं है, सबका ज्ञान समान है ।" इति च ।

तेषां व्यवहारैकरूप्यं न कदापि भवितुमर्हति कर्मनानात्वादेव । अनेकरूपमन्योन्यभिन्नं व्यवहारं विवेकं वा समाधिं वा कुर्वन्तु ते सर्वेऽपि ज्ञानिनः समा मुक्ताश्चेति बोद्धव्यम् ।

व्यवहारप्रधाना विवेकप्रधानाः समाधिप्रधानाश्चेति ज्ञानिनो जीवन्मुक्तास्त्रिविधा

हैं। अलग अलग कर्म रहने के हेतु से ही उन लोगों का एक प्रकार का व्यवहार कदापि नहीं हो सकता है। वे लोग अनेक प्रकार के परस्पर विभिन्न व्यवहार या विवेक अथवा समाधि करें किन्तु सबके सब समान ज्ञानी हैं और समान रूप से वे मुक्त हैं अर्थात् ज्ञानियों के ज्ञान और मोक्ष में विषमता नहीं है यह जानना चाहिये।

आचार्य ऋषियों ने जीवन्मुक्त ज्ञानियों का तीन प्रकार से विभाग किया है—व्यवहारप्रधान, विवेकप्रधान और समाधिप्रधान। व्यव-

विभज्यन्ते मुनिभिराचार्यैः। स्वस्वसंस्कारानुरूपमनेकरूपं व्यवहरन्ति व्यवहारिणः केचित्। सर्वत्र सर्वदा सम्यग्ब्रह्मवीक्षणपरा अन्ये जीवन्ति विवेकिनः। तथा चान्ये केचिन्नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठा वर्तन्ते। व्यवहारे विवेके समाधौ च कृतं कर्मैव कारणं कैवल्यभाजां ज्ञानिनामिति वस्तुगतिः। ब्रह्म-

---

हारप्रधान कुछ ज्ञानी लोग अपने अपने संस्कार के अनुसार अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं। दूसरे विवेकप्रधान ज्ञानी लोग सर्वत्र सदा ब्रह्मज्ञान में लवलीन रह कर जीवित रहते हैं और वैसे समाधिप्रधान कुछ ज्ञानी लोग नित्य निरन्तर समाधि में निष्ठाशील रह कर वर्तमान हैं। किया हुआ कर्म ही जीवन्मुक्त ज्ञानियों के व्यवहार का, विवेक का और समाधि का कारण होता है यही वस्तु-स्थिति है। ब्रह्म-ज्ञान से ज्ञान

विद्यया तत्समकालमेव ब्रह्मभावमुपगतानां प्रबुद्धानां कर्मणा वा समाधिना वा न किञ्चिदस्ति प्रयोजनं न वा हानिः ।

यथोक्तम्—

"न तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥"

इति "भगवद्गीता"

"समाधिना कर्मकदम्बकैर्वा,

के समकाल में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त ज्ञानी पुरुषों को कर्म से अथवा समाधि से कुछ भी प्रयोजन या हानि नहीं है। जैसा कहा गया है—

"ज्ञानी पुरुषों को कुछ करने से मतलब नहीं है, नहीं करने से भी कुछ मतलब नहीं है, समस्त भूतों में उसको किसी वस्तु का कुछ भी सहारा नहीं है।"

इति "भगवद्गीता"

"हे बदरीश भगवन्! समाधि से अथवा

बर्द्धेत हीयेत न तस्य किञ्चित् ।
विलासमात्रं बदरीश युष्मद्-
भक्तस्य कर्माण्यथवा समाधिः ॥"
इति च "श्रीबदरीशस्तोत्रम्"

तथा च प्रारब्धफलककर्मप्राबल्याल्लीलान्यायेन खलु तेषां तत्र प्रवृत्तिः । विक्षेपसमाधयः खलु मनसोऽवस्था भेदाः । इन्द्रियमनःसंस्पर्शशून्यानां ब्रह्मभूतानां तेषां विक्षेपसमाधिभिः कौ नाम हानिलाभौ ।

कर्म-पुञ्ज से भक्तजनका न तो कुछ बढ़ता है और न घटता है, कर्म या समाधि दोनों आपके भक्त के लिये विलासमात्र अर्थात् लीला मात्र हैं ।"
इति च "श्रीबदरीशस्तोत्र"

इस प्रकार प्रारब्ध-संपादक कर्म के अनुरोध से लीला रूप से ही उनकी उसमें प्रवृत्ति होती है। विक्षेप और समाधि ये दोनों ही मानसिक अवस्था विशेष हैं । इन्द्रिय और मनके स्पर्शसे शून्य ब्रह्मभावको प्राप्त उन ज्ञानियोंका विक्षेप और समाधिसे

उक्तं हि—

"विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः॥"

इति "पञ्चदशी"

एवं सत्यपि वस्तुतत्त्वे लोकसंग्रहार्थमवश्यं कर्म कर्तव्यं ज्ञानिभिरपि नोपरतवृत्तिभिर्भवितव्यं तैरिति केचित्। अथ स्वार्थं वा

हानि और लाभ क्या होते हैं। क्योंकि कहा है—

"जिस लिये मुझे (आत्मा को) विक्षेप नहीं होता है इस लिये मेरी समाधि भी नहीं है, विक्षेप अथवा समाधि ये दोनों अवस्थायें विकारी जो मन है उसके होते हैं।" इति "पञ्चदशी"

इस प्रकार की वस्तु-स्थिति रहने पर भी लोक-शिक्षा के लिये ज्ञानी पुरुषों को भी अवश्य कर्म करना ही चाहिये। कर्म करने से उन्हें निवृत्त नहीं होना चाहिये ऐसा भी कुछ लोगों का मत है।

परार्थं वा कर्म कर्तुं ज्ञानिनो नाधिकारिणः, अज्ञानिनः खलु तत्राधिकारिणः राग एव कर्मबीजं, स कदापि न विदुषां भवितुमर्हति, ततो न विद्वत्सु कस्यचिदपि कर्मणः प्रसक्तिः, ततश्च समाधिनिष्ठैः सर्वदा भवितव्यं तैरित्यन्ये । हन्त ! हन्त ! भ्रान्तिमूलकाविमौ द्वावपि पक्षाविति विजानीहि । "कर्म कुरु,

---

दूसरे लोगों का मत है कि अपने लिये या दूसरों के लिये कर्म करने के अधिकारी ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष नहीं है, ब्रह्म-ज्ञान से रहित व्यक्ति कर्म करने के अधिकारी हैं, कर्म का बीज राग है, ज्ञानी पुरुष को राग कभी नहीं रह सकता है इस लिये ज्ञानी पुरुषों को किसी प्रकार के भी कर्म करने का अवसर नहीं है अतः उन्हें सदा समाधि-निष्ठ रहना चाहिये । बड़े खेद की बात है कि ये दोनों पक्ष भ्रममूलक हैं, यह तुम जानो । 'कर्म करो' 'समाधि

समाधिं कुरु" इति ये नियमकिङ्करान् विदुषो विधित्सन्ति, ते हि नूनं शास्त्ररहस्यानभिज्ञा भ्रान्ताः। शास्त्रानुभवाविप्रकृष्टे स्खलिते पथि सञ्चरन्त्युभयवादिनोऽपि ते। तदुक्तम्—

"तत्त्वज्ञस्य तव प्रशान्तमनसः-
स्नानाशनादिक्रिया-
मात्रे गात्रविधारकेऽधिकृतिरि-

करो' इस प्रकार से ज्ञानी पुरुषों को जो नियमबद्ध करना चाहते हैं वे निश्चित रूप से शास्त्र के रहस्य से अनभिज्ञ भ्रान्त हैं। उक्त दोनों प्रकार के भी वे वक्ता शास्त्र के अनुभव से दूर हैं और स्खलित मार्ग पर हैं अर्थात् दोनों का कथन ठीक नहीं है। वैसा कहा गया है—

"प्रशान्त चित्त वाले तुझ तत्त्व ज्ञानी पुरुष के शरीर को कायम रखने वाले स्नान, भोजन आदि कर्म मात्र में अंधिकार है यह कोई कहते

त्येके वदन्तीतरे।
कार्यं कर्म जगद्धिताय सततं
तेनेति चात्र ब्रुवे,
द्वाभ्याञ्च स्खलितं यतो विधिरयं-
विज्ञे भवेन्नाज्ञवत्॥
बद्रीवल्लभ को विधिस्त्वयि दृढ़-
प्रज्ञं नियन्तुं प्रभुः,

हैं। अन्य लोग कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञानी को भी संसार की हित-कामना से कर्तव्य कर्म सदा करना चाहिये मैं इस विषय में कहता हूं कि दोनों गलती पर हैं क्योंकि अज्ञानी पुरुष की तरह यह विधान ज्ञानी पुरुष में लागू नहीं है।

हे बद्री-प्रिय! आप में निश्चल बुद्धि रखने वाले पुरुष के शासन करने में कौन विधि वचन लागू हो सकता है! अर्थात् कोई भी लागू नहीं

कर्माण्याचर तद्विधारयिषया
धन्यानि लोकस्य सः।
अश्रान्तं सुमहान्त्यथेह हिमवत्-
पार्श्वे जगद्विस्मरन्,
ध्याने मज्जतु वा समं द्वयमपि
स्वच्छन्दवृत्तिर्हि वित्"
इति "श्रीबदरीशस्तोत्रम्"

संस्कारवशात्कर्माणि वा समाधौ वा

होता है। लोगों के उद्धार करने की इच्छा से वह ग्लानि-रहित हो कर लोक-मान्य अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कर्मों का आचरण करें अथवा जगत को भूलते हुए यहां हिमालय पर्वत पर ध्यान में लीन रहें, दोनों ही समान हैं क्योंकि तत्त्व-ज्ञानी पुरुष किसी प्रकार के भी व्यापार करने में स्वतन्त्र हैं।"

इति "श्रीबदरीशस्तोत्र"

इस शरीर के पतन (विनाश) पर्यन्त ज्ञानी

यथारुचि देहपतनावधि प्रवर्तन्ते प्राज्ञाः। तान् तयोरन्यतरस्मिन्नियन्तुं न प्रभवति किमपि प्रमाणम्। निस्त्रैगुण्ये ब्रह्ममार्गे विचरतां महात्मनां को नाम विधिर्वा निषेधो वा। केनापि वा हेतुना कर्मकरणासमर्थं खलु ब्रह्मविदां शरीरमिति ये ब्रुवन्ति, तानुपहसन्ति चाचार्याः।

पुरुष तो संस्कारवश कर्म में अथवा समाधि में इच्छानुसार वर्तमान रहते हैं। उन दोनों में से किसीमें भी नियमपूर्वक ज्ञानियोंके प्रति व्यवहार करनेके लिये कुछ भी प्रमाण नहीं है। निस्त्रैगुण्य मार्ग पर विचरण करने वाले महात्माओं के लिये क्या विधि (कर्तव्य) है अथवा क्या निषेध (अकर्तव्य) है। ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष का शरीर किसी हेतु से कर्म करने में असमर्थ है यह जो कहते हैं उन्हें आचार्य लोग हंसते हैं।

"तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः।
तेषां प्रज्ञाऽति विशदा किं तेषां दुःशकं वद॥"

इति "पञ्चदशी"

"दृष्ट्वा दुःखशतं दयार्द्रितमना-
लोकस्य लोके भव-
त्तत्त्वज्ञोऽपि तमुद्दिधीर्षुरथचेत्
कुर्वीत कर्माश्रमम्।

"जो महा बुद्धिमान् पुरुष तत्त्व बोध को 'क्षयरोग' मानते हैं उनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण है, कहो उनके लिये दुःसाध्य क्या है।

इति "पञ्चदशी"

लोगों के संसार में होने वाले सैकड़ों दुःखों को देख दयार्द्र चित्त हो कर तत्त्व-ज्ञानी व्यक्ति भी उसके उद्धार करने की इच्छा करते हुए यदि कर्म करने के उपयुक्त आश्रम करें तो, हे बद्रीपते!

धन्यं धन्यमतीव तद्वरतमं-
धन्यस्य बद्रीपते ।
नो यद्यक्ष्माभवदीक्षणं हतबलं-
येनापटु स्याद्वपुः ॥"

इति च "श्रीबदरीशस्तोत्रम्"

ततश्च कर्मणि वा समाधौ वा यथेच्छं प्रवर्तन्तां प्राज्ञप्रवराः, न तत्र मोक्षसतत्त्वानां

उनका शरीर अत्यन्त धन्य है, धन्य से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है। तत्त्व-ज्ञान तो यक्ष्मा रोग नहीं है कि जिससे नेत्र तथा शरीर की शक्ति क्षीण हो कर वह कर्म करने में असमर्थ हो जाय।"

इति च "श्रीबदरीशस्तोत्र"

उस तरह के हेतु रहने से कर्म में अथवा समाधि में अपनी इच्छा के अनुसार तत्त्व-ज्ञानी पुरुष रहते हैं। उन मोक्ष-तत्त्व को प्राप्त करने

२१

तेषां कोऽपि नियमः, मोक्षार्थं न किञ्चिदपि तैरनुष्ठीयते, सकलमपि लीलाकैवल्यमेव तेषामनुष्ठानमिति राद्धान्तः ।

तथा त्वमपि ज्ञानवान् यथा स्वप्रारब्धं व्यवहृत्य वा समाधाय वा स्वकीयं कालं नय। रागद्वेषाभासौ पुरस्कृत्य व्यवहरन्नपि

वालों को उसमें कोई नियम नहीं है। उन तत्त्वज्ञानी पुरुष से मोक्ष के लिये किसी का अनुष्ठान नहीं किया जाता है। उनका अनुष्ठान तो सिर्फ लीला मात्र है यह सिद्धान्त है।

वैसे तुम भी तत्त्वज्ञानी हो, अपने प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार कर के अथवा समाधि कर के अपने काल को बिताओ। रागाभास तथा द्वेषाभास (दग्ध बीज की तरह जो अंकुर-जनक न हों ऐसे राग-द्वेष) को रख कर सांसारिक व्यवहार करते हुए भी तुम मोक्षभागी ही होते

त्वं मोक्षभागेव भवसि, नामोक्षभाक्। दृढौ रागद्वेषावेव संसारहेतू, नादृढावाभासरूपा-विति विद्धि।

तदुक्तं भगवता वसिष्ठेन—

"रागद्वेषभयादीनामनुकूलं चरन्नपि।
अन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥"

इति 'वासिष्ठम्'

हो, संसारी नहीं होते हो। दृढ़ जो राग और द्वेष हैं वे संसार के हेतु हैं, जो दृढ़ नहीं हैं वैसे आभास रूप राग-द्वेष संसार के हेतु नहीं हैं यह जान लो। भगवान वसिष्ठ ने वैसा कहा है—

"राग, द्वेष, भय आदि के अनुकूल आचरण करते हुए भी आकाश की तरह भीतर जो अत्यन्त निर्मल हैं वह जीवन्मुक्त कहे जाते हैं।"

इति "वासिष्ठ"

किञ्च महामहिमशालिनां जीवन्मुक्ता-नामपि यावज्जीवं रागद्वेषयोस्तन्निबन्धनस्य च व्यवहारस्य क्षयो न भवतीति सुविदितं पुराणवेदिनाम्। देहप्रहाणकालीनं वीतहव्य-मुनिवचनं यद्वसिष्ठेनैवोक्तं तदत्र दृष्टान्तरूप-मिदं शृणु—

"राग नीरागतां गच्छ द्वेष निर्दोषतां व्रज।

किन्तु महा प्रभावशाली जीवन्मुक्तों के भी जीवन पर्यन्त राग, द्वेष और तन्मूलक व्यवहार का क्षय नहीं होता है यह पुराण वेत्ताओं को भली भांति विदित है। देह के पतन समय का वीतहव्य मुनिका वचन जो वसिष्ठजी से ही कथित है वह यहां दृष्टान्त रूप से दिया गया है इसे सुनो—

"हे राग! तुम अब अपनी रागता अर्थात् राग रूपता का परित्याग करो। हे द्वेष! तुम भी

भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥"

इति "वासिष्ठम्"

एवं यथा कथमपि यथाप्रारब्धं जीवितशेषमतिवाह्य विमुक्तः सन् विदेहकैवल्यभाग्भव । प्रारब्धशेषपरिक्षये हि तव शरीरपरिक्षयः, ततश्चात्यन्तकी अशरीरमुक्तिः ।

अपनी द्वैषता अर्थात् द्वैषरूपता का परित्याग करो, इस संसार में आप दोनों के साथ मैंने बहुत समय तक खेल किया ।" इति "वासिष्ठ"

इस प्रकार जैसे तैसे प्रारब्ध के अनुसार जीवन के शेष भाग को बिता कर विशिष्ट रूप से मुक्त हो कर विदेह कैवल्य भागी बनो। प्रारब्ध से प्राप्त शरीर के नाश होने पर तुम्हारे शरीर का परिक्षय और तब आत्यन्तिक अशरीर मोक्ष अर्थात् बिना शरीरकी मुक्ति मिलेगी। इस शरीर

अस्य शरीरस्य तु परिक्षयेऽविद्याकामकर्मणा-
मभावात् पुनः शरीरग्रहणं तव न स्यात्।
तथा विदेहकैवल्येन साक्षाद्ब्रह्मभूतो भव।
संसारस्पर्शशून्यमानन्दघनं नित्यं निरतिशयं
पुनरावृत्तिरहितं स्थानमास्थाय तत्र स्वम-
हिम्नि नितरां विराजस्व, नितरां मोदस्व।
तदुक्तम्—

के क्षय होने पर अविद्या, कामना और कर्मों के अभाव हो जाने से तुम्हें शरीर का ग्रहण फिर नहीं करना पड़ेगा। उस प्रकार के विदेह कैवल्य से साक्षात् तुम ब्रह्म रूप बनो। संसार के संपर्क से शून्य आनन्द घन, नित्य, असीम, आवा-गमन-रहित स्थान को प्राप्त करके अपनी उस महिमा में सुचारु रूप से विराजमान रहो, खूब सुखी रहो। वैसा कहा गया है—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥"

इति "कठ०"

अथ ब्रह्मविद्यया निरस्ताविद्यानां ब्रह्मविदां किं लक्षणमिति चेच्छृणु । ब्रह्मविदां तु ब्रह्मवित्त्वं स्वसंवेद्यं, न परसंवेद्यमिति सि-

---

"हे गौतम ! जैसे पवित्र जल अर्थात् गंगाजल में मिला हुआ साधारण जल भी वैसा ही शुद्ध हो जाता है, वैसे आत्मतत्त्व के ज्ञाता मुनि का जीवात्मा भी परमात्मा में मिल कर परिशुद्ध हो जाता है।" इति "कठ०"

यदि कहो कि ब्रह्म-ज्ञान से जिनका अज्ञान विनष्ट हो गया है वैसे ब्रह्मवेत्ता का क्या लक्षण है तो सुनो । ब्रह्मवेत्ताओं का ब्रह्म-ज्ञान तो अपने आप जानने योग्य है, दूसरों के जानने योग्य नहीं

द्धान्तः । ब्रह्मविद्या, तत्प्रयुक्ता निर्वाणनिर्वृ-
तिश्च न शक्यते प्रत्यक्षयितुमन्यस्यान्येन ।
उक्तं हि—

"मोक्षो हि न परावेद्यो मध्वाद्यास्वादसौख्यवत्"

इति ।

तथाऽपि बाह्यैर्धर्मैराचरणैश्च कस्यचि-

है यह सिद्धान्त है । ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान-निबन्धन मोक्ष-सुख यह दूसरे का दूसरे के अनु-भव में आने योग्य नहीं है । कहा है—

"जैसे मधु (सहद) आदि के आस्वादन का सुखानुभव उसके आस्वादनकर्त्ता के सिवाय दूसरे को नहीं होता है वैसे ही मोक्ष रूप सुख भी मुक्त पुरुष के स्वज्ञेय है दूसरे के ज्ञेय नहीं होता है ।" इति

तो भी बाह्य धर्मों और आचरणों से अन्य

ज्ज्ञानमहिमाऽनुमीयतेऽन्येन। अत एवोक्तं श्रीभगवता भगवद्गीतासु—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥"

इत्यर्जुनप्रश्नस्योत्तरत्वेनास्थितप्रज्ञस्य ब्र-

लोग भी किसी की ज्ञान-महिमा का अनुमान कर लेते हैं। इस लिये श्रीभगवान ने भगवद्गीता में कहा हैं—

"हे केशव! समाधि में स्थित स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति की परिभाषा क्या है अर्थात् किसे स्थित-प्रज्ञ कहते हैं, स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति का भाषण क्या है, उनका बैठना और चलना कैसा है अर्थात् स्थितप्रज्ञ का समस्त व्यवहार कैसा होता है।"

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न के समाधान रूप में ब्रह्मवेत्ता स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का लक्षण कहा

ह्यविदो लक्षणम्—

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

गया है—

"हे अर्जुन ! मनोगत समस्त कामनाओं का जब मनुष्य परित्याग कर देता है और अपने आप सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखों के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, सुखों में जो निःस्पृह रहता है, जिसे राग,द्वेष, भय और क्रोध नहीं हैं वह स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) ज्ञानी कहा जाता है ।

जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेह से रहित है, जो

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

इत्यादि

अथ तत्रैव निरूपिता ब्रह्मविदां स्वाभाविका गुणाः—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

सांसारिक सुख-दुःखों को प्राप्त करके न तो उससे खुश होता है और न तो उसका द्वेष करता है उसकी प्रज्ञा (ज्ञान) प्रतिष्ठित (स्थिर) है ।"

इत्यादि

ब्रह्मवेत्ताओं के स्वाभाविक गुण का वहां पर ही निरूपण किया गया है–

"मान का परित्याग, दम्भ का परित्याग, हिंसा का परित्याग, क्षमा, विनम्रता, आचार्य की उपासना, शरीर और मन की पवित्रता, स्थिरता,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥"

इत्यादयः

अथ गुणातीतस्य लक्षणञ्च तत्रैवोपन्यस्तम्—

मन का संयम, विषयों से इन्द्रियों का वैराग्य, अहंकार का अभाव और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, व्याधि स्वरूप दुःख रूपी दोषों का अनुस्मरण। पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आसक्ति और स्नेह नहीं रखना, अभिलषित वस्तु की प्राप्ति या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति दोनों में सदा समान चित्त रखना।" इत्यादि

इसके बाद गुणों से जो परे हैं उनका भी लक्षण वहीं पर कहा गया है—

"प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।

"हे अर्जुन! सत्त्व-रज-तम इनके कार्यभूत ज्ञान-प्रवृत्ति-मोह के उपस्थित होने पर जो द्वेष नहीं करते हैं और उनके उपस्थित नहीं होने से उनकी आकांक्षा भी नहीं करते हैं।

उदासीन की तरह बैठा हुआ सत्त्व-रज-तम इन गुणों से जो विचलित नहीं होता है, उक्त गुण तो रहते ही हैं यह समझ कर जो स्थिर रहते हैं, अर्थात् गुणों से जो नहीं हिलते हैं।

दुःख-सुख दोनों में जो समान रहते हैं, जो आत्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। जिन्हें ढेला, पत्थर और सोना सब समान हैं। जिन्हें प्रिय

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥”

इत्यादि

अन्ततो दैवीसम्पत्तिश्च सुष्ठु सम्यगुपवर्णिता विमोक्षहेतुः—

“अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

और अप्रिय दोनों तुल्य हैं, जिन्हें निन्दा और अपनी स्तुति दोनों तुल्य हैं, जो धीर हैं।” इत्यादि

आखिर में मोक्ष का हेतु दैवी सम्पत्ति का भी सुचारुरूप से सम्यक् वर्णन किया गया है—

“निर्भय रहना, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान और निष्काम कर्म में अवस्थिति, दान, इन्द्रियों का निग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय (श्रुति-स्मृति का अध्ययन) तपस्या और नम्रभाव।

अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग,

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥"

एते भगवदुक्ता गुणा येषां स्वाभाविकाः खलु विद्यन्ते, ते ज्ञानिनो ब्रह्मनिष्ठा इत्यनुमीयते ।

शान्ति, पिशुनता (चुगलखोरी) का त्याग, प्राणियों में दया, विक्षेप का अभाव, कोमलता, लज्जा और चंचलता का परित्याग ।

तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर-मन की पवित्रता, द्रोह का परित्याग और अभिमान का त्याग । हे अर्जुन ! जिन्हें दैवी सम्पत् प्राप्त है उनके इतने गुण होते हैं ।" इति

भगवान से कथित इतने गुण जिनके स्वाभाविक रहते हैं वे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी हैं यह अनुमान किया जाता है । केवल भगवद्गीता में ही

न केवलं भगवद्गीतासु, अन्यास्वपि बह्वीषु स्मृतिषु श्रुतिषु चैवं तत्र तत्र ब्रह्मविल्लक्षणं सुष्ठु निरूपितमिति जानीहि। तथा त्वमपि रे चित्त! तत्तादृशब्रह्मविल्लक्षणलक्षितं भव क्षिप्रम्।

इति शम्।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्
ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण।

नहीं किन्तु अन्य बहुत सी स्मृति और श्रुतियों में भी स्थान स्थान पर ब्रह्म ज्ञानी पुरुष के लक्षण का विशद रूपसे निरूपण (कथन) किया गया है यह जानो। अरे चित्त! वैसे तुम भी शीघ्र ब्रह्मज्ञानी के उन लक्षणों से युक्त हो जाओ।

इति शुभम्।

यह अमृतरूप ब्रह्म ही पूर्व दिशा में है, ब्रह्म ही पश्चिम दिशा में है, दक्षिण दिशा तथा

अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
इति "मुण्डक०"

इति चित्तसंबोधने ज्ञानप्रकरणं समाप्तम् ॥



❀ शुभम् ❀



उत्तर दिशा में ब्रह्म ही है, ऊपर और नीचे फैला हुआ ब्रह्म ही है यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही विश्वरूप है। इति "मुण्डकोपनिषत्"

इति चित्तसम्बोधन समाप्त ॥



❀ शुभम् ❀



पं. गौरी दत्त गौड़

६८/१२ रानी भवानी गली

त्रिपुरा भैरवी

बनारस सिटी



…गजा लाल गौड़

अलोपी बाग शिव प्रसाद लोहे वाला

बहादुर गंज

इलाहाबाद

